स्वतंत्र भारत में राजनीति

कक्षा 12 के लिए राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक

© NCERT not to be republished

12122

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण

जून 2007 ज्येष्ठ 1929

पुनर्मुद्रण

जनवरी 2008 माघ 1929
मार्च 2009 फाल्गुन 1930
जनवरी 2010 माघ 1931
नवंबर 2010 कार्तिक 1932
मार्च 2013 फाल्गुन 1934
जनवरी 2014 माघ 1935
दिसम्बर 2014 पौष 1936
दिसम्बर 2015 पौष 1937
फ़रवरी 2017 माघ 1938
दिसंबर 2017 पौष 1939
जनवरी 2019 पौष 1940

PD 45T RSP

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2007

₹ ??.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन प्रभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 प्रकाशित तथा ______________

ISBN 81-7450-769-8

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलेक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन सी ई आर टी के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III इस्टेज
बैंगलूर 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग	:	*एम. सिराज अनवर*
मुख्य संपादक	:	*श्वेता उप्पल*
मुख्य व्यापार प्रबंधक	:	*गौतम गांगुली*
मुख्य उत्पादन अधिकारी	:	*अरुण चितकारा*
सहायक संपादक	:	*शशि चड्डा*
उत्पादन सहायक	:	*सुनील कुमार*

आवरण, सज्जा
श्वेता राव

चित्र
इरफ़ान

कार्टोग्राफी
एआरके ग्रॉफ़िक्स

© NCERT not to be republished

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक स्कूल और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नई राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास है। इस प्रयास में हर विषय को एक मज़बूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि स्कूलों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और अपने अनुभव पर विचार करने का कितना अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज़ादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गई सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूझकर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों व स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें।

ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितना वार्षिक कैलेण्डर के अमल में चुस्ती ताकि शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक बच्चों के स्कूली जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती है। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच-विचार और विस्मय, छोटे समूहों में विचार-विमर्श और ऐसी गतिविधियों को प्राथमिकता देती है जिन्हें करने के लिए व्यावहारिक अनुभवों की आवश्यकता होती है।

एन.सी.ई.आर.टी. इस पुस्तक की रचना के लिए बनाई गई पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के परिश्रम के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान सलाहकार समूह के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन और राजनीति विज्ञान पाठ्यपुस्तक समिति के मुख्य सलाहकार प्रोफ़ेसर सुहास पळशीकर, प्रोफ़ेसर योगेंद्र यादव तथा सलाहकार डॉ. उज्जवल कुमार सिंह का विशेष तौर पर आभारी है। इस पाठ्यपुस्तक के निर्माण में कई शिक्षकों ने योगदान दिया; इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री और सहयोगियों की मदद लेने में हमें उदारतापूर्वक सहयोग दिया। हम माध्यमिक

© NCERT not to be republished

एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रोफ़ेसर मृणाल मीरी एवं प्रोफ़ेसर जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनिटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं। व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित एन.सी.ई.आर.टी. टिप्पणियों व सुझावों का स्वागत करेगी जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नयी दिल्ली
20 दिसंबर 2006

© NCERT
not to be republished

पाठकों के नाम एक पत्र

हिंदुस्तान की आज़ादी और लोकतांत्रिक राजनीति ने अपने साठ साल पूरे कर लिए हैं। ऐसे में यह उचित ही है कि हम पीछे मुड़कर देखें और इस अवधि पर सोच-विचार करें। इन छह दशकों में हमारी राजनीति में कई प्रवृतियाँ उभरीं – हमारी राजनीति का रूप-विन्यास कई दफे बदला। इस क्रम में हमारी लोकतांत्रिक राजनीति की खूबियाँ और खामियाँ उजागर हुईं। लेकिन, यह सोचकर बड़ा आश्चर्य होता है कि अपने देश के नौज़वान नागरिक स्वतंत्र भारत की राजनीति के इतिहास के बारे में बड़ा कम जानते हैं। आपको आज़ादी के आंदोलन के बारे में अच्छी जानकारी हो गई होगी क्योंकि आपने इसके बारे में इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में पढ़ा है। मीडिया की खबरों से आप समकालीन राजनीति के बारे में भी थोड़ा-बहुत जानते हैं। लेकिन, आज़ादी के आंदोलन के बाद का जो दौर राजनीति के मौजूदा मुकाम तक पहुँचा है उसके बारे में बहुत कम नौज़वानों को ज़्यादा जानकारी होगी। यह किताब आज़ादी के आंदोलन और समकालीन राजनीति के बीच की इसी अवधि के बारे में आपसे बातें करती है। इस किताब में हमारे लोकतंत्र की पिछले साठ सालों की यात्रा की कथा कही गई है ताकि जिस राजनीतिक वास्तविकता के परिवेश में हम-सब जी रहे हैं, आप उसके अर्थ समझ सकें।

पिछले साठ सालों में जो घटनाएँ हुई हैं, उन सबका अथवा प्रमुख घटनाओं का ही इस किताब में कोई कालक्रमानुसार ब्यौरा नहीं दिया गया है। हमने पिछले साठ सालों के इतिहास को कुछ बड़े मसलों और विषयवस्तु के इर्द-गिर्द बुनने की कोशिश की है। इस किताब के शुरुआती आठ अध्यायों में भारतीय राजनीति की एक खास अवधि को समेटने की कोशिश की गई है लेकिन ऐसा करते हुए घटनाओं के चयन का ध्यान रखा गया है। किन्हीं सालों में जिस मसले अथवा प्रवृत्ति का ज़ोर ज़्यादा रहा हो, हमने उसी के इर्द-गिर्द घटनाओं का चयन किया है। आखिरी अध्याय में ऐसे कई मुद्दों पर एक सरसरी नज़र डाली गई है जो हाल-फिलहाल के सालों में उभरे हैं।

माना जाता है कि राजनीति सत्ता का शतरंज है जिसे कुछ बड़े नेता खेलते हैं। एक तरह से यह सही भी है कि राजनीति का सरोकार सत्ता से होता है। लेकिन राजनीति का आशय मिलजुल कर फ़ैसला करने, मतभेदों के बीच ताल-मेल बैठाने और सबकी रजामंदी हासिल करना भी होता है। इसी कारण अगर कोई सामूहिक मामला हो तो हम बगैर राजनीति के उसका निपटारा नहीं कर सकते। ठीक उसी तरह यह बात सच है कि बड़े नेता राजनीति के अमल पर असर डालते हैं लेकिन राजनीति किसी व्यक्ति की महत्वाकांक्षाओं और कुंठाओं के घेरे में कैद कोई कथा नहीं है – इसकी सरहद इससे बहुत आगे तक जाती है। इसी कारण, आप देखेंगे कि इस किताब में राजनीति की कथा के पात्रों पर खास ज़ोर नहीं दिया गया है। हाँ, आपको अलग-अलग पन्नों पर राजनेताओं के राजनीतिक जीवन से संबंधित कुछ प्रमुख सूचनाएँ ज़रूर मिल जाएँगी ताकि जिस दौर के बारे में आप पढ़ रहे हैं उसको भली-भाँति समझ सकें। बहरहाल, हमारी कत्तई यह मंशा नहीं कि आप जीवनीपरक इन सूचनाओं का रट्टा लगाएँ।

गुज़रे वक्त की एक जीवंत छवि आपके मन में कौंधे – इसके लिए हमने इस किताब में अनेक फोटोग्राफ्स, कार्टून, मानचित्र तथा अन्य तस्वीरें शामिल की हैं। राजनीति विज्ञान की पिछली किताबों की तरह इस बार भी आपकी भेंट 'उन्नी-मुन्नी' से होगी। इस बार भी वे आपके सामने अपने भोले मगर चोखे और चुभते सवालों-टिप्पणियों के साथ नमूदार होंगे। बहरहाल, अब तक आप जान गए होंगे कि 'उन्नी-मुन्नी' जो कुछ कह रहे हैं वह इस पाठ्यपुस्तक की आधिकारिक राय नहीं है। आप ही नहीं, संभव है, इस पाठ्यपुस्तक के लेखक भी 'उन्नी-मुन्नी' की बातों से असहमत हों। लेकिन, इन दोनों की तरह आपको भी हर चीज़ पर सवाल उठाना चाहिए।

© NCERT not to be republished

इस किताब में जिस दौर की चर्चा की गई है उसके कथा-नायकों अथवा किसी घटना पर कोई दो-टूक फ़ैसला सुनाने से परहेज़ किया गया है। किताब की मंशा आपको सूचनाओं और दृष्टिकोण से परिचित कराना है ताकि आप राजनीति विज्ञान के छात्र अथवा देश के नागरिक के रूप में राजनीति पर कहीं ज़्यादा सुचिन्तित और जानकारी भरा पक्ष ले सकें। इसी वजह से हमने यह कथा खुले ढंग से कही है और बातों को तटस्थ होकर लिखा है। यह कोई आसान काम नहीं था क्योंकि इस किस्म की किताब को लिखने में सारे 'विवादास्पद' मुद्दों को एक तरफ खिसकाकर नहीं चला जा सकता। किताब में जिस दौर की चर्चा की गई है उससे जुड़े कई अहम मुद्दों पर गहरे राजनीतिक मतभेद रहे हैं और अब भी बने हुए हैं।

इस किताब को जिस टोली ने तैयार किया है उसने विषय के साथ तटस्थता का बरताव करने के लिए कुछ कायदों का पालन किया। पहली बात तो यही कि किसी विवादास्पद मुद्दे पर लिखते हुए एक से ज़्यादा दृष्टिकोण दिए गए हैं। दूसरे, यथासंभव प्रामाणिक स्रोतों मसलन विभिन्न आयोगों की रिपोर्ट या अदालत के फ़ैसलों का इस्तेमाल किया गया है और इन स्रोतों के आधार पर महत्त्वपूर्ण ब्यौरों का खाका खींचा गया है। तीसरे, यह किताब स्वतंत्र भारत की राजनीति की कथा, विभिन्न सामग्रियों के आधार पर सुनाती है जिसमें अकादमिक लेखन से लेकर अखबार और पत्रिकाओं की कतरन तक शामिल है। चौथे, किताब में मौजूदा नेताओं की राजनीतिक भूमिका की विस्तृत चर्चा से परहेज़ किया गया है।

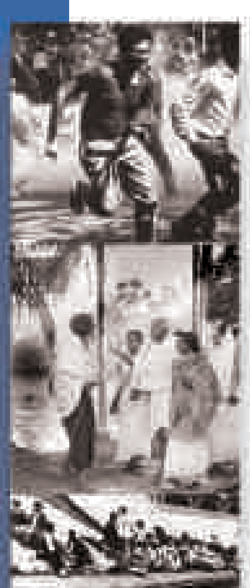

इस पाठ्यपुस्तक को लिखना खासतौर पर चुनौती भरा काम साबित हुआ क्योंकि हमारे पास विवेच्य अवधि पर पर्याप्त सूचनाएँ नहीं थीं। अधिकांश ऐतिहासिक सामग्री अब भी शोधकर्त्ताओं की पहुँच से बाहर हैं। इस दौर पर केंद्रित ऐसा मानक इतिहास लेखन भी ज़्यादा मौजूद नहीं कि उसके आधार पर किसी पाठ्यपुस्तक को तैयार किया जा सके। पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति ने इस चुनौती को एक संभावना के रूप में लिया। हम टोली के सदस्यों के कृतज्ञ हैं कि उन्होंने विभिन्न अध्यायों के प्रारूप लिखने के लिए अपना कीमती समय निकाला। जम्मू-कश्मीर और पंजाब से जुड़ी इस पुस्तक की पाठ्यसामग्री का प्रारूप तैयार करने के लिए हम क्रमश: प्रोफेसर रेखा चौधरी और सुरिंदर जोधका के कृतज्ञ हैं।

इस पुस्तक की पाठ्यसामग्री के महत्व और संवेदनशील प्रकृति को देखते हुए फ़ैसला किया गया था कि प्रारूप को राजनीति विज्ञानियों और इतिहासकारों की एक टोली कई दफे जाँचेगी। हमने ऐसे तीन 'पाठकों' – डा. रामचंद्र गुहा, प्रोफेसर सुनील खिलनानी और डा. महेश रंगराजन से इस पुस्तक के पूरे प्रारूप को पढ़ने का अनुरोध किया ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि विषयवस्तु के साथ पूरी तटस्थता बरती गई है और दी गई जानकारी सटीक है। हम इन तीन 'पाठकों' के कृतज्ञ हैं। इन्होंने हमारे अनुरोध को स्वीकार किया और अपना बेशकीमती वक्त निकालकर पूरे प्रारूप को पढ़ा तथा अपनी राय दी। इन तीनों की टिप्पणियों से हमारा उत्साह बढ़ा और इनके सुझावों की वज़ह से हम पुस्तक में कई गलतियों से बच सके। हम रामचंद्र गुहा के विशेष रूप से आभारी हैं। हमने उनकी पुस्तक 'इंडिया ऑफ्टर गाँधी' से भरपूर मदद ली है। डा. फिलिप ओल्डेनबर्ग ने भी इस पुस्तक के कई हिस्सों को पढ़ा और मूल्यवान टिप्पणी की। एक सौभाग्य यह भी रहा कि राष्ट्रीय निगरानी समिति की एक उप-समिति में प्रोफ़ेसर मृणाल मिरी, जी.पी. देशपांडे और गोपाल गुरू जैसे प्रसिद्ध विद्वान शामिल थे और इन्होंने इस किताब को कम से कम तीन दफे शुरू से लेकर आखिर तक पढ़ा। इस किताब को आद्योपांत पढ़ने और अपनी विस्तृत टिप्पणी देने के लिए हम राजनीति विज्ञानी टीना चक्रवर्ती के भी आभारी हैं। हम एनसीईआरटी के निदेशक प्रोफेसर कृष्ण कुमार और पाठ्यपुस्तक परामर्श समिति के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन को हृदय से आभार देना चाहते हैं। इन्होंने इस नाजुक काम में समय-समय पर हमें मशविरा दिया और मार्ग-दर्शन किया। हम प्रोफ़ेसर यशपाल के आभारी हैं कि उन्होंने इस पुस्तक में रुचि ली और अपना समर्थन दिया।

हम दिल्ली स्थित विकासशील समाज अध्ययन पीठ के 'लोकनीति कार्यक्रम' के आभारी हैं। इस पाठ्यपुस्तक की रचना के लिए ज़रूरी संसाधन को जुटाने और पुस्तक को तैयार करने के दौरान घर जैसा माहौल प्रदान करने में 'लोकनीति' ने कोई कसर नहीं रखी। विकासशील समाज अध्ययन पीठ से जुड़े उनके सदस्यों मसलन, लोकनीति के संजीर आलम, अविनाश झा, बालाजी मदीक, हिमांशु भट्टाचार्य और 'सराय' के रविकांत तथा मुहम्मद कुरैशी शामिल हैं, ने इस पुस्तक के निर्माण में भरपूर सहायता दी। हम डाक-टिकट संग्राहक विभाग के अधिकारियों, खासकर कावेरी बनर्जी और भारतीय डाक सेवा से संबद्ध नीरज कुमार और संध्या आर. कनेगंति के आभारी हैं। इन्होंने हमें बड़ी संख्या में डाक-टिकट उपलब्ध कराए और उन्हें छापने की अनुमति दी। हम इस पुस्तक की सामग्री के रूप में फिल्मों के चयन के क्रम मदद देने के लिए मिलिन्द चंपानरकर; कुछ महत्त्वपूर्ण जानकारियों के लिए राधिका मेनन; हिंदुस्तान टाइम्स फोटो लाइब्रेरी के समृद्ध संग्रह से जरूरी सामग्री जुटाने में मदद देने के लिए विपुल मुद्‌गल, रीतु और धर्मवीर; नई दुनिया के पुराने अंकों की प्रति उपलब्ध कराने के लिए भानु चौबे और अभय छजलानी; 'द हिन्दू' अखबार के पुस्तकालय से चित्र और खबरों की कतरन जुटाने में मददगार राजेन्द्र बाबू; यूनिवर्सिटी ऑव मिशिगन के पुस्तकालय तथा नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एंड लाइब्रेरी नई दिल्ली के अधिकारियों के आभारी हैं। पुस्तक को सुधारने में मिनि राय का सहयोग भी उल्लेखनीय है।

एलेक्स जार्ज, पंकज पुष्कर, के.के. कैलाश और एम. मनीषा इस किताब को तैयार करने में जुटी टोली के मेरूदंड साबित हुए। बात पुस्तकालयों और स्रोत-सामग्रियों के अन्य भंडारों को खंगालने की हो अथवा दृश्य-सामग्री जुटाने और तथ्यों की जाँच करने की, इस टोली ने हर काम को भरपूर लगन से अंजाम दिया। इन लोगों के बहुमुखी सहयोग और खासकर पंकज पुष्कर की अटूट कार्यनिष्ठा के बगैर यह पुस्तक इस शक्ल में मुकम्मल नहीं हो पाती। इस पुस्तक को हिंदी में लाते समय हमारा आग्रह था कि पुस्तक अनूदित होकर भी मूल का सा स्वाद दे। इस चुनौती को सामने रखकर पुस्तक को हिंदी में अनूदित करने का श्रमसाध्य कार्य चंदन श्रीवास्तव ने किया। इस संस्करण की तैयारी के लिए आयोजित एक कार्यशाला में नरेश गोस्वामी, राजेश कुमार यादव और मेधा ने भागीदारी की और अपनी विशेषज्ञता से कई चरणों में हमारा सहयोग किया। पाठगत अशुद्धियों को सुधारने में सहयोग देने के लिए हम नवनीत सहाय 'बेदार' और सैयद अज़फ़र अहसन के आभारी हैं। इस किताब को संवारने में उन्नी-मुन्नी के रचयिता इरफ़ान ख़ान, नक्शों और आरेखों के संयोजक एआरके ग्राफिक्स तथा पुस्तक की रूप-सज्जा की शिल्पी श्वेता राव का विशेष योगदान रहा। इन्होंने अपने कलाबोध से इस किताब को रंगो-आब दिया। हम इनके सहयोग के लिए आभार प्रकट करते हैं। कहना न होगा कि एनसीईआरटी की मुख्य संपादक श्वेता उप्पल ने इस पुस्तक की तैयारी में अटूट कर्तव्यनिष्ठा का परिचय दिया। हम उनके धैर्य और कार्य-कौशल के लिए आभारी हैं। पुस्तक की रूप सज्जा को सजाने-संवारने की प्रक्रिया में अरविंद शर्मा, उत्तम कुमार, दीप्ति शर्मा, अंजना बख्शी और शशी देवी ने पूरी लगन से साथ दिया। इस कार्य में रवि भंडारी, विक्रम सिंह रावत एवं योगेश कुमार भी हमारे सहयोगी रहे।

यह पुस्तक भारतीय लोकतंत्र की परिपक्वता के प्रति हमारा यह नम्र निवेदन है। देश के लोकतांत्रिक चिन्तन-मनन में चंद बातें और जुड़ें – यही इस पुस्तक का विनम्र प्रयास है। हमें पूरी उम्मीद है कि किताब को इसी जज़्बे से देखा-पढ़ा जाएगा और यह पुस्तक सिर्फ छात्रों के लिए ही नहीं बल्कि देश के अन्य नौज़वान नागरिकों के लिए भी उपयोगी साबित होगी।

उज्ज्वल कुमार सिंह
सलाहकार

सुहास पळशीकर और योगेन्द्र यादव
मुख्य सलाहकार

पढ़ने समझने के लिए कुछ और सामग्री...

अचिन विनायक. 1990. द *पेनफुल ट्रांजिशनः बुर्जुआ' जी डेमोक्रेसी इन इंडिया.* वरसो. लंदन और न्यूयार्क

नीरजा गोपाल जयाल (संपा.). 2001. *डेमोक्रेसी इन इंडिया.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

पार्थ चटर्जी (संपा.). 1997. *स्टेट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

प्रताप भानु मेहता. 2003. द बर्डेन ऑफ़ डेमोक्रेसी, पेंग्विन बुक्स, दिल्ली

पॉल आर. ब्रास. 1994 (द्वितीय संस्करण). द *पॉलिटिक्स ऑफ़ इंडिया सिंस इंडिपेंडेंस.* कैंब्रिज़ यूनिवर्सिटी प्रेस (भारत में फाउंडेशन बुक्स, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित)

बिपिन चंद्र, मृदुला मुखर्जी और आदित्य मुखर्जी. 2000. *इंडिया ऑफ्टर इंडिपेंडेंस (1947-2000).* पेंग्विन बुक्स, दिल्ली

रजनी कोठारी. 1950. *पॉलिटिक्स इन इंडिया.* ओरिएंट लाँगमैन, दिल्ली

रामचंद्र गुहा, 2007. इंडिया ऑफ्टर गाँधीः *हिस्ट्री ऑफ़ द वर्ल्ड्स् लार्जेस्ट डेमोक्रेसी.* पैन मैकमिलन, पिकाडोर, इंडिया, दिल्ली

सुदीप्त कविराज (संपा.). 1997. *पॉलिटिक्स इन इंडिया.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

सुनील खिलनानी. 2003. द *आइडिया ऑफ़ इंडिया.* पेंग्विन, लंदन

ग्रेनविल ऑस्टिन. 1999 *वर्कइंग ए डेमोक्रेटिक कान्सटीट्यूशन.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

फ्रेंकिन आर. फ्रेंकल. 2005. *इंडियाॅज़ पोलिटीकल इकोनॉमी* (1947-2004). ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

अभय कुमार दुबे (संपा). 2002. *लोकतंत्र के सात अध्याय,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

अभय कुमार दुबे (संपा). 2002. *आधुनिकता के आइने में दलित,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

अभय कुमार दुबे (संपा). 2003. *राजनीति की किताब,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

अभय कुमार दुबे (संपा). 2005. *बीच बहस में सेक्युलरवाद,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

अभय कुमार दुबे. 2003. *भारत का भूमण्डलीकरण,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

आशीष नंदी. 2005. *राष्ट्रवाद बनाम देशभक्ति,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

आशीष नंदी. 2005. *राष्ट्रवाद का अयोध्याकाण्ड,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

पवन कुमार वर्मा. *मध्यवर्ग की अजीब दास्तान,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

मधु किश्वर. 2005. *राष्ट्रवाद की चाकरी में धर्म,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

© NCERT not to be republished

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान सलाहकार समिति

हरि वासुदेवन, *प्रोफ़ेसर,* इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

मुख्य सलाहकार

सुहास पळशीकर, *प्रोफ़ेसर,* राजनीति एवं लोक प्रशासन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे
योगेंद्र यादव, *सीनियर फेलो,* विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली

सलाहकार

उज्ज्वल कुमार सिंह, *रीडर,* राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सदस्य

आदित्य निगम, *फेलो,* विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली
अखिल रंजन दत्त, *लेक्चरर* (राजनीति विज्ञान) गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी
एलेक्स जॉर्ज, *स्वतंत्र अनुसंधानकर्ता,* इरूवट्टी, केरल
अनुराधा सेन, *पूर्व प्रिंसिपल,* द सृजन स्कूल, नयी दिल्ली
भरणी दीक्षित, *फैकल्टी,* इंटरनेशनल एकेडमी ऑफ़ क्रिएटिव टीचिंग, बंगलोर
द्वैपायन भट्टाचार्य, *फेलो,* सीएसएसएस, कोलकाता।
कैलाश के. के., *लेक्चरर* (राजनीति विज्ञान), पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़
एम. मनीषा, *सीनियर लेक्चरर* (राजनीति विज्ञान), लॉरेटो कॉलेज, कोलकाता
मंजरी काटजू, *रीडर* (राजनीति विज्ञान), हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद
पंकज पुष्कर, *सीनियर लेक्चरर* (राजनीति विज्ञान), विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली
मल्ला वी.एस.वी. प्रसाद, *लेक्चरर* (राजनीति विज्ञान), सा.वि.मा.शि.वि., राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली
राजेश्वरी देशपांडे, *रीडर* (राजनीति विज्ञान), पुणे विश्वविद्यालय, पुणे
सजल नाग, *प्रोफ़ेसर* (इतिहास), असम विश्वविद्यालय, सिलचर
संदीप शास्त्री, *निदेशक,* इंटरनेशनल एकेडमी ऑफ़ क्रिएटिव टीचिंग, बंगलोर
शैलेन्द्र खरत, *लेक्चरर* (राजनीति विज्ञान), शिंडे सरकार कॉलेज, कोल्हापुर, महाराष्ट्र
श्रीलेखा मुखर्जी, *पी.जी.टी.,* सेंट पॉल स्कूल, नयी दिल्ली

हिंदी अनुवाद

चंदन कुमार श्रीवास्तव, *स्वतंत्र अनुसंधानकर्ता,* नयी दिल्ली
नरेश गोस्वामी, *स्वतंत्र अनुसंधानकर्ता,* नयी दिल्ली
मेधा, *स्वतंत्र पत्रकार एवं अनुसंधानकर्ता,* नयी दिल्ली
पंकज पुष्कर, *लोकनीति,* विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली

सदस्य-समन्वयक

संजय दुबे, *रीडर,* सा.वि.मा.शि.वि., राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली

© NCERT not to be republished

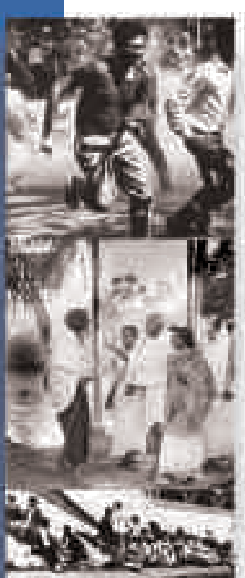

© NCERT not to be republished

अपनी राय ज़रूर दें

आपको यह किताब कैसी लगी? इसे पढ़ने या इसका प्रयोग करने का आपका अनुभव कैसा रहा? आपको इसमें क्या-क्या परेशानियाँ हुईं? पुस्तक के अगले संस्करण में आप इसमें क्या-क्या बदलाव चाहेंगे? इन सबके बारे में या किसी भी नए सुझाव के संबंध में हमें अवश्य लिखें। आप अध्यापक हों, अभिभावक हों, छात्र हों या सामान्य पाठक, हर कोई सलाह दे सकता है। किताबों में बदलाव की प्रक्रिया में आपके सुझाव अमूल्य हैं। हम हर सुझाव का सम्मान करते हैं।

कृपया हमें इस पते पर लिखें

समन्वयक (राजनीति विज्ञान)
सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी.
श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली-110 016

आभार

इस पुस्तक में इस्तेमाल किए गए विभिन्न डाक-टिकट, कार्टून, अख़बार की कतरन, तस्वीर तथा पाठांशों के लिए हम निम्नलिखित के आभारी हैं:

डाक-टिकट

इस पुस्तक में इस्तेमाल किए गए समस्त डाक-टिकटों के लिए डाक और तार विभाग (भारत सरकार) के द नेशनल फिलाटेली ब्यूरो के हम आभारी हैं।

कार्टून

पृष्ठ 18, 70, 71, 82, 85, 93, 98, 106, 109, 110, 114, 116, 119, 122, 124, 153, 169 और 174 पर अंकित आर.के. लक्ष्मण कृत कार्टून के लिए शंकर नारायणन और टाइम्स ऑफ इंडिया का; पृष्ठ 21, 22, 26, 28, 40, 56 और 62 पर अंकित शंकर कृत कार्टून के लिए चिल्ड्रंस बुक ट्रस्ट का; पृष्ठ 90, 95, 98 और 157 पर अंकित कुट्टी कृत कार्टून के लिए लाफिंग विद कुट्टी, फ्री प्रेस का; पृष्ठ 52 और 144 पर अंकित कार्टून के लिए सुधीर दर, सुधीर तैलंग और यूएनडीपी तथा प्लानिंग कमीशन का; पृष्ठ 103 पर अंकित अबु कृत कार्टून के लिए जानकी अब्राहम का; 122 पर अंकित अतनु राय कृत कार्टून के लिए इंडिया टुडे का; 192 पर अंकित कार्टून के लिए रवि शंकर का; 172 और 178 पर अंकित कार्टून के लिए अजीत नैनन का; पृष्ठ 166 पर अंकित रामबाबू माथुर कृत कार्टून और पृष्ठ 176 पर अंकित सुधीर तैलंग कृत कार्टून के लिए एचटी बुक्स ऑफ कार्टून का हम आभार व्यक्त करते हैं।

तस्वीर

पृष्ठ 2 और 13 पर अंकित तस्वीर के लिए सुनील जना का; पृष्ठ 7, 33, 136, 138 और 152 पर अंकित तस्वीर के लिए 'द हिन्दू' का; डीपीए/पीआईबी का पृष्ठ 9 और 17 पर अंकित कार्टून के लिए; पृष्ठ 49, 120, 128, 134 और कवर पृष्ठ पर अंकित कोलॉज के लिए हिन्दुस्तान टाइम्स का; पृष्ठ 3, 10 और 64 पर अंकित तस्वीर के लिए नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एंड लाइब्रेरी का; पृष्ठ 6, 7, 42 और 69 पर अंकित होमी वेयरवाला की तस्वीरों के लिए सबीना गडीहोक का; पृष्ठ 139 पर अंकित तस्वीर के लिए इंडिया टुडे का; पृष्ठ 86 और 166 पर अंकित तस्वीर के लिए रघु राय का, पृष्ठ 55 पर अंकित तस्वीर के लिए कुमारप्पा इंस्टीट्यूट ऑफ ग्राम स्वराज का; पृष्ठ 144 पर अंकित तस्वीर के लिए पंकज पुष्कर का; पृष्ठ 43 पर अंकित तस्वीर के लिए रॉबिन शॉ पुष्प/राजकमल का; पृष्ठ 141 पर अंकित तस्वीर के लिए नर्मदा बचाओ आंदोलन का तथा बैककवर पर अंकित तस्वीर के लिए आऊटलुक क्लासिक और www.thesouthasian.org का हम आभार व्यक्त करते हैं।

अखबार की कतरन

पृष्ठ 4, 51, 59, 69, 75, 77, 83, 95, 111, 154, 166, 181, 185 और 187 पर अंकित कतरनों (सभी 'हिस्ट्री इन द मेकिंग: 75 ईयर्स ऑफ द हिन्दुस्तान टाइम्स' से) के लिए 'द हिन्दुस्तान टाइम्स का; पृष्ठ 7, 75, 77, 110, 153, 156, 160, 161, 164 और 169 पर

© NCERT not to be republished

अंकित कतरनों के लिए टाइम्स ऑफ इंडिया का; पृष्ठ 32 और 33 पर अंकित कतरन तथा पृष्ठ 47 पर अंकित ख़बर के लिए 'द हिन्दू' का; पृष्ठ 33, 71, 102, 110, 111, 159, 166 और 181 पर अंकित कतरन के लिए नई दुनिया का; पृष्ठ 186 पर अंकित कतरन के लिए 'द पायोनियर' का; पृष्ठ 188 पर अंकित कतरन के लिए 'द इंडियन एक्सप्रेस' का हम आभार व्यक्त करते हैं।

पोस्टर/विज्ञापन

पृष्ठ 61, 71, 91, 111, 166, 173, 174 और 175 पर अंकित 'अमूल' के विज्ञापन के लिए जीसीएम एमएफ इंडिया का; पृष्ठ 131 और 140 पर अंकित पोस्टर के लिए डिज़ाइन एंड पी' पल का; पृष्ठ 133 पर अंकित पोस्टर के लिए अनहद/एनसीडीएचआर का; पृष्ठ 137 पर अंकित पोस्टर के लिए ज़ुबान का; 148 पर अंकित पोस्टर के लिए उत्तरांखड सांस्कृतिक मोर्चा का हम आभार व्यक्त करते हैं।

पाठांश, रिपोर्ट-अंश और पुस्तक

पृष्ठ 153, 179, 172, 417, 501 और 496 पर अंकित उद्धरण के लिए पहले आम चुनाव से संबंधित पीठासीन पदाधिकारी के कथ्य, इस चुनाव से संबद्ध अखबार और पत्रिकाओं के पाठांश तथा 'द गार्जियन' के अंश के लिए पैन मैक्मिलन एंड पिकाडोर इंडिया (2007) से प्रकाशित रामचंद्र गुहा कृत 'इंडिया आफ्टर गाँधी का; फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविता 'सुबह–ए–आज़ादी' के लिए राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित 'प्रतिनिधि कविताएँ' (1991) का; अमृता प्रीतम की कविता के लिए भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'प्रतिनिधि संकलन (1994) का; सआदत हसन मंटो की लघुकथा के लिए राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित मंटो की समग्र रचनावली का; फणीश्वरनाथ रेणु कृत 'मैला आँचल' और श्रीलाल शुक्ल कृत 'राग दरबारी' के अंश के लिए राजकमल प्रकाशन का; नामदेव ढ़साल की मराठी कविता के अंग्रेजी अनुवाद [अनुवाद–जयंत कर्वे एवं एलनोर ज़ेलिएट; मुल्क राज आनंद और एलनोर जेलिएट (संपादित); एन एंथोलॉजी ऑफ दलित लिटरेचर; नई दिल्ली, ज्ञान बुक्स, 1992] को हिन्दी में रूपान्तरित करने के लिए चंदन श्रीवास्तव का; रजनी कोठारी कृत 'पॉलिटिक्स इन इंडिया' के अंश के लिए ओरियंट एंड लॉन्गमैन (तीसरा संस्करण, दिल्ली) का; पार्थो चटर्जी द्वारा संपादित 'स्टेट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया' से उद्धत रजनी कोठारी (पृ–446) तथा डेविड बटलर, अशोक लाहिड़ी, प्रणव रॉय (पृ–448) अंश के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली का हम आभार व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार सूचना प्रसारण मंत्रालय (भारत सरकार) के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित 'जवाहर लाल नेहरू 'स्पीचेज' सितंबर 1957–अप्रैल 1961, खंड–4 का; फ्रैंकिन आर. फ्रैंकल कृत 'इंडिया पॉलिटिकल इकॉनामी (1947–2004) के अंश के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस का; जोया हसन कृत पार्टीज् एंड पार्टी पॉलिटिक्स इन इंडिया' (पृ–33–34) के अंश के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (2004) दिल्ली का; ए.एम. शाह द्वारा संपादित 'द ग्रासरूट ऑफ डेमोक्रेसी' में संकलित आनंद चक्रवर्ती कृत 'अ विलेज इन चोमू असेंबली कांस्टीट्यूएन्सी इन राजस्थान' के अंश के लिए परमानेन्ट ब्लैक, दिल्ली (2007) का हम आभार व्यक्त करते हैं। न्यायमूर्ति नानावती जाँच आयोग की रिपोर्ट, खंड–1, 2005, पृष्ठ 180; राष्ट्रीय मानवाधि कार आयोग; वार्षिक रिपोर्ट, 2001–2002, पृष्ठ–317–318 और शाह आयोग, अंतरिम रिपोर्ट 96–101, 120–139 के हम आभारी हैं।

© NCERT not to be republished

विषय सूची

आमुख --- *iii*
पाठकों के नाम एक पत्र --- *v*

अध्याय 1
राष्ट्र-निर्माण की चुनौतियाँ 2

अध्याय 2
एक दल के प्रभुत्व का दौर 26

अध्याय 3
नियोजित विकास की राजनीति 46

अध्याय 4
भारत के विदेश संबंध 64

अध्याय 5
कांग्रेस प्रणाली : चुनौतियाँ और पुनर्स्थापना 82

अध्याय 6
लोकतांत्रिक व्यवस्था का संकट 102

अध्याय 7
जन आंदोलनों का उदय 128

अध्याय 8
क्षेत्रीय आकांक्षाएँ 148

अध्याय 9
भारतीय राजनीति : नए बदलाव 172

© NCERT not to be republished

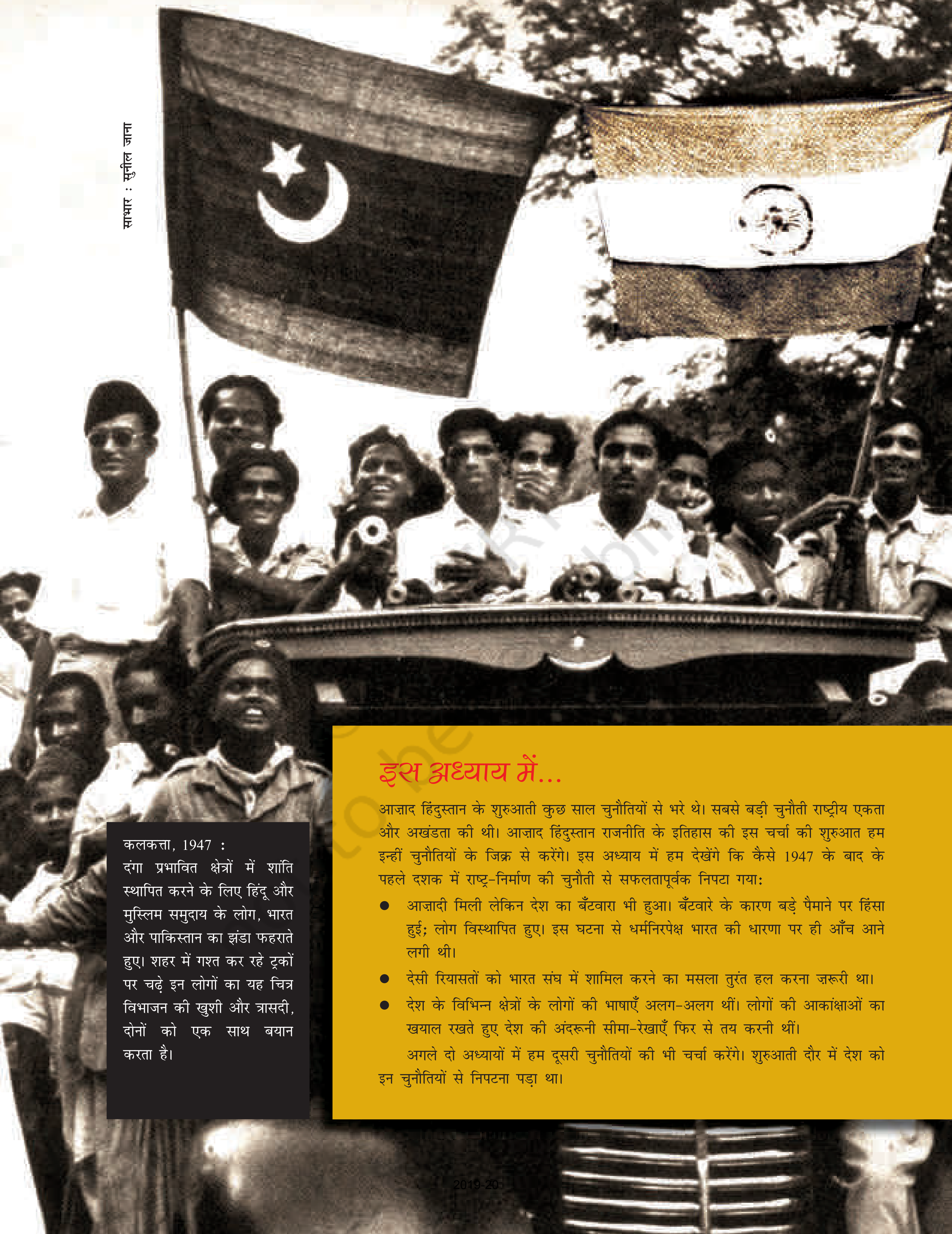

साभार : सुनील जाना

कलकत्ता, 1947 :
दंगा प्रभावित क्षेत्रों में शांति स्थापित करने के लिए हिंदू और मुस्लिम समुदाय के लोग, भारत और पाकिस्तान का झंडा फहराते हुए। शहर में गश्त कर रहे ट्रकों पर चढ़े इन लोगों का यह चित्र विभाजन की खुशी और त्रासदी, दोनों को एक साथ बयान करता है।

इस अध्याय में...

आज़ाद हिंदुस्तान के शुरुआती कुछ साल चुनौतियों से भरे थे। सबसे बड़ी चुनौती राष्ट्रीय एकता और अखंडता की थी। आज़ाद हिंदुस्तान राजनीति के इतिहास की इस चर्चा की शुरुआत हम इन्हीं चुनौतियों के जिक्र से करेंगे। इस अध्याय में हम देखेंगे कि कैसे 1947 के बाद के पहले दशक में राष्ट्र-निर्माण की चुनौती से सफलतापूर्वक निपटा गया:

- आज़ादी मिली लेकिन देश का बँटवारा भी हुआ। बँटवारे के कारण बड़े पैमाने पर हिंसा हुई; लोग विस्थापित हुए। इस घटना से धर्मनिरपेक्ष भारत की धारणा पर ही आँच आने लगी थी।
- देसी रियासतों को भारत संघ में शामिल करने का मसला तुरंत हल करना ज़रूरी था।
- देश के विभिन्न क्षेत्रों के लोगों की भाषाएँ अलग-अलग थीं। लोगों की आकांक्षाओं का खयाल रखते हुए देश की अंदरूनी सीमा-रेखाएँ फिर से तय करनी थीं।

अगले दो अध्यायों में हम दूसरी चुनौतियों की भी चर्चा करेंगे। शुरुआती दौर में देश को इन चुनौतियों से निपटना पड़ा था।

अध्याय 1

राष्ट्र-निर्माण की चुनौतियाँ

नए राष्ट्र की चुनौतियाँ

सन् 1947 के 14-15 अगस्त की मध्यरात्रि को हिंदुस्तान आज़ाद हुआ। स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने इस रात संविधान सभा के एक विशेष सत्र को संबोधित किया था। उनका यह प्रसिद्ध भाषण 'भाग्यवधू से चिर-प्रतीक्षित भेंट' या 'ट्रिस्ट विद् डेस्टिनी' के नाम से जाना गया।

हिंदुस्तान की जनता इसी क्षण की प्रतीक्षा कर रही थी। आपने इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में पढ़ा है कि हमारी आज़ादी की लड़ाई में कई आवाज़ें बुलंद थीं। बहरहाल, दो बातों पर सबकी सहमति थी–पहली बात यह कि आज़ादी के बाद देश का शासन लोकतांत्रिक सरकार के जरिए चलाया जाएगा और दूसरी यह कि सरकार सबके भले के लिए काम करेगी। इस शासन में गरीबों और कमज़ोरों का खास खयाल रखा जाएगा। देश अब आज़ाद हो चुका था और आज़ादी से जुड़े इन सपनों को साकार करने का वक्त आ गया था।

यह कोई आसान काम नहीं था। आज़ाद हिंदुस्तान का जन्म कठिन परिस्थितियों में हुआ। हिंदुस्तान सन् 1947 में जिन हालात के बीच आज़ाद हुआ, शायद उस वक्त तक कोई भी मुल्क वैसे हालात में आज़ाद नहीं हुआ था। आज़ादी मिली लेकिन देश के बँटवारे के साथ। सन् 1947 का साल अभूतपूर्व हिंसा और विस्थापन की त्रासदी का साल था। आज़ाद हिंदुस्तान को इन्हीं परिस्थितियों में अपने बहुविध लक्ष्यों को हासिल करने की यात्रा शुरू करनी पड़ी। आज़ादी के उन उथल-पुथल भरे दिनों में हमारे नेताओं का ध्यान इस बात से नहीं भटका कि यह नया राष्ट्र चुनौतियों की चपेट में है।

साभार : पी.आई.बी.

15 अगस्त, 1947 : लाल किले की प्राचीर से भाषण देते प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू

KAY

The Hindustan Times

END OF 200-YEAR-OLD BRITISH RULE IN INDIA

ROYAL ASSENT TO INDEPENDENCE BILL

BRIEF BUT COLOURFUL CEREMONY IN LORDS

Two Dominions Created

Provisional Govt. For Burma

FREE INDIA FLAG

MESSAGE FROM PREMIER

UNION'S RELATIONSHIP WITH RULERS

PROVISION FOR PROVINCES' JURISDICTION IN STATES

Sir Shafaat Ahmed Khan Dead

हिंदुस्तान टाइम्स, 19 जुलाई, 1947

तीन चुनौतियाँ

> *कल हम अंग्रेज़ी-राज की गुलामी से आज़ाद हो जाएँगे लेकिन आधी रात को भारत का बँटवारा भी होगा। इसलिए कल का दिन हमारे लिए खुशी का दिन होगा और गम का भी।*
>
> **महात्मा गाँधी**
> 14 अगस्त 1947
> कलकत्ता

मुख्य तौर पर भारत के सामने तीन तरह की चुनौतियाँ थीं। पहली और तात्कालिक चुनौती एकता के सूत्र में बँधे एक ऐसे भारत को गढ़ने की थी जिसमें भारतीय समाज की सारी विविधताओं के लिए जगह हो। भारत अपने आकार और विविधता में किसी महादेश के बराबर था। यहाँ अलग-अलग बोली बोलने वाले लोग थे, उनकी संस्कृति अलग थी और वे अलग-अलग धर्मों के अनुयायी थे। उस वक्त आमतौर पर यही माना जा रहा था कि इतनी विविधताओं से भरा कोई देश ज़्यादा दिनों तक एकजुट नहीं रह सकता। देश के विभाजन के साथ लोगों के मन में समाई यह आशंका एक तरह से सच साबित हुई थी। भारत के भविष्य को लेकर गंभीर सवाल खड़े थे : क्या भारत एक रह पाएगा? क्या ऐसा करने के लिए भारत सिर्फ़ राष्ट्रीय एकता की बात पर सबसे ज़्यादा ज़ोर देगा और बाकी उद्देश्यों को तिलांजलि दे देगा? क्या ऐसे में हर क्षेत्रीय और उप-क्षेत्रीय पहचान को खारिज कर दिया जाएगा? उस वक्त का सबसे तीखा और चुभता हुआ एक सवाल यह भी था कि भारत की क्षेत्रीय अखंडता को कैसे हासिल किया जाए?

दूसरी चुनौती लोकतंत्र को कायम करने की थी। आप भारतीय संविधान के बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं। आप जानते हैं कि संविधान में मौलिक अधिकारों की गारंटी दी गई है और हर नागरिक को मतदान का अधिकार दिया गया है। भारत ने संसदीय शासन पर आधारित प्रतिनिधित्वमूलक लोकतंत्र को अपनाया। इन विशेषताओं से यह बात सुनिश्चित हो गई कि

लोकतांत्रिक ढाँचे के भीतर राजनीतिक मुकाबले होंगे। लोकतंत्र को कायम करने के लिए लोकतांत्रिक संविधान जरूरी होता है लेकिन इतना भर ही काफ़ी नहीं होता। चुनौती यह भी थी कि संविधान से मेल खाते लोकतांत्रिक व्यवहार-बरताव चलन में आएँ।

तीसरी चुनौती थी ऐसे विकास की जिससे समूचे समाज का भला होता हो न कि कुछ एक तबकों का। इस मोर्चे पर भी संविधान में यह बात साफ़ कर दी गई थी कि सबके साथ समानता का बरताव किया जाए और सामाजिक रूप से वंचित तबकों तथा धार्मिक-सांस्कृतिक अल्पसंख्यक समुदायों को विशेष सुरक्षा दी जाए। संविधान ने 'राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों' के अंतर्गत लोक-कल्याण के उन लक्ष्यों को भी स्पष्ट कर दिया था जिन्हें राजनीति को ज़रूर पूरा करना चाहिए। अब असली चुनौती आर्थिक विकास तथा गरीबी के खात्मे के लिए कारगर नीतियों को तैयार करने की थी।

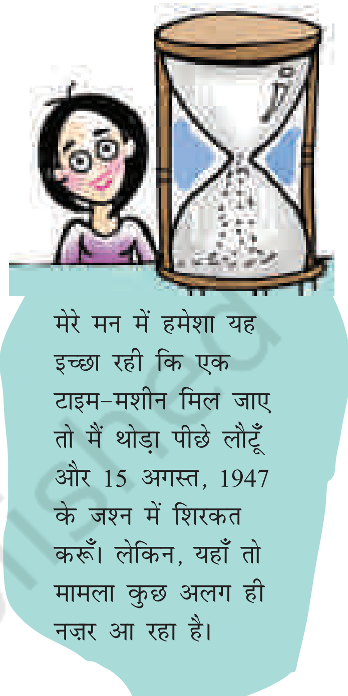

आज़ाद हिंदुस्तान ने इन चुनौतियों के आगे क्या रुख अपनाया? संविधान में तय किए गए विभिन्न लक्ष्यों को हासिल करने की दिशा में कहाँ तक सफलता मिली? इस पूरी किताब में इन्हीं सवालों को खँगालने की कोशिश की गई है। इस किताब में आज़ादी के बाद के दौर की भारतीय राजनीति की कथा लिखी गई है ताकि आप खुद इन जैसे बड़े सवालों के अपने उत्तर तलाश पाने के काबिल हो सकें। शुरुआत के तीन अध्यायों में हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि ऊपर जिन तीन चुनौतियों का जिक्र किया गया है उनका आज़ादी के बाद शुरुआती सालों में कैसे सामना किया गया।

आज़ादी के तुरंत बाद राष्ट्र-निर्माण की चुनौती सबसे प्रमुख थी। इस पहले अध्याय में हम इसी चुनौती पर ध्यान केंद्रित करेंगे। शुरुआत में उन घटनाओं की चर्चा की जाएगी जिन्होंने आज़ादी को एक संदर्भ प्रदान किया। इससे हमें यह समझने में मदद मिलेगी कि आज़ादी के समय राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा का सवाल सबसे प्रमुख चुनौती के रूप में क्यों उभरा। इसके बाद हम यह देखेंगे कि भारत ने एक राष्ट्र के रूप में अपने को किस तरह एक साझे इतिहास तथा साझी नियति के फ़लक पर गढ़ा। अगले दो अध्यायों में हम लोकतंत्र कायम करने और बराबरी तथा इंसाफ पर आधारित आर्थिक-विकास हासिल करने की चुनौतियों पर विचार करेंगे।

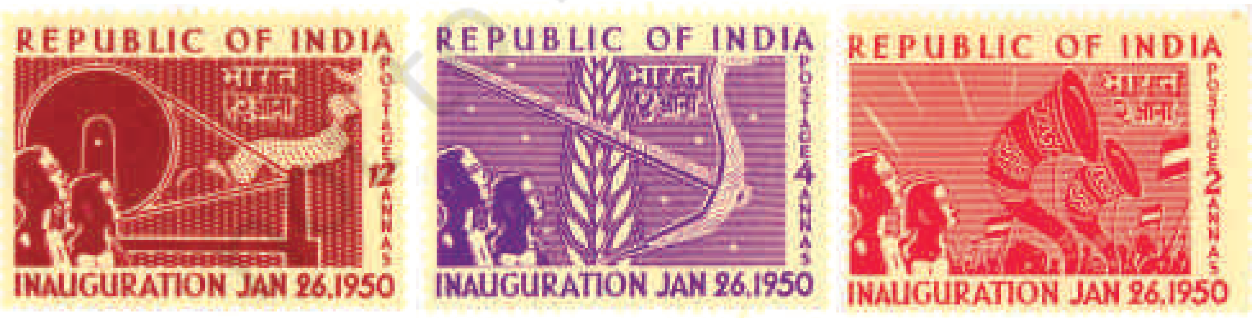

यहाँ प्रदर्शित तीन डाक-टिकटों को प्रथम गणतंत्र दिवस, 26 जनवरी 1950, के अवसर पर जारी किया गया था। इन टिकटों पर छपे चित्र से आपको नए गणतंत्र के सामने खड़ी किन-किन चुनौतियों के बारे में जानकारी मिलती है? अगर आपको 1950 में इन डाक-टिकटों का डिज़ाइन तैयार करने के लिए कहा जाता तो आप इन टिकटों पर किस तरह के चित्र उकेरते?

© NCERT not to be republished

साभार : 'डॉन' कराची, 14 अगस्त 1947

सुब्ह-ए-आज़ादी

– फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

ये दाग़-दाग़ उजाला, ये शब-गज़ीदा सहर[1]
वो इंतज़ार था जिसका, ये वो सहर तो नहीं
ये वो सहर तो नहीं कि जिसकी आरज़ू लेकर
चले थे यार कि; मिल जाएगी कहीं ना कहीं
फ़लक[2] के दस्त में तारों की आख़िरी मंज़िल
कहीं तो होगा शब-ए-सुस्त मौज का साहिल
कहीं तो जाके रुकेगा सफ़ीन-ए-ग़म-ए-दिल[3]

1. अंधियारी सुबह, 2. आकाश, 3. दिल के ग़म की नाव

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ (1911–1984) सियालकोट में जन्म; विभाजन के बाद पाकिस्तान में ही रहे। वामपंथी रुझान के कारण उनका पाकिस्तानी शासन तंत्र से हमेशा टकराव बना रहा। लंबा समय कारावास में गुजरा। 'नक्शे फ़रियादी', 'दस्त-ए-सबा' तथा 'ज़िंदानामा' उनके प्रमुख कविता संग्रह हैं। बीसवीं शताब्दी के दक्षिण एशियाई कवियों में फ़ैज़ बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं।

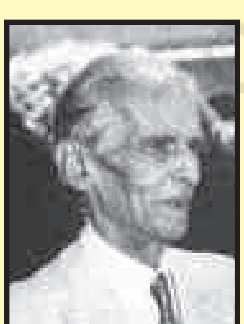

हमें बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदायों की इन जटिलताओं को दूर करने की भावना से काम करना चाहिए। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक–दोनों ही समुदायों में तरह-तरह के लोग शामिल हैं। अगर मुसलमान पठान, पंजाबी, शिया और सुन्नी आदि में बँटे हैं तो हिंदू भी ब्राह्मण, वैष्णव, खत्री तथा बंगाली, मद्रासी आदि समुदायों में...। पाकिस्तान में आप आज़ाद हैं, आप अपने मंदिर में जाने के लिए आज़ाद हैं, आप अपनी मस्जिद में जाने या किसी भी अन्य पूजास्थल पर जाने के लिए आज़ाद हैं। आपके धर्म, आपकी जाति या विश्वास से राज्य को कुछ लेना-देना नहीं है।

– 11 अगस्त, 1947 को कराची में, पाकिस्तान की संविधान सभा में अध्यक्षीय भाषण देते हुए मुहम्मद अली ज़िन्ना

© NCERT not to be republished

The Times of India
BIRTH OF INDIA'S FREEDOM
NATION WAKES TO NEW LIFE
Mr. Nehru Calls For Big Effort From People
"INCESSANT STRIVING TASK OF FUTURE"
Assembly Members Take Solemn Pledge
WILD SCENES OF JUBILATION IN DELHI
NEW CABINET OF INDIA
Fourteen Members
PANDIT NEHRU TO BE PREMIER
STATE VISIT TO KARACHI
LORD MOUNTBATTEN GREETS PAKISTAN
Mr. Jinnah Re-Affirms Firm Friendship With Britain
FRENZIED ENTHUSIASM IN BOMBAY
Crowds In Festive Mood
"MAY BOMBAY PROSPER"
Governor's Message
GOOD WISHES TO FREE INDIA

साभार: टाइम्स ऑफ इंडिया, बंबई 15 अगस्त 1947

वारिस शाह से!

आज वारिस शाह से कहती है–अपनी कब्र में से बोलो।
और इश्क की किताब का कोई नया वर्क़ खोलो!
पंजाब की एक बेटी रोई थी, तू ने उस की लंबी दास्तान लिखी,
आज लाखों बेटियाँ रो रही हैं वारिस शाह! तुम से कह रही हैं:
ऐ दर्दमंदों के दोस्त, पंजाब की हालत देखो
चौपाल लाशों से अटा पड़ा है, चनाब लहू से भर गया है
किसी ने पाँचों दरियाओं में ज़हर मिला दिया है
और यही पानी धरती को सींचने लगा है
इस ज़रखेज़ धरती से ज़हर फूट निकला है
देखो, सुर्खी कहाँ तक आ पहुँची! और क़हर कहाँ तक आ पहुँचा!
फिर ज़हरीली हवा वन-जंगलों में चलने लगी
उसने हर बाँस की बाँसुरी जैसे एक नाग बना दी...

अमृता प्रीतमः चुनी हुई कविताएँ **(1991 चौथा संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ)**

अमृता प्रीतम (1919-2005) : पंजाबी भाषा की प्रमुख कवयित्री और कथाकार, साहित्यिक उपलब्धियों के लिए साहित्य अकादमी, पदमश्री और ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित। विभाजन के बाद दिल्ली में निवास। जीवन के अंतिम समय तक पंजाबी की साहित्यिक पत्रिका 'नागमणि' का संपादन।

भारत में मुसलमान अल्पसंख्यकों की तादाद इतनी ज़्यादा है कि वे चाहें तब भी यहाँ से कहीं और नहीं जा सकते। यह एक बुनियादी तथ्य है और इस पर कोई अँगुली नहीं उठाई जा सकती। पाकिस्तान चाहे जितना उकसावा दे या वहाँ के गैर-मुस्लिमों को अपमान और भय के चाहे जितने भी घूँट पीने पड़े, हमें अपने अल्पसंख्यकों के साथ सभ्यता और शालीनता के साथ पेश आना है। लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में हमें उन्हें नागरिक के अधिकार देने होंगे और उनकी रक्षा करनी होगी। अगर हम ऐसा करने में कामयाब नहीं होते तो यह एक नासूर बन जाएगा जो पूरी राज-व्यवस्था में ज़हर फैलाएगा और शायद उसको तबाह भी कर दे।

– जवाहरलाल नेहरू, मुख्यमंत्रियों को एक पत्र में, 15 अक्तूबर 1947

विभाजन : विस्थापन और पुनर्वास

14-15 अगस्त 1947 को एक नहीं बल्कि दो राष्ट्र–भारत और पाकिस्तान–अस्तित्व में आए। ऐसा 'विभाजन' के कारण हुआ; ब्रिटिश इंडिया को 'भारत' और 'पाकिस्तान' के रूप में बाँट दिया गया। आपने इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में उस राजनीतिक घटनाक्रम के बारे में पढ़ा है जिसके फलस्वरूप दोनों देशों के भू-भाग को रेखांकित करते हुए सीमा-रेखा खींच दी गई। मुस्लिम लीग ने 'द्वि-राष्ट्र सिद्धांत' की बात की थी। इस सिद्धांत के अनुसार भारत किसी एक कौम का नहीं बल्कि 'हिंदू' और 'मुसलमान' नाम की दो कौमों का देश था और इसी कारण मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए एक अलग देश यानी पाकिस्तान की माँग की। कांग्रेस ने 'द्वि-राष्ट्र सिद्धांत' तथा पाकिस्तान की माँग का विरोध किया। बहरहाल, सन् 1940 के दशक में राजनीतिक मोर्चे पर कई बदलाव आए; कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच राजनीतिक प्रतिस्पर्धा तथा ब्रिटिश-शासन की भूमिका जैसी कई बातों का ज़ोर रहा। नतीजतन, पाकिस्तान की माँग मान ली गई।

विभाजन की प्रक्रिया

फ़ैसला हुआ कि अब तक जिस भू-भाग को 'इंडिया' के नाम से जाना जाता था उसे 'भारत' और 'पाकिस्तान' नाम के दो देशों के बीच बाँट दिया जाएगा। यह विभाजन दर्दनाक तो था ही, इस पर फ़ैसला करना और अमल में लाना और भी कठिन था। तय किया गया कि धार्मिक बहुसंख्या को विभाजन का आधार बनाया जाएगा। इसके मायने यह थे कि जिन इलाकों में मुसलमान बहुसंख्यक थे वे इलाके 'पाकिस्तान' के भू-भाग होंगे और शेष हिस्से 'भारत' कहलाएँगे।

यह बात थोड़ी आसान जान पड़ती है लेकिन असल में इसमें कई किस्म की दिक्कतें थीं। पहली बात तो यह कि 'ब्रिटिश इंडिया' में कोई एक भी इलाका ऐसा नहीं था जहाँ मुसलमान बहुसंख्यक हों। ऐसे दो इलाके थे जहाँ मुसलमानों की आबादी ज़्यादा थी। एक इलाका पश्चिम में था तो दूसरा इलाका पूर्व में। ऐसा कोई तरीका न था कि इन दोनों इलाकों को जोड़कर एक जगह कर दिया जाए। इसे देखते हुए फ़ैसला हुआ कि पाकिस्तान में दो इलाके शामिल होंगे यानी पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान तथा इनके बीच में भारतीय भू-भाग का एक बड़ा विस्तार रहेगा। दूसरी बात यह कि मुस्लिम-बहुल हर इलाका पाकिस्तान में जाने को राजी हो, ऐसा भी नहीं था। खान अब्दुल गफ्फार खान पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के निर्विवाद नेता थे। उनकी प्रसिद्धि 'सीमांत गाँधी' के रूप में थी और वे 'द्वि-राष्ट्र सिद्धांत' के एकदम खिलाफ़ थे। संयोग से, उनकी आवाज़ की अनदेखी की गई और 'पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत' को पाकिस्तान में शामिल मान लिया गया।

तीसरी समस्या और भी विकट थी। 'ब्रिटिश-इंडिया' के मुस्लिम-बहुल प्रांत पंजाब और बंगाल में अनेक हिस्से बहुसंख्यक गैर-मुस्लिम आबादी वाले थे। ऐसे में फ़ैसला हुआ कि इन दोनों प्रांतों में भी बँटवारा धार्मिक बहुसंख्यकों के आधार पर होगा और इसमें जिले अथवा उससे निचले स्तर के प्रशासनिक हलके को आधार माना जाएगा। 14-15 अगस्त 1947 की मध्यरात्रि तक यह फ़ैसला नहीं हो पाया था। इसका मतलब यह हुआ कि आज़ादी के दिन तक अनेक लोगों को यह पता नहीं था कि वे भारत में हैं या पाकिस्तान में। पंजाब और बंगाल का बँटवारा विभाजन की सबसे बड़ी त्रासदी साबित हुआ।

© NCERT not to be republished

इसी समस्या से जुड़ी हुई चौथी और विभाजन की सबसे अबूझ कठिनाई 'अल्पसंख्यकों' की थी। सीमा के दोनों तरफ़ 'अल्पसंख्यक' थे। जो इलाके अब पाकिस्तान में हैं वहाँ लाखों की संख्या में हिंदू और सिख आबादी थी। ठीक इसी तरह पंजाब और बंगाल के भारतीय भू-भाग में भी लाखों की संख्या में मुस्लिम आबादी थी। दिल्ली और उसके आस-पास के इलाकों में भी मुसलमानों की एक बड़ी आबादी थी। ये सब लोग एक तरह से साँसत में थे। इन लोगों ने पाया कि हम तो अपने ही घर में विदेशी बन गए। जिस ज़मीन पर वे और उनके पुरखे सदियों से आबाद रहे उसी जमीन पर वे 'विदेशी' बन गए थे। जैसे ही यह बात साफ़ हुई कि देश का बँटवारा होने वाला है वैसे ही दोनों तरफ़ के अल्पसंख्यकों पर हमले होने लगे। कोई भी इस बात का अनुमान नहीं लगा सका था कि यह समस्या विकट रूप धारण करने जा रही है। इस कठिनाई से उबरने के लिए किसी के पास कोई योजना भी नहीं थी। शुरू-शुरू में लोग-बाग और नेता यही मानकर चल रहे थे कि हिंसा की घटनाएँ अस्थाई हैं और जल्दी ही इनको काबू में कर लिया जाएगा। लेकिन, बड़ी जल्दी हिंसा नियंत्रण से बाहर हो गई। दोनों तरफ़ के अल्पसंख्यकों के पास एकमात्र रास्ता यही बचा था कि वे अपने-अपने घरों को छोड़ दें। कई बार तो उन्हें ऐसा चंद घंटों की मोहलत के भीतर करना पड़ा।

विभाजन के परिणाम

सन् 1947 में बड़े पैमाने पर एक जगह की आबादी दूसरी जगह जाने को मज़बूर हुई थी। आबादी का यह स्थानांतरण आकस्मिक, अनियोजित और त्रासदी से भरा था। मानव-इतिहास के अब तक ज्ञात सबसे बड़े स्थानांतरणों में से यह एक था। धर्म के नाम पर एक समुदाय

साभार : डी.पी.ए.

शरणार्थियों से भरी एक ट्रेन, 1947

मेहमाननवाजी में कसर

दंगाइयों ने चलती ट्रेन को रोक लिया। गैर-मज़हब के लोगों को खींच-खींच के निकाला और तलवार तथा गोली से मौत के घाट उतार दिया।

बाकी यात्रियों को हलवा, फल और दूध दिया गया। आयोजकों के मुखिया ने कहा- "बहनो-भाइयो! ट्रेन के आने की खबर देर से मिली। इसी कारण हम आपका स्वागत पुरज़ोर तरीके से नहीं कर सके-जैसा कि आप सब चाहते होंगे।"

– सआदत हसन मंटो

मंटो की कहानी *कस्र-ए-नफ्सी* के हिंदी रूपांतर से लिया गया एक अंश।

के लोगों ने दूसरे समुदाय के लोगों को बेरहमी से मारा। लाहौर, अमृतसर और कलकत्ता जैसे शहर सांप्रदायिक अखाड़े में तब्दील हो गए। जिन इलाकों में ज़्यादातर हिंदू अथवा सिख आबादी थी, उन इलाकों में मुसलमानों ने जाना छोड़ दिया। ठीक इसी तरह मुस्लिम-बहुल आबादी वाले इलाकों से हिंदू और सिख भी नहीं गुजरते थे।

लोग अपना घर-बार छोड़ने के लिए मजबूर हुए। वे सीमा के एक तरफ़ से दूसरी तरफ़ गए और इस क्रम में लोगों को बड़ी से बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा। दोनों ही तरफ़ के अल्पसंख्यक अपने घरों से भाग खड़े हुए और अकसर अस्थाई तौर पर उन्हें शरणार्थी शिविरों में पनाह लेनी पड़ी। कल तक जो लोगों का अपना वतन हुआ करता था, वहीं की पुलिस अथवा स्थानीय प्रशासन अब इन लोगों के साथ रुखाई का बरताव कर रहा था। लोगों को सीमा के दूसरी तरफ़ जाना पड़ा और ऐसा उन्हें हर हाल में करना था। अकसर लोगों ने पैदल चलकर यह दूरी तय की। सीमा के दोनों ओर हज़ारों की तादाद में औरतों को अगवा कर लिया गया। उन्हें जबरन शादी करनी पड़ी और अगवा करने वाले का धर्म भी अपनाना पड़ा। कई मामलों में यह भी हुआ कि खुद परिवार के लोगों ने अपने 'कुल की इज़्ज़त' बचाने के नाम पर घर की बहू-बेटियों को मार डाला। बहुत-से बच्चे अपने माँ-बाप से बिछड़ गए। जो लोग सीमा पार करने में किसी तरह सफल रहे उन्होंने पाया कि अब वे बेठिकाना हो गए हैं। इन लाखों शरणार्थियों के लिए देश की आज़ादी का मतलब था महीनों और कभी-कभी सालों तक किसी शरणार्थी शिविर में ज़िंदगी काटना।

साभार: नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एंड लाइब्रेरी

नोआखली (अब बांग्लादेश में) की यात्रा पर गाँधी, 1947

भारत और पाकिस्तान के लेखक, कवि तथा फिल्म-निर्माताओं ने अपने उपन्यास, लघुकथा, कविता और फिल्मों में इस मार-काट की नृशंसता का जिक्र किया; विस्थापन और हिंसा से पैदा दुखों को अभिव्यक्ति दी। विभाजन की विपदा का जिक्र करते हुए रचनाकारों ने अकसर वही जुमला इस्तेमाल किया जो इस विपत्ति को झेलने वाले 'बँटवारे' का जिक्र करते हुए करते थे। इन सबों के लिए बँटवारे का मतलब था 'दिल के दो टुकड़े हो जाना'। 'विभाजन' में सिर्फ़ संपदा, देनदारी और

परिसंपत्तियों का ही बँटवारा नहीं हुआ। इस 'विभाजन' में दो समुदाय जो अब तक पड़ोसियों की भाँति रहते आ रहे थे, हिंसक अलगाव का शिकार हुए।

वित्तीय संपदा के साथ-साथ टेबुल, कुर्सी, टाईपराइटर और पुलिस के वाद्ययंत्रों तक का बँटवारा हुआ था। सरकारी और रेलवे के कर्मचारियों का भी बँटवारा हुआ। अब तक साथ-साथ रहते आए दो समुदायों का यह एक हिंसक और भयावह विभाजन था। अनुमान किया जाता है कि विभाजन के कारण 80 लाख लोगों को अपना घर-बार छोड़कर सीमा-पार जाना पड़ा। विभाजन की हिंसा में तकरीबन पाँच से दस लाख लोगों ने अपनी जान गँवाई।

प्रशासनिक मुश्किल और वित्तीय कठिनाई के अतिरिक्त विभाजन के साथ कुछ और ज़्यादा गहरे मुद्दे जुड़े हुए थे। भारत के नेता द्वि-राष्ट्र सिद्धांत में यकीन नहीं करते थे। बहरहाल, विभाजन तो धर्म के आधार पर ही हुआ था। क्या इस वज़ह से भारत अपने-आप एक हिंदू राष्ट्र बन गया? विभाजन के दौरान बड़ी संख्या में मुस्लिम आबादी पाकिस्तान चली गई। इसके बावजूद 1951 के वक्त भारत की कुल आबादी में 12 फीसदी मुसलमान थे। ऐसे में सवाल यह था कि भारत अपने मुसलमान नागरिकों तथा दूसरे धार्मिक अल्पसंख्यकों मसलन सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी और यहूदियों के साथ क्या बरताव करे? बँटवारे के कारण हिंदू और मुसलमानों के बीच तनाव पहले से ही कायम था।

इन संघर्षों के साथ प्रतिस्पर्धी राजनीतिक हित जुड़े थे। मुस्लिम लीग का गठन मुख्य रूप से औपनिवेशिक भारत में मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिए हुआ था। मुस्लिम लीग मुसलमानों के लिए अलग राष्ट्र की माँग करने के एतबार से अग्रणी थी। ठीक इसी तरह कुछ और संगठन भी थे जो भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने के लिए हिंदुओं को लामबंद करने की कोशिश में लगे थे। बहरहाल, भारत की कौमी सरकार के अधिकतर नेता सभी नागरिकों को समान दर्ज़ा देने के हामी थे चाहे नागरिक किसी भी धर्म का हो। वे भारत को एक ऐसे राष्ट्र के रूप में नहीं देखना चाहते थे जहाँ किसी एक धर्म के अनुयायियों को दूसरे धर्मावलंबियों

सिने-संसार

गर्म हवा

सलीम मिर्ज़ा आगरा में रहते हैं और जूते का व्यवसाय करते हैं। विभाजन के बाद सलीम अपने ही लोगों के बीच अजनबी बन जाते हैं। विभाजन के बाद बदले माहौल में सलीम अपने आसपास की दुनिया से संबंध नहीं बिठा पाते। धीरे-धीरे उनका व्यवसाय भी चौपट होने लगता है। देश के दूसरी तरफ़ से आया एक शरणार्थी परिवार उनके पुश्तैनी मकान पर कब्ज़ा कर लेता है। घटनाओं की इस गहमागहमी में सलीम की बेटी मौत को गले लगा लेती है। लेकिन सलीम फिर भी उम्मीद नहीं छोड़ते। उन्हें यकीन है कि हालात दुबारा सामान्य हो जाएँगे।

सलीम की इस सोच से उनके परिवार वाले ही इत्तेफाक नहीं रखते। परिवार के कई सदस्यों ने पाकिस्तान जाने का फ़ैसला कर लिया है। सलीम पाकिस्तान जाने की विवशता और भारतीय रहने की इच्छा के बीच फँस गए हैं। कहानी में सलीम के सामने एक निर्णायक क्षण आता है जब वह छात्रों के एक जत्थे को सड़क से गुज़रता हुआ देखते हैं। आंदोलनकारी छात्र, सरकार से बेहतर सुविधाओं की माँग कर रहे हैं। छात्रों के इस जत्थे में सलीम का बेटा सिकंदर भी शामिल है। आपकी राय में मिर्ज़ा सलीम का फिल्म के अंत में क्या रुख रहा होगा? ऐसी परिस्थितियों में आप क्या करते?

वर्ष : 1973
निर्देशक : एम.एस. सथ्यु
पटकथा : कैफ़ी आज़मी
अभिनय : बलराज साहनी, जलाल आगा, फ़ारूख शेख, गीता सिद्धार्थ

महात्मा गाँधी की शहादत

महात्मा गाँधी ने 15 अगस्त, 1947 के दिन आज़ादी के किसी भी जश्न में भाग नहीं लिया। वे कोलकाता के उन इलाकों में डेरा डाले हुए थे जहाँ हिंदुओं और मुसलमानों के बीच भयंकर दंगे हुए थे। सांप्रदायिक हिंसा से उनके मन पर गहरी चोट लगी थी। यह देखकर उनका दिल टूट चुका था कि 'अहिंसा' और 'सत्याग्रह' के जिन सिद्धांतों के लिए वे आजीवन समर्पित भाव से काम करते रहे वे ही सिद्धांत इस कठिन घड़ी में लोगों को एकसूत्र में पिरो सकने में नाकामयाब हो गए थे। गाँधीजी ने हिंदुओं और मुसलमानों से ज़ोर देकर कहा कि वे हिंसा का रास्ता छोड़ दें। कोलकाता में गाँधी की मौजूदगी से हालात बड़ी हद तक सुधर चले थे और आज़ादी का जश्न लोगों ने सांप्रदायिक सद्भाव के जज़्बे से मनाया। लोग सड़कों पर पूरे हर्षोल्लास के साथ नाच रहे थे। गाँधी की प्रार्थना-सभा में बड़ी संख्या में लोग जुटते थे। बहरहाल, यह स्थिति ज़्यादा दिनों तक कायम नहीं रही। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच दंगे एक बार फिर से भड़क उठे और गाँधीजी अमन कायम करने के लिए 'उपवास' पर बैठ गए।

अगले महीने गाँधीजी दिल्ली पहुँचे। दिल्ली में भी बड़े पैमाने पर हिंसा हुई थी। गाँधीजी दिल से चाहते थे कि मुसलमानों को भारत में गरिमापूर्ण जीवन मिले और उन्हें बराबर का नागरिक माना जाए। इस बात को सुनिश्चित करने के लिए वे बड़े चिंतित थे। भारत और पाकिस्तान के आपसी संबंधों को लेकर भी उनके मन में गहरी चिंताएँ थीं। उन्हें लग रहा था कि भारत की सरकार पाकिस्तान के प्रति अपनी वित्तीय वचनबद्धताओं को पूरा नहीं कर रही है। इस बात से वे नाखुश थे। इन सारी बातों को सोचकर उन्होंने 1948 की जनवरी में एक बार फिर 'उपवास' रखना शुरू किया। यह उनका अंतिम 'उपवास' साबित हुआ। कोलकाता की ही तरह दिल्ली में भी उनके 'उपवास' का जादुई असर हुआ। सांप्रदायिक तनाव और हिंसा में कमी हुई। दिल्ली और उसके आस-पास के इलाके के मुसलमान सुरक्षित अपने घरों में लौटे। भारत की सरकार पाकिस्तान को उसका देय चुकाने पर राजी हो गई।

बहरहाल, गाँधीजी के कामों से हर कोई खुश हो, ऐसी बात नहीं थी। हिंदू और मुसलमान दोनों ही समुदायों के अतिवादी अपनी स्थिति के लिए गाँधीजी पर दोष मढ़ रहे थे। जो लोग चाहते थे कि हिंदू बदला लें अथवा भारत भी उसी तरह सिर्फ़ हिंदुओं का राष्ट्र बने जैसे पाकिस्तान मुसलमानों का राष्ट्र बना था-वे गाँधीजी को खासतौर पर नापसंद करते थे। इन लोगों ने आरोप लगाया कि गाँधीजी मुसलमानों और पाकिस्तान के हित में काम कर रहे हैं। गाँधीजी मानते थे कि ये लोग गुमराह हैं। उन्हें इस बात का पक्का विश्वास था कि भारत को सिर्फ हिंदुओं का देश बनाने की कोशिश की गई तो भारत बर्बाद हो जाएगा। हिंदु-मुस्लिम एकता के उनके अडिग प्रयासों से अतिवादी हिंदू इतने नाराज थे कि उन्होंने कई दफे गाँधीजी को जान से मारने की कोशिश की। इसके बावजूद गाँधीजी ने सशस्त्र सुरक्षा हासिल करने से मना कर दिया और अपनी प्रार्थना-सभा में हर किसी से मिलना जारी रखा। आखिरकार, 30 जनवरी 1948 के दिन ऐसा ही एक हिंदू अतिवादी नाथूराम विनायक गोडसे, गाँधीजी की संध्याकालीन प्रार्थना के समय उनकी तरफ़ चलता हुआ नज़दीक पहुँच गया। उसने गाँधीजी पर तीन गोलियाँ चलाई और गाँधीजी को तत्क्षण मार दिया। इस तरह न्याय और सहिष्णुता को आजीवन समर्पित एक आत्मा का देहावसान हुआ।

गाँधीजी की मौत का देश के सांप्रदायिक माहौल पर मानो जादुई असर हुआ। विभाजन से जुड़ा क्रोध और हिंसा अचानक ही मंद पड़ गए। भारत सरकार ने सांप्रदायिक हिंसा फैलाने वाले संगठनों की मुश्कें कस दीं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठनों को कुछ दिनों तक प्रतिबंधित कर दिया गया। सांप्रदायिक राजनीति का ज़ोर लोगों में घटने लगा।

The Gazette of India
EXTRAORDINARY
PUBLISHED BY AUTHORITY
NEW DELHI, WEDNESDAY, FEBRUARY 4, 1948
CHIEF COMMISSIONER'S OFFICE, DELHI
NOTIFICATION
J. P. RAY, Home Secy.
GANDHIJI SHO
Amrita Bazar
MAHATMA GANDHI
आनन्दबाजार पत्रिका
गान्धी निहत
प्रभात
साभार: सुनील जानाह

के ऊपर वरीयता दी जाए अथवा किसी एक धर्म के विश्वासियों के मुकाबले बाकियों को हीन समझा जाता हो। वे मानते थे कि नागरिक चाहे जिस धर्म को माने, उसका दर्ज़ा बाकी नागरिकों के बराबर ही होना चाहिए। नागरिकता की कसौटी धर्म को नहीं बनाया जाना चाहिए। हमारे नेतागण धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदर्श के हिमायती थे। उनके इस आदर्श की अभिव्यक्ति भारतीय संविधान में हुई।

खोज-बीन

श्वेता ने गौर किया था कि जब भी कोई पाकिस्तान का ज़िक्र छेड़ता था तो उसके नाना एकदम चुप हो जाते थे। एक दिन उसने नाना से इसके बारे में पूछने का फ़ैसला किया। उसके नाना ने बताया कि बँटवारे के वक्त उन्हें लाहौर से लुधियाना आना पड़ा था। उनके माता-पिता मार दिए गए थे। श्वेता के नाना भी नहीं बच पाते लेकिन खैर यह हुई कि पड़ोस के मुस्लिम परिवार ने उन्हें पनाह दी और कई दिनों तक छुपाकर रखा। इन्हीं पड़ोसियों की मदद से श्वेता के नाना को अपने सगे-संबंधियों का पता-ठिकाना मालूम पड़ा और वे किसी तरह बच-बचा के सीमा पार कर भारत पहुँचे। यहाँ आकर उन्होंने नयी ज़िंदगी शुरू की।

क्या आपने भी ऐसा ही कोई वाकया सुना है। अपने दादा-दादी अथवा इस पीढ़ी के किसी और से पूछिए कि आज़ादी के दिन क्या हुआ था, कैसे जश्न मनाया गया था, बँटवारे का सदमा कितना गहरा था और देश की आज़ादी से इन लोगों की क्या अपेक्षाएँ थीं?

कम से कम ऐसे दो वाकयों को लिखिए।

रजवाड़ों का विलय

ब्रिटिश इंडिया दो हिस्सों में था। एक हिस्से में ब्रिटिश प्रभुत्व वाले भारतीय प्रांत थे तो दूसरे हिस्से में देसी रजवाड़े। ब्रिटिश प्रभुत्व वाले भारतीय प्रांतों पर अंग्रेजी सरकार का सीधा नियंत्रण था। दूसरी तरफ़ छोटे-बड़े आकार के कुछ और राज्य थे। इन्हें रजवाड़ा कहा जाता था। रजवाड़ों पर राजाओं का शासन था। राजाओं ने ब्रिटिश-राज की अधीनता या कहें कि सर्वोच्च सत्ता स्वीकार कर रखी थी और इसके अंतर्गत वे अपने राज्य के घरेलू मामलों का शासन चलाते थे। अंग्रेजी प्रभुत्व के अंतर्गत आने वाले भारतीय साम्राज्य के एक-तिहाई हिस्से में रजवाड़े कायम थे। प्रत्येक चार भारतीयों में से एक किसी न किसी रजवाड़े की प्रजा था।

समस्या

आज़ादी के तुरंत पहले अंग्रेजी-शासन ने घोषणा की कि भारत पर ब्रिटिश-प्रभुत्व के साथ ही रजवाड़े भी ब्रिटिश-अधीनता से आज़ाद हो जाएँगे। इसका मतलब यह था कि सभी रजवाड़े (रजवाड़ों की संख्या 565 थी) ब्रिटिश-राज की समाप्ति के साथ ही कानूनी तौर पर आज़ाद हो जाएँगे। अंग्रेजी-राज का नज़रिया यह था कि रजवाड़े अपनी मर्जी से चाहें तो भारत या पाकिस्तान में शामिल हो जाएँ या फिर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाएँ रखें। भारत अथवा पाकिस्तान में शामिल होने या स्वतंत्र हैसियत बनाए रखने का फ़ैसला रजवाड़ों की प्रजा को नहीं करना था। यह फ़ैसला लेने का अधिकार राजाओं को दिया गया था। यह अपने आप में बड़ी गंभीर समस्या थी और इससे अखंड भारत के अस्तित्व पर ही खतरा मँडरा रहा था।

© NCERT not to be republished

नोट: यह नक्शा किसी पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

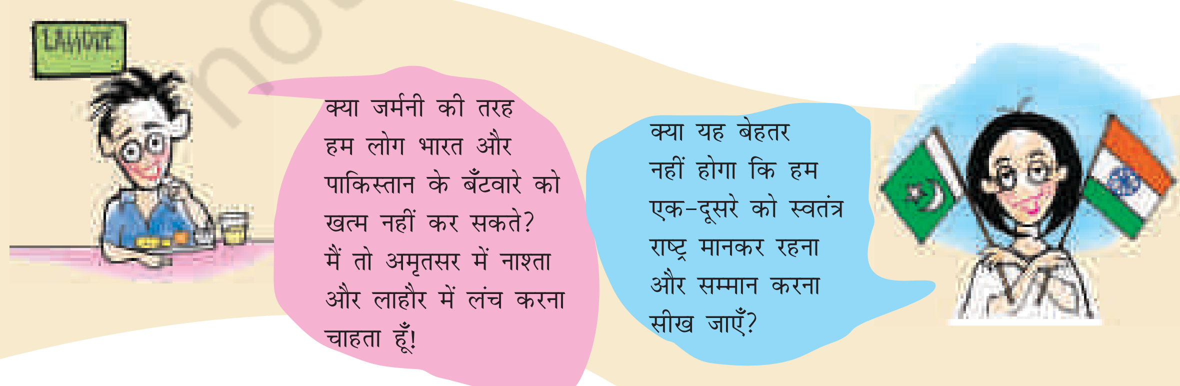

समस्या ने जल्दी ही अपने तेवर दिखाने शुरू किए। सबसे पहले त्रावणकोर के राजा ने अपने राज्य को आज़ाद रखने की घोषणा की। अगले दिन हैदराबाद के निज़ाम ने ऐसी ही घोषणा की। कुछ शासक मसलन भोपाल के नवाब संविधान-सभा में शामिल नहीं होना चाहते थे। रजवाड़ों के शासकों के रवैये से यह बात साफ़ हो गई कि आज़ादी के बाद हिंदुस्तान कई छोटे-छोटे देशों की शक्ल में बँट जाने वाला है। लोकतंत्र का भविष्य अंधकारमय जान पड़ रहा था। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का लक्ष्य एकता और आत्मनिर्णय के साथ-साथ लोकतंत्र का रास्ता अख्तियार करना था। इसे देखते हुए यह स्थिति अपने आप में बड़ी विचित्र थी। अधिकतर रजवाड़ों में शासन अलोकतांत्रिक रीति से चलाया जाता था और रजवाड़ों के शासक अपनी प्रजा को लोकतांत्रिक अधिकार देने के लिए तैयार नहीं थे।

हम भारत के इतिहास के एक यादगार मुकाम पर खड़े हैं। साथ मिलकर चलें तो देश को हम महानता की नयी बुलंदियों तक पहुँचा सकते हैं, जबकि एकता के अभाव में हम अप्रत्याशित विपदाओं के घेरे में होंगे। मैं उम्मीद करता हूँ कि भारत की रियासतें इस बात को पूरी तरह से समझेंगी कि अगर हमने सहयोग नहीं किया और सर्व-सामान्य की भलाई में साथ मिलकर कदम नहीं बढ़ाया तो अराजकता और अव्यवस्था हम में से सबको चाहे कोई छोटा हो या बड़ा, घेर लेगी और हमें बर्बादी की तरफ़ ले जाएगी...

सरदार पटेल
रियासतों के शासकों को एक पत्र में (1947)

सरकार का नज़रिया

छोटे-बड़े विभिन्न आकार के देशों में बँट जाने की इस संभावना के विरुद्ध अंतरिम सरकार ने कड़ा रुख अपनाया। मुस्लिम लीग ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इस कदम का विरोध किया। लीग का मानना था कि रजवाड़ों को अपनी मनमर्जी का रास्ता चुनने के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। रजवाड़ों के शासकों को मनाने-समझाने में सरदार पटेल ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई और अधिकतर रजवाड़ों को उन्होंने भारतीय संघ में शामिल होने के लिए राजी कर लिया। आज यह आसान जान पड़ सकता है लेकिन अपने आप में यह बड़ा जटिल काम था। इसके लिए बड़ी चतुराई और युक्तिपूर्ण पहलकदमी की ज़रूरत थी। मिसाल के तौर पर आज के उड़ीसा में ही तब 26 और छत्तीसगढ़ में 15 छोटे-छोटे रजवाड़े थे। सौराष्ट्र में 14 बड़े और 119 छोटे रजवाड़े और अन्य अनेक प्रशासनिक तंत्र थे।

देसी रजवाड़ों की इस चर्चा से तीन बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह कि अधिकतर रजवाड़ों के लोग भारतीय संघ में शामिल होना चाहते थे। दूसरी बात यह कि भारत सरकार का रुख लचीला था और वह कुछ इलाकों को स्वायत्तता देने के लिए तैयार थी जैसा कि जम्मू-कश्मीर में हुआ। भारत सरकार ने विभिन्नताओं को सम्मान देने और विभिन्न क्षेत्रों की माँगों को संतुष्ट करने के लिए यह रुख अपनाया था। तीसरी बात, विभाजन की पृष्ठभूमि में विभिन्न इलाकों के सीमांकन के सवाल पर खींचतान ज़ोर पकड़ रही थी और ऐसे में देश की क्षेत्रीय अखंडता—एकता का सवाल सबसे ज़्यादा अहम हो उठा था।

शांतिपूर्ण बातचीत के ज़रिए लगभग सभी रजवाड़े जिनकी सीमाएँ आज़ाद हिंदुस्तान की नयी सीमाओं से मिलती थीं, 15 अगस्त 1947 से पहले ही भारतीय संघ में शामिल हो गए। अधिकतर रजवाड़ों के शासकों ने भारतीय संघ में अपने विलय के एक सहमति-पत्र पर हस्ताक्षर किए। इस सहमति-पत्र को 'इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ एक्सेशन' कहा जाता है। इस पर हस्ताक्षर का अर्थ था कि रजवाड़े भारतीय संघ का अंग बनने के लिए सहमत हैं। जूनागढ़, हैदराबाद, कश्मीर और मणिपुर की रियासतों का विलय बाकियों की तुलना में थोड़ा कठिन साबित हुआ। इस अध्याय में हम हैदराबाद और मणिपुर की रियासतों के विलय के मामले पर गौर करेंगे। कश्मीर के विलय के बारे में आप अध्याय 8 में पढ़ेंगे।

© NCERT not to be republished

साभार: पत्र सूचना कार्यालय

हैदराबाद के निज़ाम के साथ सरदार पटेल

हैदराबाद

हैदराबाद की रियासत बहुत बड़ी थी। यह रियासत चारों तरफ़ से हिंदुस्तानी इलाके से घिरी थी। पुराने हैदराबाद के कुछ हिस्से आज के महाराष्ट्र तथा कर्नाटक में और बाकी हिस्से आंध्रप्रदेश में हैं। हैदराबाद के शासक को 'निज़ाम' कहा जाता था और वह दुनिया के सबसे दौलतमंद लोगों में शुमार किया जाता था। निज़ाम चाहता था कि हैदराबाद की रियासत को आज़ाद रियासत का दर्जा दिया जाए। निज़ाम ने सन् 1947 के नवंबर में भारत के साथ यथास्थिति बहाल रखने का एक समझौता किया। यह समझौता एक साल के लिए था। इस बीच भारत सरकार से हैदराबाद के निज़ाम की बातचीत जारी रही।

इसी दौरान हैदराबाद की रियासत के लोगों के बीच निज़ाम के शासन के खिलाफ़ एक आंदोलन ने ज़ोर पकड़ा। तेलंगाना इलाके के किसान निज़ाम के दमनकारी शासन से खासतौर पर दुखी थे। वे निज़ाम के खिलाफ़ उठ खड़े हुए। महिलाएँ निज़ाम के शासन में सबसे ज़्यादा जुल्म का शिकार हुई थीं। महिलाएँ भी बड़ी संख्या में इस आंदोलन से आ जुड़ीं। हैदराबाद शहर इस आंदोलन का गढ़ बन गया। कम्युनिस्ट और हैदराबाद कांग्रेस इस आंदोलन की अग्रिम पंक्ति में थे। आंदोलन को देख निज़ाम ने लोगों के खिलाफ़ एक अर्द्ध-सैनिक बल रवाना किया। इसे रज़ाकार कहा जाता था। रज़ाकार अव्वल दर्जे के सांप्रदायिक और अत्याचारी थे। रज़ाकारों ने गैर-मुसलमानों को खासतौर पर अपना निशाना

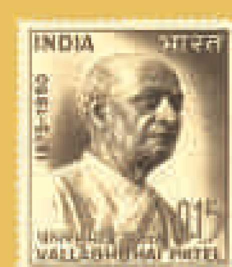

सरदार वल्लभभाई पटेल (1875-1950) : आज़ादी के आंदोलन के नेता; कांग्रेस के नेता; महात्मा गाँधी के अनुयायी; स्वतंत्र भारत के उप-प्रधानमंत्री और प्रथम गृहमंत्री; देसी रियासतों को भारत संघ में मिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका; मौलिक अधिकार, अल्पसंख्यक, प्रांतीय संविधान आदि से संबंधित संविधान सभा की महत्त्वपूर्ण समितियों के सदस्य।

© NCERT not to be republished

बनाया। रज़ाकारों ने लूटपाट मचायी और हत्या तथा बलात्कार पर उतारू हो गए। 1948 के सितंबर में भारतीय सेना, निज़ाम के सैनिकों पर काबू पाने के लिए हैदराबाद आ पहुँची। कुछ रोज तक रुक-रुक कर लड़ाई चली और इसके बाद निज़ाम ने आत्मसमर्पण कर दिया। निज़ाम के आत्मसमर्पण के साथ ही हैदराबाद का भारत में विलय हो गया।

मैं सोचता हूँ कि आखिर उन सैकड़ों राजा-रानी, राजकुमार और राजकुमारियों का क्या हुआ होगा। आखिर आम नागरिक बनने के बाद उनका जीवन कैसा रहा होगा?

मणिपुर

आज़ादी के चंद रोज पहले मणिपुर के महाराजा बोधचंद्र सिंह ने भारत सरकार के साथ भारतीय संघ में अपनी रियासत के विलय के एक सहमति-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे। इसकी एवज में उन्हें यह आश्वासन दिया गया था कि मणिपुर की आंतरिक स्वायत्तता बरकरार रहेगी। जनमत के दबाव में महाराजा ने 1948 के जून में चुनाव करवाया और इस चुनाव के फलस्वरूप मणिपुर की रियासत में संवैधानिक राजतंत्र कायम हुआ। मणिपुर भारत का पहला भाग है जहाँ सार्वभौम वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को अपनाकर चुनाव हुए।

मणिपुर की विधानसभा में भारत में विलय के सवाल पर गहरे मतभेद थे। मणिपुर की कांग्रेस चाहती थी कि इस रियासत को भारत में मिला दिया जाए जबकि दूसरी राजनीतिक पार्टियाँ इसके खिलाफ़ थीं। मणिपुर की निर्वाचित विधानसभा से परामर्श किए बगैर भारत सरकार ने महाराजा पर दबाव डाला कि वे भारतीय संघ में शामिल होने के सम झौते पर हस्ताक्षर कर दें। भारत सरकार को इसमें सफलता मिली। मणिपुर में इस कदम को लेकर लोगों में क्रोध और नाराजगी के भाव पैदा हुए। इसका असर आज तक देखा जा सकता है।

साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया

यह कार्टून रज़वाड़ों की जनता और वहाँ के शासकों के आपसी संबंधों पर टिप्पणी करता है। पटेल रजवाड़ों की समस्या को जिस ढंग से हल करना चाहते थे उसकी भी एक झलक इस कार्टून में देखी जा सकती है।

© NCERT not to be republished

राज्यों का पुनर्गठन

बँटवारे और देसी रियासतों के विलय के साथ ही राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया का अंत नहीं हुआ। भारतीय प्रांतों की आंतरिक सीमाओं को तय करने की चुनौती अभी सामने थी। यह महज प्रशासनिक विभाजन का मामला न था। प्रांतों की सीमाओं को इस तरह तय करने की चुनौती थी कि देश की भाषाई और सांस्कृतिक बहुलता की झलक मिले, साथ ही राष्ट्रीय एकता भी खंडित न हो।

औपनिवेशिक शासन के समय प्रांतों की सीमाएँ प्रशासनिक सुविधा के लिहाज से तय की गई थीं या ब्रिटिश सरकार ने जितने क्षेत्र को जीत लिया हो उतना क्षेत्र एक अलग प्रांत मान लिया जाता था। प्रांतों की सीमा इस बात से भी तय होती थी कि किसी रजवाड़े के अंतर्गत कितना इलाका शामिल है।

हमारी राष्ट्रीय सरकार ने ऐसे सीमांकन को बनावटी मानकर खारिज कर दिया। उसने भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का वायदा किया। सन् 1920 में कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन हुआ था। दरअसल, इसके बाद से ही इस सिद्धांत को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने मान लिया था कि राज्यों का पुनर्गठन भाषा के आधार पर होगा। अनेक प्रांतीय कांग्रेस-समितियों को भाषाई इलाके के आधार पर बनाया गया था और ये समितियाँ ब्रिटिश इंडिया के प्रशासनिक विभाजन को अपने कामकाज में नहीं बरतती थीं।

आज़ादी और बँटवारे के बाद स्थितियाँ बदलीं। हमारे नेताओं को चिंता हुई कि अगर भाषा के आधार पर प्रांत बनाए गए तो इससे अव्यवस्था फैल सकती है तथा देश के टूटने का खतरा पैदा हो सकता है। हमारे नेताओं को यह भी लग रहा था कि भाषावार राज्यों के गठन से दूसरी सामाजिक-आर्थिक चुनौतियों से ध्यान भटक सकता है जबकि देश इन चुनौतियों की चपेट में है। केंद्रीय नेतृत्व ने इस मसले को स्थगित करने का फ़ैसला किया। रजवाड़ों का मसला अभी हल नहीं हुआ था। बँटवारे की यादें अभी ताज़ा थीं

केंद्रीय नेतृत्व के इस फ़ैसले को स्थानीय नेताओं और लोगों ने चुनौती दी। पुराने मद्रास प्रांत के तेलुगु-भाषी क्षेत्रों में विरोध भड़क उठा। पुराने मद्रास प्रांत में आज के तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश शामिल थे। इसके कुछ हिस्से मौजूदा केरल एवं कर्नाटक में भी हैं। विशाल आंध्र आंदोलन (आंध्र प्रदेश नाम से अलग राज्य बनाने के लिए चलाया गया आंदोलन) ने माँग की कि मद्रास प्रांत के तेलुगुभाषी इलाकों को अलग करके एक नया राज्य आंध्र प्रदेश बनाया जाए। तेलुगु-भाषी क्षेत्र की लगभग सारी राजनीतिक शक्तियाँ मद्रास प्रांत के भाषाई पुनर्गठन के पक्ष में थीं।

केंद्र सरकार 'हाँ-ना' की दुविधा में थी और उसकी इस मनोदशा से इस आंदोलन ने ज़ोर पकड़ा। कांग्रेस के नेता और दिग्गज गाँधीवादी, पोट्टी श्रीरामुलु, अनिश्चितकालीन भूख-हड़ताल पर बैठ गए। 56 दिनों की भूख-हड़ताल के बाद उनकी मृत्यु हो गई। इससे बड़ी अव्यवस्था फैली और आंध्र प्रदेश में जगह-जगह हिंसक घटनाएँ हुईं। लोग बड़ी संख्या में सड़कों पर निकल आए। पुलिस फायरिंग में अनेक लोग घायल हुए या मारे गए। मद्रास में अनेक विधायकों ने विरोध जताते हुए अपनी सीट से इस्तीफा दे दिया। आखिरकार 1952 के दिसंबर में प्रधानमंत्री ने आंध्र प्रदेश नाम से अलग राज्य बनाने की घोषणा की।

> “*...यदि प्रांतों का गठन भाषावार हुआ तो क्षेत्रीय भाषाओं का ज़ोर बढ़ेगा। हिंदुस्तानी को सभी प्रांतों में शिक्षा का माध्यम बनाने का कोई अर्थ न रह जाएगा और अंग्रेज़ी को इस उद्देश्य के लिए इस्तेमाल करना तो और भी व्यर्थ है।*”
>
> **महात्मा गाँधी**
> जनवरी 1948

नोटः यह नक्शा किसी पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

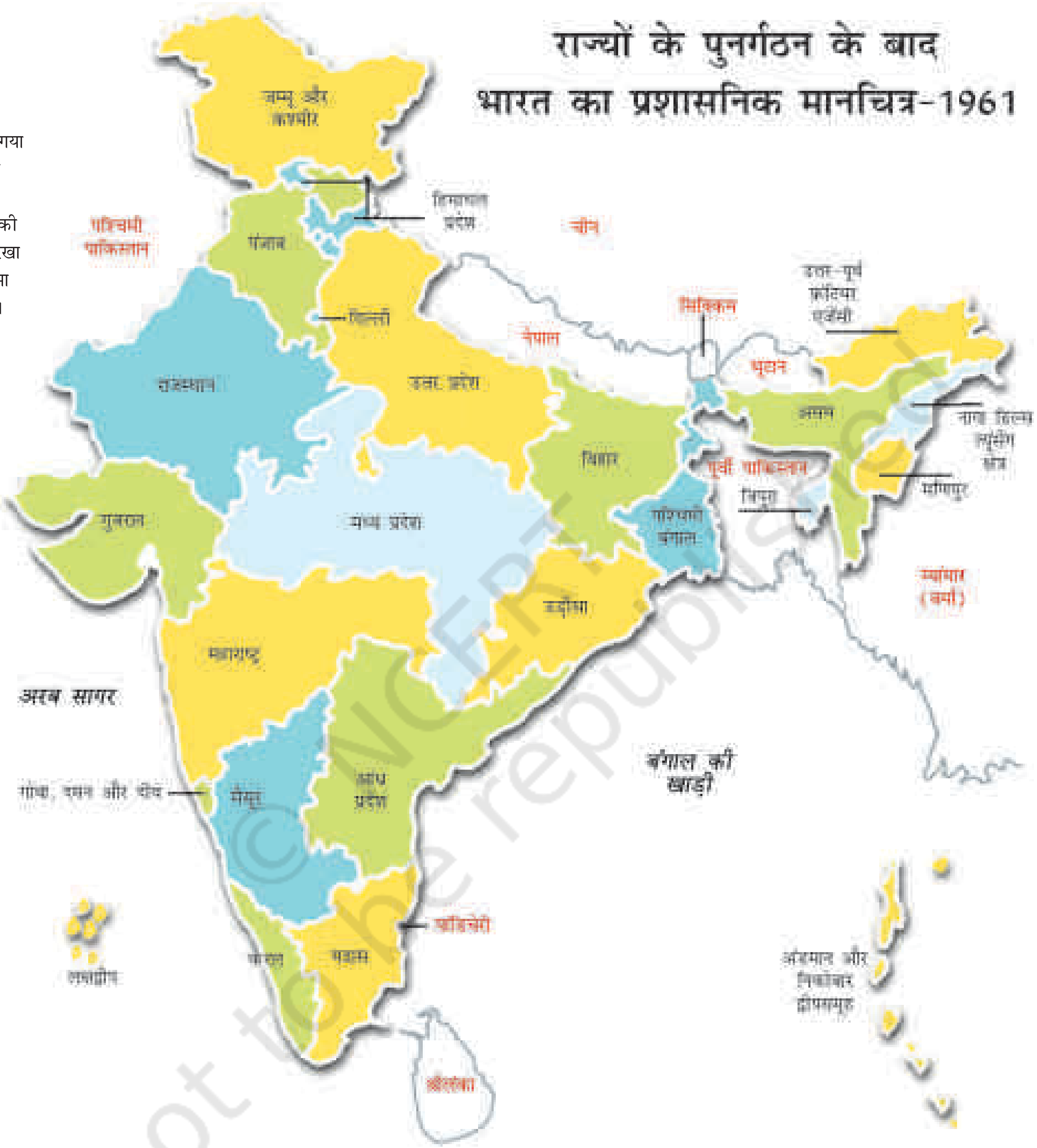

राज्यों के पुनर्गठन के बाद भारत का प्रशासनिक मानचित्र-1961

मानचित्र को ध्यान से देखें और निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दें:

1. स्वतंत्र राज्य बनने से पहले निम्नलिखित राज्य किन मूल राज्यों के अंग थे?
   (क) गुजरात (ख) हरियाणा
   (ग) मेघालय (घ) छत्तीसगढ़
2. देश के विभाजन से प्रभावित दो राज्यों के नाम बताएँ?
3. दो ऐसे राज्यों के नाम बताएँ जो पहले संघ-शासित राज्य थे?

साभार : शंकर

'स्ट्रगल फॉर सरवाइवल' (26 जुलाई 1953) शीर्षक यह कार्टून उस दौर के माहौल को दर्शाता है जब राज्यों को भाषाई आधार पर गठित करने की माँग ज़ोर पकड़ रही थी।

आंध्र के गठन के साथ ही देश के दूसरे हिस्सों में भी भाषाई आधार पर राज्यों को गठित करने का संघर्ष चल पड़ा। इन संघर्षों से बाध्य होकर केंद्र सरकार ने 1953 में राज्य पुनर्गठन आयोग बनाया। इस आयोग का काम राज्यों के सीमांकन के मामले पर गौर करना था। इसने अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया कि राज्यों की सीमाओं का निर्धारण वहाँ बोली जाने वाली भाषा के आधाार पर होना चाहिए। इस आयोग की रिपोर्ट के आधार पर 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पास हुआ। इस अधिनियम के आधार पर 14 राज्य और 6 केंद्र-शासित प्रदेश बनाए गए।

है न दिलचस्प बात? नेहरू और बाकी नेता बड़े लोकप्रिय थे तो भी भाषाई राज्य की माँग को लेकर लोग उनकी इच्छा के विरुद्ध आंदोलन करने से नहीं हिचकिचाए।

पोट्टी श्रीरामुलु (1901-1952): गाँधीवादी कार्यकर्ता; नमक सत्याग्रह में भाग लेने के लिए सरकारी नौकरी छोड़ी; वैयक्तिक सत्याग्रह में भी भागीदारी; 1946 में इस माँग को लेकर उपवास पर बैठे कि मद्रास प्रांत के मंदिर दलितों के लिए खोल दिए जाएँ; आंध्र नाम से अलग राज्य बनाने की माँग को लेकर 19 अक्तूबर 1952 से आमरण अनशन; 15 दिसम्बर 1952 को अनशन के दौरान मृत्यु।

साभार: शंकर

'कोक्सिंग द जेनी' (5 फरवरी, 1956) शीर्षक इस कार्टून में राज्य पुनर्गठन आयोग की भाषाई विवाद को सुलझाने की क्षमता पर सवाल उठाया गया है।

REPORT
OF THE
STATES REORGANISATION
COMMISSION
1955

आज़ादी के बाद के शुरुआती सालों में एक बड़ी चिंता यह थी कि अलग राज्य बनाने की माँग से देश की एकता पर आँच आएगी। आशंका थी कि नए भाषाई राज्यों में अलगाववाद की भावना पनपेगी और नव-निर्मित भारतीय राष्ट्र पर दबाव बढ़ेगा। जनता के दबाव में आखिरकर नेतृत्व ने भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का मन बनाया। उम्मीद थी कि अगर हर इलाके के क्षेत्रीय और भाषाई दावे को मान लिया गया तो बँटवारे और अलगाववाद के खतरे में कमी आएगी। इसके अलावा क्षेत्रीय माँगों को मानना और भाषा के आधार पर नए राज्यों का गठन करना एक लोकतांत्रिक कदम के रूप में भी देखा गया।

भाषावार राज्यों के पुनर्गठन की घटना को आज 50 साल से भी अधिक समय हो गया। हम कह सकते हैं कि भाषाई राज्य तथा इन राज्यों के गठन के लिए चले आंदोलनों ने लोकतांत्रिक राजनीति तथा नेतृत्व की प्रकृति को बुनियादी रूपों में बदला है। राजनीति और सत्ता में भागीदारी का रास्ता अब एक छोटे-से अंग्रेजीभाषी अभिजात तबके के लिए ही नहीं, बाकियों के लिए भी खुल चुका था। भाषावार पुनर्गठन से राज्यों के सीमांकन के लिए

© NCERT not to be republished

एक समरूप आधार भी मिला। बहुतों की आशंका के विपरीत इससे देश नहीं टूटा। इसके विपरीत देश की एकता और ज़्यादा मज़बूत हुई। सबसे बड़ी बात यह कि भाषावार राज्यों के पुनर्गठन से विभिन्नता के सिद्धांत को स्वीकृति मिली। जब हम कहते हैं कि भारत ने लोकतंत्र अपनाया है तो इसका सीधा-सा मतलब इतना भर नहीं होता कि भारत में लोकतांत्रिक संविधान पर अमल होता है अथवा भारत में चुनाव करवाए जाते हैं। भारत के लोकतांत्रिक होने का एक वृहत्तर अर्थ है। लोकतंत्र को चुनने का अर्थ था विभिन्नताओं को पहचानना और उन्हें स्वीकार करना। साथ ही, यह मानकर चलना कि विभिन्नताओं में आपसी विरोध भी हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो भारत में लोकतंत्र की धारणा विचारों और जीवन-पद्धतियों की बहुलता की धारणा से जुड़ी हुई थी। आगे के दिनों में अधिकतर राजनीति इसी दायरे में चली।

कुछ आगे की...

नए राज्यों का निर्माण

भाषावार राज्यों को पुनर्गठित करने के सिद्धांत को मान लेने का अर्थ यह नहीं था कि सभी राज्य तत्काल भाषाई राज्य में तब्दील हो गए। एक प्रयोग द्विभाषी राज्य बंबई के रूप में किया गया जिसमें गुजराती और मराठी भाषा बोलने वाले लोग थे। एक जन-आंदोलन के बाद सन् 1960 में महाराष्ट्र और गुजरात राज्य बनाए गए।

पंजाब में भी हिन्दी-भाषी और पंजाबी-भाषी दो समुदाय थे। पंजाबी-भाषी लोग अलग राज्य की माँग कर रहे थे। बहरहाल, बाकी राज्यों की तरह उनकी माँग 1956 में नहीं ही मानी गई। दस साल बाद यानी 1966 में पंजाबी-भाषी इलाके को पंजाब राज्य का दर्ज़ा दिया गया और वृहत्तर पंजाब से अलग करके हरियाणा और हिमाचल प्रदेश नाम के राज्य बनाए गए।

1972 में एक बार फिर राज्यों के पुनर्गठन का एक बड़ा प्रयास पूर्वोत्तर में हुआ। असम से अलग करके 1972 में मेघालय बनाया गया। इसी साल मणिपुर और त्रिपुरा भी अलग राज्य के रूप में अस्तित्व में आए। मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश 1987 में वजूद में आए जबकि नगालैंड इससे कहीं पहले यानी 1963 में ही राज्य बन गया था।

बहरहाल, राज्यों के पुनर्गठन में सिर्फ़ भाषा को आधार बनाया गया हो, ऐसी बात नहीं। बाद के वर्षों में अनेक उप-क्षेत्रों ने अलग क्षेत्रीय संस्कृति अथवा विकास के मामले में क्षेत्रीय असंतुलन के सवाल उठाकर अलग राज्य बनाने की माँग की। ऐसे तीन राज्य–छत्तीसगढ़, उत्तराखंड और झारखंड–सन् 2000 में बने। राज्यों के पुनर्गठन की कथा अभी समाप्त नहीं हुई है। देश के अनेक इलाकों में छोटे-छोटे अलग राज्य बनाने की माँग को लेकर आंदोलन चल रहे हैं। महाराष्ट्र में विदर्भ, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हरित प्रदेश और पश्चिम बंगाल के उत्तरी भाग में राज्य बनाने के ऐसे आंदोलन चल रहे हैं।

प्रश्नावली

1. भारत-विभाजन के बारे में निम्नलिखित कौन-सा कथन गलत है?
   (क) भारत-विभाजन "द्वि-राष्ट्र सिद्धांत" का परिणाम था।
   (ख) धर्म के आधार पर दो प्रांतों–पंजाब और बंगाल–का बँटवारा हुआ।
   (ग) पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान में संगति नहीं थी।
   (घ) विभाजन की योजना में यह बात भी शामिल थी कि दोनों देशों के बीच आबादी की अदला-बदली होगी।

2. निम्नलिखित सिद्धांतों के साथ उचित उदाहरणों का मेल करें :

(क) धर्म के आधार पर देश की सीमा का निर्धारण	1. पाकिस्तान और बांग्लादेश
(ख) विभिन्न भाषाओं के आधार पर देश की सीमा का निर्धारण	2. भारत और पाकिस्तान
(ग) भौगोलिक आधार पर किसी देश के क्षेत्रों का सीमांकन	3. झारखंड और छत्तीसगढ़
(घ) किसी देश के भीतर प्रशासनिक और राजनीतिक आधार पर क्षेत्रों का सीमांकन	4. हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड

3. भारत का कोई समकालीन राजनीतिक नक्शा लीजिए (जिसमें राज्यों की सीमाएँ दिखाई गई हों) और नीचे लिखी रियासतों के स्थान चिह्नित कीजिए–
   (क) जूनागढ़ (ख) मणिपुर
   (ग) मैसूर (घ) ग्वालियर

4. नीचे दो तरह की राय लिखी गई है :
   विस्मय : रियासतों को भारतीय संघ में मिलाने से इन रियासतों की प्रजा तक लोकतंत्र का विस्तार हुआ।
   इंद्रप्रीत : यह बात मैं दावे के साथ नहीं कह सकता। इसमें बलप्रयोग भी हुआ था जबकि लोकतंत्र में आम सहमति से काम लिया जाता है।
   देशी रियासतों के विलय और ऊपर के मशविरे के आलोक में इस घटनाक्रम पर आपकी क्या राय है?

5. नीचे 1947 के अगस्त के कुछ बयान दिए गए हैं जो अपनी प्रकृति में अत्यंत भिन्न हैं :
   आज आपने अपने सर पर काँटों का ताज पहना है। सत्ता का आसन एक बुरी चीज़ है। इस आसन पर आपको बड़ा सचेत रहना होगा... आपको और ज़्यादा विनम्र और धैर्यवान बनना होगा... अब लगातार आपकी परीक्षा ली जाएगी।

   –मोहनदास करमचंद गाँधी

   ...भारत आज़ादी की जिंदगी के लिए जागेगा... हम पुराने से नए की ओर कदम बढ़ाएँगे... आज दुर्भाग्य के एक दौर का खात्मा होगा और हिंदुस्तान अपने को फिर से पा लेगा... आज हम जो जश्न मना रहे हैं वह एक कदम भर है, संभावनाओं के द्वार खुल रहे हैं...

   –जवाहरलाल नेहरू

   इन दो बयानों से राष्ट्र-निर्माण का जो एजेंडा ध्वनित होता है उसे लिखिए। आपको कौन-सा एजेंडा जँच रहा है और क्यों?

© NCERT not to be republished

6. भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बनाने के लिए नेहरू ने किन तर्कों का इस्तेमाल किया। क्या आपको लगता है कि ये केवल भावनात्मक और नैतिक तर्क हैं अथवा इनमें कोई तर्क युक्तिपरक भी है?
7. आज़ादी के समय देश के पूर्वी और पश्चिमी इलाकों में राष्ट्र-निर्माण की चुनौती के लिहाज़ से दो मुख्य अंतर क्या थे?
8. राज्य पुनर्गठन आयोग का काम क्या था? इसकी प्रमुख सिफारिश क्या थी?
9. कहा जाता है कि राष्ट्र एक व्यापक अर्थ में 'कल्पित समुदाय' होता है और सर्वसामान्य विश्वास, इतिहास, राजनीतिक आकांक्षा और कल्पनाओं से एकसूत्र में बँधा होता है। उन विशेषताओं की पहचान करें जिनके आधार पर भारत एक राष्ट्र है।
10. नीचे लिखे अवतरण को पढ़िए और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दीजिए–

राष्ट्र-निर्माण के इतिहास के लिहाज से सिर्फ़ सोवियत संघ में हुए प्रयोगों की तुलना भारत से की जा सकती है। सोवियत संघ में भी विभिन्न और परस्पर अलग-अलग जातीय समूह, धर्म, भाषाई समुदाय और सामाजिक वर्गों के बीच एकता का भाव कायम करना पड़ा। जिस पैमाने पर यह काम हुआ, चाहे भौगोलिक पैमाने के लिहाज़ से देखें या जनसंख्यागत वैविध्य के लिहाज़ से, वह अपनेआप में बहुत व्यापक कहा जाएगा। दोनों ही जगह राज्य को जिस कच्ची सामग्री से राष्ट्र-निर्माण की शुरुआत करनी थी वह समान रूप से दुष्कर थी। लोग धर्म के आधार पर बँटे हुए और कर्ज़ तथा बीमारी से दबे हुए थे।

–रामचंद्र गुहा

(क) यहाँ लेखक ने भारत और सोवियत संघ के बीच जिन समानताओं का उल्लेख किया है, उनकी एक सूची बनाइए। इनमें से प्रत्येक के लिए भारत से एक उदाहरण दीजिए।

(ख) लेखक ने यहाँ भारत और सोवियत संघ में चली राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रियाओं के बीच की असमानता का उल्लेख नहीं किया है। क्या आप दो असमानताएँ बता सकते हैं?

(ग) अगर पीछे मुड़कर देखें तो आप क्या पाते हैं? राष्ट्र-निर्माण के इन दो प्रयोगों में किसने बेहतर काम किया और क्यों?

खुद करें-खुद समझें

किसी भारतीय अथवा पाकिस्तानी/बांग्लादेशी कथाकार की लिखी कोई कहानी या उपन्यास पढ़ें जिसमें बँटवारे का जिक्र आया हो। सीमा के इस तरफ़ के लोगों और सीमा के उस तरफ़ के लोगों के अनुभव कैसे एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं?

'खोजबीन' शीर्षक के अंतर्गत इस अध्याय में सुझाई गई तमाम कथाओं को एकत्र करें। एक वॉलपेपर तैयार करें और इसमें मिलते-जुलते अनुभवों वाले स्थल को रेखांकित करें। साथ ही, किसी अनूठे अनुभव को भी इसमें स्थान दें।

© NCERT not to be republished

साभार: शंकर

शंकर का यह मुखपृष्ठ प्रसिद्ध कार्टून उनके संग्रह 'डॉन्ट स्पेयर मी शंकर' के मुखपृष्ठ से लिया गया है। मूल कार्टून भारत की चीन नीति पर बनाया गया था लेकिन यहाँ यह कार्टून एक-दलीय प्रभुत्व के समय कांग्रेस द्वारा निभाई जा रही सत्ता पक्ष और विपक्ष की दोहरी भूमिका और दोहरी नीति को भी दर्शाता है।

इस अध्याय में...

पिछले अध्याय में हमने राष्ट्र-निर्माण की चुनौती के बारे में चर्चा की थी। राष्ट्र-निर्माण की चुनौती के तुरंत बाद हमारे सामने एक और चुनौती लोकतांत्रिक राजनीति की ज़मीन तैयार करने की थी। राजनीतिक दलों के बीच चुनावी प्रतिस्पर्धा आज़ादी के तुरंत बाद शुरू हो गई थी। इस अध्याय में हम चुनावी राजनीति के पहले दशक की बातों पर गौर करेंगे। इस चर्चा से हम निम्नलिखित बातों को समझ सकेंगे :

- एक स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव-प्रणाली की स्थापना;
- आज़ादी के बाद के शुरुआती सालों में कांग्रेस पार्टी का दबदबा;
- विपक्षी दलों और उनकी नीतियों का उद्भव।

अध्याय 2

एक दल के प्रभुत्व का दौर

12122CH02

लोकतंत्र स्थापित करने की चुनौती

आपको अब अंदाज़ा लग चुका होगा कि स्वतंत्र भारत का जन्म किन कठिन परिस्थितियों में हुआ। अपने देश के सामने शुरुआत से ही राष्ट्र-निर्माण की चुनौती थी और इन गंभीर चुनौतियों के बारे में आप पढ़ चुके हैं। ऐसी चुनौतियों की चपेट में आकर कई अन्य देशों के नेताओं ने फ़ैसला किया कि उनके देश में अभी लोकतंत्र को नहीं अपनाया जा सकता है। इन नेताओं ने कहा कि राष्ट्रीय एकता हमारी पहली प्राथमिकता है और लोकतंत्र को अपनाने से मतभेद और संघर्ष को बढ़ावा मिलेगा। उपनिवेशवाद के चंगुल से आज़ाद हुए कई देशों में इसी कारण अलोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था कायम हुई। इस अलोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था के कई रूप थे। कहीं पर थोड़ा-बहुत लोकतंत्र रहा, लेकिन प्रभावी नियंत्रण किसी एक नेता के हाथ में था तो कहीं पर एक दल का शासन कायम हुआ और कहीं-कहीं पर सीधे-सीधे सेना ने सत्ता की बागडोर सँभाली। अलोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं की शुरुआत इस वायदे से हुई कि जल्दी ही लोकतंत्र कायम कर दिया जाएगा। बहरहाल, एक बार कहीं अलोकतांत्रिक शासन के पाँव जम गए तो फिर उसे बदल पाना मुश्किल होता गया।

भारत में भी परिस्थितियाँ बहुत अलग नहीं थीं, लेकिन आज़ाद भारत के नेताओं ने अपने लिए कहीं ज़्यादा कठिन रास्ता चुनने का फ़ैसला किया। नेताओं ने कोई और रास्ता चुना होता तो वह आश्चर्य की बात होती क्योंकि हमारे स्वतंत्रता-संग्राम की गहरी प्रतिबद्धता लोकतंत्र से थी। हमारे नेता लोकतंत्र में राजनीति की निर्णायक भूमिका को लेकर सचेत थे। वे राजनीति को समस्या के रूप में नहीं देखते थे; वे राजनीति को समस्या के समाधान का उपाय मानते थे। हर समाज के लिए यह फ़ैसला करना ज़रूरी होता है कि उसका शासन कैसे चलेगा और वह किन कायदे-कानूनों पर अमल करेगा। चुनने के लिए हमेशा कई नीतिगत विकल्प मौजूद होते हैं। किसी भी समाज में कई समूह होते हैं। इनकी आकांक्षाएँ अकसर अलग-अलग और एक-दूसरे के विपरीत होती हैं। ऐसे में हम विभिन्न समूहों के हितों के आपसी टकराव से कैसे निपट सकते हैं? इसी सवाल का जवाब है–लोकतांत्रिक राजनीति। सत्ता और प्रतिस्पर्धा राजनीति की दो सबसे ज़्यादा ज़ाहिर चीज़ें हैं। लेकिन, राजनीतिक गतिविधि का उद्देश्य जनहित का फ़ैसला करना और उस पर अमल करना होता है और ऐसा होना भी चाहिए। हमारे नेताओं ने इसी रास्ते को चुनने का फ़ैसला किया।

पिछले साल आपने पढ़ा कि हमारा संविधान कैसे बना। आपको याद होगा कि हमारा संविधान 26 नवम्बर 1949 को अंगीकृत किया गया और 24 जनवरी 1950 को इस पर हस्ताक्षर हुए। यह संविधान 26 जनवरी 1950 से अमल में आया। उस वक्त देश का शासन अंतरिम सरकार चला रही थी। वक्त का तकाज़ा था कि देश का शासन लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित सरकार द्वारा चलाया जाए। संविधान ने नियम तय कर दिए थे और अब इन्हीं नियमों पर अमल करने की ज़रूरत थी। शुरू-शुरू में ख्याल था कि यह काम महज चंद महीनों का है। भारत के चुनाव आयोग का गठन 1950 के जनवरी में हुआ। सुकुमार सेन पहले चुनाव आयुक्त बने। उम्मीद की जा रही थी कि देश का पहला आम चुनाव 1950 में ही किसी वक्त हो जाएगा।

“हिंदुस्तान की राजनीति में नायक-पूजा जितनी बड़ी भूमिका अदा करती है, उसकी तुलना दुनिया के किसी भी देश की राजनीति में मौजूद नायक-पूजा के भाव से नहीं की जा सकती... लेकिन राजनीति में नायक-पूजा का भाव सीधे पतन की ओर ले जाता है और यह रास्ता तानाशाही की तरफ़ जाता है...”

डॉ. भीमराव अंबेडकर
संविधान सभा में भाषण
25 नवंबर, 1949

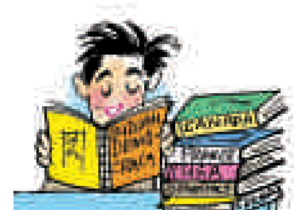

हमारे लोकतंत्र में ही ऐसी कौन-सी खूबी है? आखिर देर-सबेर हर देश ने लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपना ही लिया है। है न?

© NCERT not to be republished

यह एक सही फ़ैसला था। लेकिन ऐसे लोगों का क्या किया जाए जो अभी भी औरतों को किसी की पत्नी के रूप में देखने के आदी हैं। इस तरह के व्यवहार से लगता है, मानो एक स्त्री का कोई नाम ही न हो।

बहरहाल, चुनाव आयोग ने पाया कि भारत के आकार को देखते हुए एक स्वतंत्र और निष्पक्ष आम चुनाव कराना कोई आसान मामला नहीं है। चुनाव कराने के लिए चुनाव क्षेत्रों का सीमांकन ज़रूरी था। फिर, मतदाता-सूची यानी मताधिकार प्राप्त वयस्क व्यक्तियों की सूची बनाना भी आवश्यक था। इन दोनों कामों में बहुत सारा समय लगा। मतदाता-सूचियों का जब पहला प्रारूप प्रकाशित हुआ तो पता चला कि इसमें 40 लाख महिलाओं के नाम दर्ज़ होने से रह गए हैं। इन महिलाओं को 'अलां की बेटी' 'फलां की बीवी'.... के रूप में दर्ज़ किया गया था। चुनाव आयोग ने ऐसी प्रविष्टियों को मानने से इनकार कर दिया। आयोग ने फ़ैसला किया कि संभव हो तो इसका पुनरावलोकन किया जाए और ज़रूरी लगे तो ऐसी प्रविष्टियों को हटाया जाए। यह अपने आप में हिमालय की चढ़ाई जैसा दुष्कर काम था। इतने बड़े पैमाने का ऐसा काम दुनिया में अब तक नहीं हुआ था। उस वक्त देश में 17 करोड़ मतदाता थे। इन्हें 3200 विधायक और लोकसभा के लिए 489 सांसद चुनने थे। इन मतदाताओं में महज 15 फीसदी साक्षर थे। इस कारण चुनाव आयोग को मतदान की विशेष पद्धति के बारे में भी सोचना पड़ा। चुनाव आयोग ने चुनाव कराने के लिए 3 लाख से ज्यादा अधिकारियों और चुनावकर्मियों को प्रशिक्षित किया।

देश के विशाल आकार और मतदाताओं की भारी-भरकम संख्या के लिहाज़ से ही पहला आम चुनाव अनूठा नहीं था, बल्कि मतदाताओं की एक बड़ी तादाद गरीब और अनपढ़ लोगों की थी और ऐसे माहौल में यह चुनाव लोकतंत्र के लिए परीक्षा की कठिन घड़ी था। इस वक्त तक लोकतंत्र सिर्फ धनी देशों में ही कायम था। उस समय यूरोप के बहुतेरे देशों में महिलाओं को मताधिकार नहीं मिला था। ऐसे में हिंदुस्तान में सार्वभौम मताधिकार पर अमल

साभार : शंकर, 20 मई 1951

1951 में कांग्रेस द्वारा पार्टी उम्मीदवार चुनने के लिए बनाई गई चुनाव समिति पर कार्टूनिस्ट का एक नज़रिया। समिति में नेहरू के अलावा मोरारजी देसाई, रफ़ी अहमद किदवई, डॉ. बी.सी. रॉय, कामराज नाडार, राजगोपालाचारी, जगजीवन राम, मौलाना आज़ाद, डी.पी. मिश्रा, पी.डी. टंडन और गोविन्द बल्लभ पंत दिखाई दे रहे हैं।

© NCERT not to be republished

मतदान के बदलते तरीके

लोकसभा के तीसरे आम चुनाव से तेरहवें आम चुनाव तक इस्तेमाल किए गए बैलट पेपर का एक नमूना

इन दिनों इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन का इस्तेमाल होता है। इसके जरिए मतदाता उम्मीदवारों के बारे में अपनी पसंद जाहिर करते हैं। लेकिन शुरू-शुरू में इसके लिए दूसरा तरीका अपनाया गया था। पहले आम चुनाव में फ़ैसला किया गया था कि हर एक मतदान केंद्र में प्रत्येक उम्मीदवार के लिए एक मतपेटी रखी जाएगी और मतपेटी पर उम्मीदवार का चुनाव-चिह्न अंकित होगा। प्रत्येक मतदाता को एक खाली मतपत्र दिया जाएगा जिसे वह अपने पसंद के उम्मीदवार की मतपेटी में डालेगा। इस काम के लिए तकरीबन 20 लाख स्टील के बक्सों का इस्तेमाल हुआ। पंजाब के एक पीठासीन पदाधिकारी ने मतपेटियों की तैयारी का ब्यौरा कुछ इस तरह बयान किया है : ''हर एक मतपेटी के भीतर और बाहर संबद्ध उम्मीदवार का चुनाव-चिह्न अंकित करना था और मतपेटी के बाहर किसी एक तरफ़ उम्मीदवार का नाम उर्दू, हिंदी और पंजाबी में लिखना था। इसके साथ-साथ चुनाव-क्षेत्र, चुनाव-केंद्र और मतदान-केंद्र की संख्या भी यहीं दर्ज करनी थी। उम्मीदवार के आंकिक ब्यौरे वाला एक कागज़ी मुहरबंद पीठासीन पदाधिकारी के दस्तखत के साथ मतपेटी में लगाना था। मतपेटी के ढक्कन को तार के सहारे बाँधना था और इसी जगह पर मुहरबंद लगाना था। यह सारा काम चुनाव की नियत तारीख से ठीक एक दिन पहले करना था। चुनाव-चिह्न और बाकी ब्यौरों को दर्ज करने के लिए मतपेटी को पहले सरेस कागज या ईंट के टुकड़े से रगड़ना पड़ता था। कुल छह लोगों ने पाँच घंटे लगातार काम किया तब कहीं जाकर यह काम पूरा हुआ। इस काम में मेरी दो बेटियाँ भी लगी हुई थीं। यह सारा काम मेरे घर पर ही हुआ।''

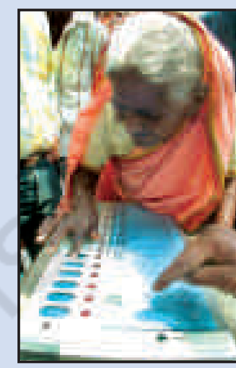

इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन

शुरुआती दो चुनावों के बाद यह तरीका बदल दिया गया। अब मतपत्र पर हर उम्मीदवार का नाम और चुनाव-चिह्न अंकित किया जाने लगा। मतदाता को इस मतपत्र पर अपने पसंद के उम्मीदवार के नाम पर मुहर लगानी होती थी। यह तरीका अगले चालीस सालों तक अमल में रहा। सन् 1990 के दशक के अंत में चुनाव आयोग ने इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (ईवीएम) का इस्तेमाल शुरू किया। 2004 तक पूरे देश में ईवीएम का इस्तेमाल चालू हो गया।

खोज-बीन

अपने परिवार और पड़ोस के बुजुर्गों से चुनाव में भागीदारी के उनके अनुभवों के बारे में पूछिए।

- क्या इनमें से किसी ने पहले या दूसरे आम चुनाव में भाग लिया था? इन लोगों ने किसको वोट दिया और वोट देने का कारण क्या था?
- क्या इनमें कोई ऐसा व्यक्ति है जिसने तीनों तरीके से मतदान किया हो? कौन-सा तरीका उसे सबसे ज्यादा पसंद आया?
- उस दौर के चुनावों की तुलना में आज के समय के चुनावों में इन्हें क्या-क्या फ़र्क नजर आते हैं?

not to be republished

मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद (1888–1958): मूल नाम – अबुल कलाम मोहियुद्दीन अहमद; इस्लाम के विद्वान; स्वतंत्रता सेनानी और कांग्रेस के नेता; हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रतिपादक; विभाजन के विरोधी; संविधान सभा के सदस्य; स्वतंत्र भारत में बने पहले मंत्रिमंडल में शिक्षामंत्री

हुआ और यह अपने आप में बड़ा जोखिम भरा प्रयोग था। एक हिंदुस्तानी संपादक ने इसे "इतिहास का सबसे बड़ा जुआ" करार दिया। 'आर्गनाइजर' नाम की पत्रिका ने लिखा कि जवाहरलाल नेहरू "अपने जीवित रहते ही यह देख लेंगे और पछताएँगे कि भारत में सार्वभौम मताधिकार असफल रहा।" इंडियन सिविल सर्विस के एक अँग्रेज़ नुमाइंदे का दावा था कि "आने वाला वक्त और अब से कहीं ज्यादा जानकार दौर बड़े विस्मय से लाखों अनपढ़ लोगों के मतदान की यह बेहूदी नौटंकी देखेगा।"

चुनावों को दो बार स्थगित करना पड़ा और आखिरकार 1951 के अक्तूबर से 1952 के फरवरी तक चुनाव हुए। बहरहाल, इस चुनाव को अमूमन 1952 का चुनाव ही कहा जाता है क्योंकि देश के अधिकांश हिस्सों में मतदान 1952 में ही हुए। चुनाव अभियान, मतदान और मतगणना में कुल छह महीने लगे। चुनावों में उम्मीदवारों के बीच मुकाबला भी हुआ। औसतन हर सीट के लिए चार उम्मीदवार चुनाव के मैदान में थे। लोगों ने इस चुनाव में बढ़-चढ़कर हिस्सेदारी की। कुल मतदाताओं में आधे से अधिक ने मतदान के दिन अपना वोट डाला। चुनावों के परिणाम घोषित हुए तो हारने वाले उम्मीदवारों ने भी इन परिणामों को निष्पक्ष बताया। सार्वभौम मताधिकार के इस प्रयोग ने आलोचकों का मुँह बंद कर दिया। टाइम्स ऑफ इंडिया ने माना कि इन चुनावों ने "उन सभी आलोचकों के संदेहों पर पानी फेर दिया है जो सार्वभौम मताधिकार की इस शुरुआत को इस देश के लिए जोखिम का सौदा मान रहे थे।" देश से बाहर के पर्यवेक्षक भी हैरान थे। हिंदुस्तान टाइम्स ने लिखा- "यह बात हर जगह मानी जा रही है कि भारतीय जनता ने विश्व के इतिहास में लोकतंत्र के सबसे बड़े प्रयोग को बखूबी अंजाम दिया।" 1952 का आम चुनाव पूरी दुनिया में लोकतंत्र के इतिहास के लिए मील का पत्थर साबित हुआ। अब यह दलील दे पाना संभव नहीं रहा कि लोकतांत्रिक चुनाव गरीबी अथवा अशिक्षा के माहौल में नहीं कराए जा सकते। यह बात साबित हो गई कि दुनिया में कहीं भी लोकतंत्र पर अमल किया जा सकता है।

पहले तीन चुनावों में कांग्रेस का प्रभुत्व

पहले आम चुनाव के नतीजों से शायद ही किसी को अचंभा हुआ हो। आशा यही थी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस चुनाव में जीत जाएगी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का लोकप्रचलित नाम कांग्रेस पार्टी था और इस पार्टी को स्वाधीनता संग्राम की विरासत हासिल थी। तब के दिनों में यही एकमात्र पार्टी थी जिसका संगठन पूरे देश में था। फिर, इस पार्टी में खुद जवाहरलाल नेहरू थे जो भारतीय राजनीति के सबसे करिश्माई और लोकप्रिय नेता थे। नेहरू ने कांग्रेस पार्टी के चुनाव अभियान की अगुआई की और पूरे देश का दौरा किया। जब चुनाव परिणाम घोषित हुए तो कांग्रेस पार्टी की भारी-भरकम जीत से बहुतों को आश्चर्य हुआ। इस पार्टी ने लोकसभा के पहले चुनाव में कुल 489 सीटों में 364 सीटें जीतीं और इस तरह वह किसी भी प्रतिद्वंद्वी से चुनावी दौड़ में बहुत आगे निकल गई। जहाँ तक सीटों पर जीत हासिल करने का सवाल है, पहले आम चुनाव में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी दूसरे नंबर पर रही। उसे

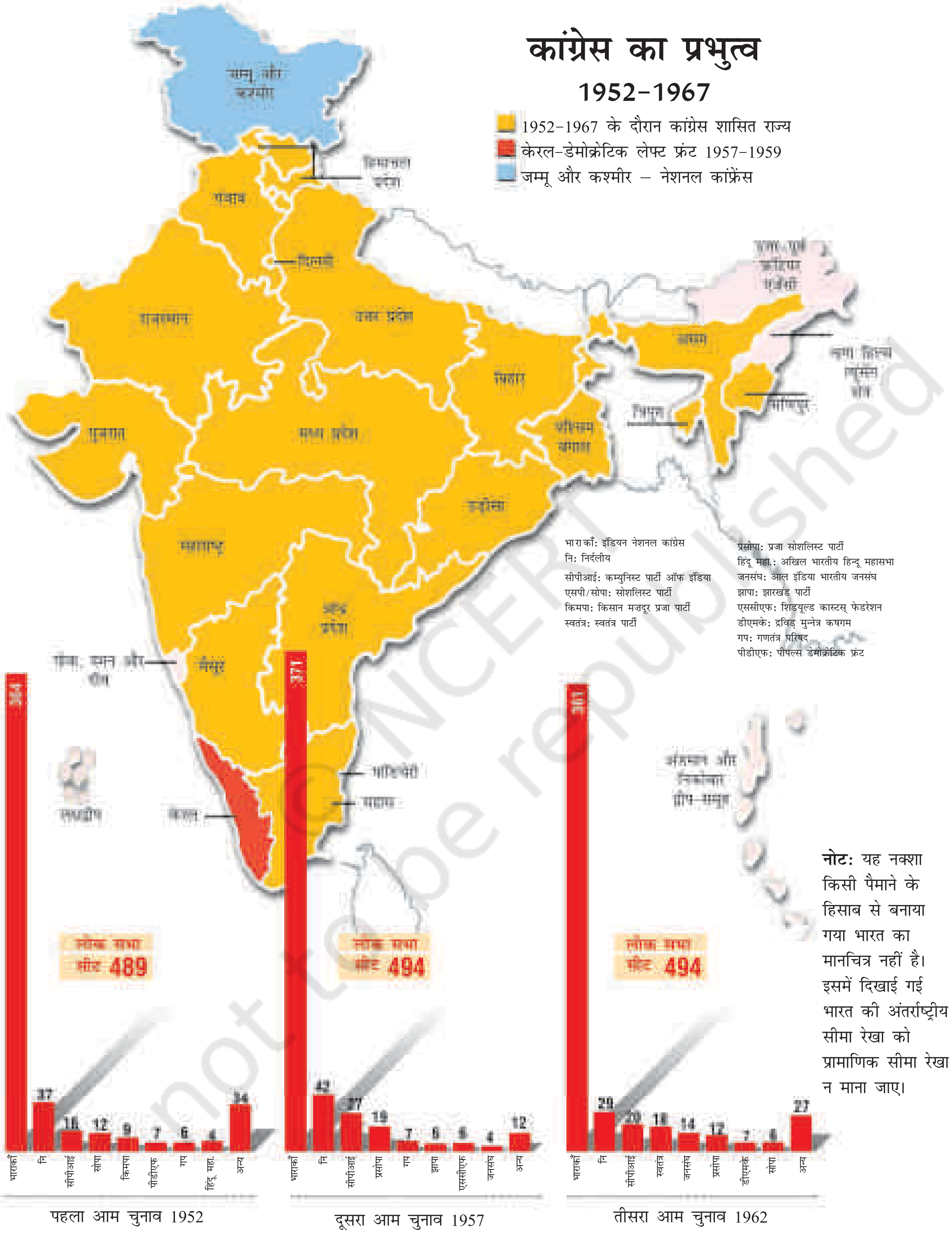

नोट: यह नक्शा किसी पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

क्या आप उन जगहों को पहचान सकते हैं जहाँ कांग्रेस बहुत मज़बूत थी?
किन प्रांतों में दूसरी पार्टियों को ज़्यादातर सीटें मिलीं?

Congress Voted Back To Power At Centre

266 SEATS ANNEXED SO FAR OUT OF 500

THE Congress Party has been voted back to power at the Centre. By Wednesday night, it had secured [illegible] seats—15 more than needed for an absolute majority in the 500-member Lok Sabha. The combined Opposition strength at that stage was 83.

This verdict in favour of a Congress Government at the Centre for the next five years came on the same day as the communists made virtually sure of forming a Government in Kerala.

Reds' Success In Kerala

Working Majority Achieved

साभार: द हिंदू

कुल 16 सीट हासिल हुईं। लोकसभा के चुनाव के साथ-साथ विधानसभा के भी चुनाव कराए गए थे। कांग्रेस पार्टी को विधानसभा के चुनावों में भी बड़ी जीत हासिल हुई। त्रावणकोर-कोचीन (आज के केरल का एक हिस्सा), मद्रास और उड़ीसा को छोड़कर सभी राज्यों में कांग्रेस ने अधिकतर सीटों पर जीत दर्ज़ की। आखिरकार इन तीन राज्यों में भी कांग्रेस की ही सरकार बनी। इस तरह राष्ट्रीय और प्रांतीय स्तर पर पूरे देश में कांग्रेस पार्टी का शासन कायम हुआ। उम्मीद के मुताबिक जवाहरलाल नेहरू पहले आम चुनाव के बाद प्रधानमंत्री बने।

यहाँ एक चुनावी मानचित्र दिया गया है। इस पर एक नज़र दौड़ाने से आपको अंदाज़ा लग जाएगा कि 1952-1962 के बीच कांग्रेस पार्टी किस कदर हावी थी। दूसरा आम चुनाव 1957 में और तीसरा 1962 में हुआ। इन चुनावों में भी कांग्रेस पार्टी ने लोकसभा में अपनी पुरानी स्थिति बरकरार रखी और उसे तीन-चौथाई सीटें मिली। कांग्रेस पार्टी ने जितनी सीटें जीती थीं उसका दशांश भी कोई विपक्षी पार्टी नहीं जीत सकी। विधानसभा के चुनावों में कहीं-कहीं कांग्रेस को बहुमत नहीं मिला। ऐसा ही एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण केरल का है। 1957 में केरल में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की अगुआई में एक गठबंधन सरकार बनी। ऐसे एकाध मामलों को अपवाद मान लें तो कहा जा सकता है कि केंद्र सरकार और प्रांतीय सरकारों पर कांग्रेस पार्टी का पूरा नियंत्रण था।

कांग्रेस पार्टी की जीत का यह आँकड़ा और दायरा हमारी चुनाव-प्रणाली के कारण भी बढ़ा-चढ़ा दिखता है। चुनाव प्रणाली के कारण कांग्रेस पार्टी की जीत को अलग से बढ़ावा मिला। मिसाल के लिए, 1952 में कांग्रेस पार्टी को कुल वोटों में से मात्र 45 प्रतिशत वोट हासिल हुए थे लेकिन कांग्रेस को 74 फीसदी सीटें हासिल हुईं। सोशलिस्ट पार्टी वोट हासिल करने के लिहाज़ से दूसरे नंबर पर रही। उसे 1952 के चुनाव में पूरे देश में कुल 10 प्रतिशत वोट मिले थे लेकिन यह पार्टी 3 प्रतिशत सीटें भी नहीं जीत पायी। आखिर यह हुआ कैसे? पिछले साल 'भारतीय संविधान : सिद्धान्त और व्यवहार' नामक किताब में आपने 'सर्वाधिक वोट पाने वाले की जीत' के बारे में पढ़ा था। इससे जुड़ी चर्चा को अगर याद करें तो आपको इस सवाल का जवाब मिल जाएगा।

हमारे देश की चुनाव-प्रणाली में 'सर्वाधिक वोट पाने वाले की जीत' के तरीके को अपनाया गया है। ऐसे में अगर कोई पार्टी बाकियों की अपेक्षा थोड़े ज्यादा वोट हासिल करती है तो दूसरी पार्टियों को प्राप्त वोटों के अनुपात की तुलना में उसे कहीं ज्यादा सीटें हासिल होती हैं। यही चीज कांग्रेस पार्टी के पक्ष में साबित हुई। अगर हम सभी गैर-कांग्रेसी उम्मीदवारों के वोट जोड़ दें तो वह कांग्रेस पार्टी को हासिल कुल वोट से कहीं ज्यादा होंगे। लेकिन गैर-कांग्रेसी वोट विभिन्न प्रतिस्पर्धी पार्टियों और उम्मीदवारों में बँट गए। इस तरह कांग्रेस बाकी पार्टियों की तुलना में आगे रही और उसने ज्यादा सीटें जीतीं।

राजकुमारी अमृतकौर (1889-1964): गाँधीवादी स्वतंत्रता सेनानी; कपूरथला के राजपरिवार में जन्म; विरासत में माता से ईसाई धर्म मिला; संविधान सभा की सदस्य; स्वतंत्र भारत के पहले मंत्रिमंडल में स्वास्थ्य मंत्री; 1957 तक स्वास्थ्य मंत्री के पद पर रहीं।

केरल में कम्युनिस्टों की जीत

1957 में ही कांग्रेस पार्टी को केरल में हार का स्वाद चखना पड़ गया था। 1957 के मार्च महीने में जो विधानसभा के चुनाव हुए उसमें कम्युनिस्ट पार्टी को केरल की विधानसभा के लिए सबसे ज्यादा सीटें मिलीं। कम्युनिस्ट पार्टी को कुल 126 में से 60 सीटें हासिल हुईं और पाँच स्वतंत्र उम्मीदवारों का भी समर्थन इस पार्टी को प्राप्त था। राज्यपाल ने कम्युनिस्ट विधायक दल के नेता ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद को सरकार बनाने का न्यौता दिया। दुनिया में यह पहला अवसर था जब एक कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार लोकतांत्रिक चुनावों के जरिए बनी।

केरल में सत्ता से बेदखल होने पर कांग्रेस पार्टी ने निर्वाचित सरकार के खिलाफ़ 'मुक्ति संघर्ष' छेड़ दिया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी सत्ता में इस वायदे के साथ आई थी कि वह कुछ क्रांतिकारी तथा प्रगतिशील नीतिगत पहल करेगी। कम्युनिस्टों का कहना था कि इस संघर्ष की अगुआई निहित स्वार्थ और धार्मिक संगठन कर रहे हैं। 1959 में केंद्र की कांग्रेस सरकार ने संविधान के अनुच्छेद 356 के अंतर्गत केरल की कम्युनिस्ट सरकार को बर्खास्त कर दिया। यह फ़ैसला बड़ा विवादास्पद साबित हुआ। संविधान-प्रदत्त आपात्कालीन शक्तियों के दुरुपयोग के पहले उदाहरण के रूप में इस फ़ैसले का बार-बार उपयोग किया गया।

साभार: द हिंदू

अगस्त 1959 में अपने मंत्रालय को बर्खास्त किए जाने के बाद त्रिवेन्द्रम में कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं के प्रदर्शन का नेतृत्व करते ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद।

सोशलिस्ट पार्टी

सोशलिस्ट पार्टी की जड़ों को आज़ादी से पहले के उस वक्त में ढूँढ़ा जा सकता है जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जनआंदोलन चला रही थी। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन खुद कांग्रेस के भीतर 1934 में युवा नेताओं की एक टोली ने किया था। ये नेता कांग्रेस को ज़्यादा-से-ज़्यादा परिवर्तनकामी और समतावादी बनाना चाहते थे। 1948 में कांग्रेस ने अपने संविधान में बदलाव किया। यह बदलाव इसलिए किया गया था ताकि कांग्रेस के सदस्य दोहरी सदस्यता न धारण कर सकें। इस वजह से कांग्रेस के समाजवादियों को मजबूरन 1948 में अलग होकर सोशलिस्ट पार्टी बनानी पड़ी। सोशलिस्ट पार्टी चुनावों में कुछ खास कामयाबी हासिल नहीं कर सकी। इससे पार्टी के समर्थकों को बड़ी निराशा हुई। हालाँकि सोशलिस्ट पार्टी की मौजूदगी हिंदुस्तान के अधिकतर राज्यों में थी लेकिन पार्टी को चुनावों में छिटपुट सफलता ही मिली।

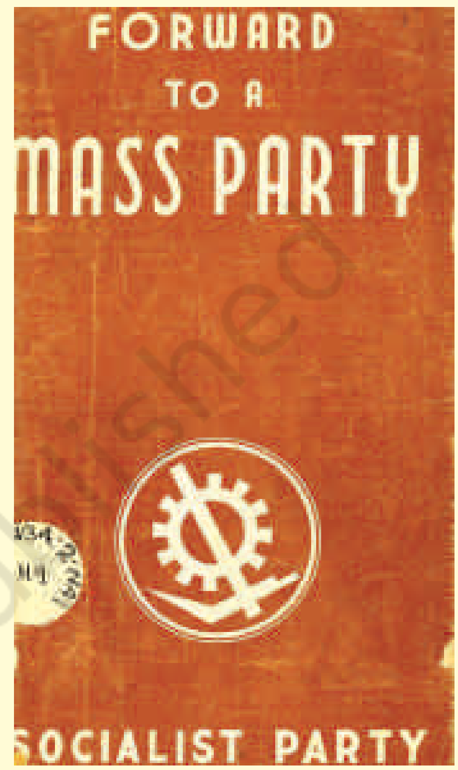

समाजवादी लोकतांत्रिक समाजवाद की विचारधारा में विश्वास करते थे और इस आधार पर वे कांग्रेस तथा साम्यवादी (कम्युनिस्ट) दोनों से अलग थे। वे कांग्रेस की आलोचना करते थे कि वह पूँजीपतियों और जमींदारों का पक्ष ले रही है और मज़दूरों-किसानों की उपेक्षा कर रही है। समाजवादियों को 1955 में दुविधा की स्थिति का सामना करना पड़ा क्योंकि कांग्रेस ने घोषणा कर दी कि उसका लक्ष्य समाजवादी बनावट वाले समाज की रचना है। ऐसे में समाजवादियों के लिए खुद को कांग्रेस का कारगर विकल्प बनाकर पेश करना मुश्किल हो गया। राममनोहर लोहिया के नेतृत्व में कुछ समाजवादियों ने कांग्रेस से अपनी दूरी बढ़ायी और कांग्रेस की आलोचना की। कुछ अन्य समाजवादियों मसलन अशोक मेहता ने कांग्रेस से हल्के-फुल्के सहयोग की तरफदारी की।

सोशलिस्ट पार्टी के कई टुकड़े हुए और कुछ मामलों में बहुधा मेल भी हुआ। इस प्रक्रिया में कई समाजवादी दल बने। इन दलों में, किसान मज़दूर प्रजा पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी का नाम लिया जा सकता है। जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, अशोक मेहता, आचार्य नरेन्द्र देव, राममनोहर लोहिया और एस.एम. जोशी समाजवादी दलों के नेताओं में प्रमुख थे। मौजूदा हिंदुस्तान के कई दलों जैसे समाजवादी पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल, जनता दल (यूनाइटेड) और जनता दल (सेक्युलर) पर सोशलिस्ट पार्टी की छाप देखी जा सकती है।

आचार्य नरेन्द्र देव (1889-1956): स्वतंत्रता सेनानी और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के संस्थापक; आज़ादी के आंदोलन के दौरान कई बार जेल गए; किसान आंदोलन में सक्रिय; बौद्ध धर्म के विद्वान; आज़ादी के बाद पहले सोशलिस्ट पार्टी का और बाद में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का नेतृत्व।

© NCERT not to be republished

कांग्रेस के प्रभुत्व की प्रकृति

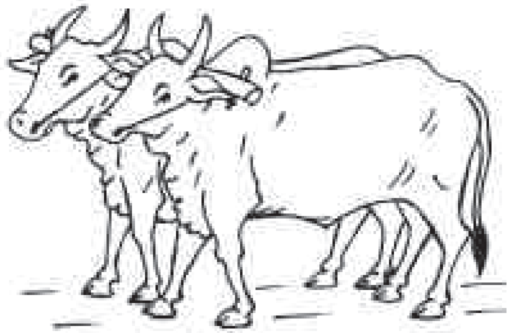

भारत ही एकमात्र ऐसा देश नहीं है जो एक पार्टी के प्रभुत्व के दौर से गुजरा हो। अगर हम दुनिया के बाकी मुल्कों पर नजर दौड़ाएँ तो हमें एक पार्टी के प्रभुत्व के बहुत-से उदाहरण मिलेंगे। बहरहाल, बाकी मुल्कों में एक पार्टी के प्रभुत्व और भारत में एक पार्टी के प्रभुत्व के बीच एक बड़ा भारी फर्क है। बाकी मुल्कों में एक पार्टी का प्रभुत्व लोकतंत्र की कीमत पर कायम हुआ। कुछ देशों मसलन चीन, क्यूबा और सीरिया के संविधान में सिर्फ एक ही पार्टी को देश के शासन की अनुमति दी गई है। कुछ और देशों जैसे म्यांमार, बेलारूस और इरीट्रिया में एक पार्टी का प्रभुत्व कानूनी और सैन्य उपायों के चलते कायम हुआ है। अब से कुछ साल पहले तक मैक्सिको, दक्षिण कोरिया और ताईवान भी एक पार्टी के प्रभुत्व वाले देश थे। भारत में कायम एक पार्टी का प्रभुत्व इन उदाहरणों से कहीं अलग है। यहाँ एक पार्टी का प्रभुत्व लोकतांत्रिक स्थितियों में कायम हुआ। अनेक पार्टियों ने मुक्त और निष्पक्ष चुनाव के माहौल में एक-दूसरे से होड़ की और तब भी कांग्रेस पार्टी एक के बाद एक चुनाव जीतती गई। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की समाप्ति के बाद अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस का भी कुछ

PRI

इंस्टीट्यूशनल रिवोल्यूशनरी पार्टी (स्पेनिश में इसे पीआरआई कहा जाता है) का मैक्सिको में लगभग साठ सालों तक शासन रहा। इस पार्टी की स्थापना 1929 में हुई थी। तब इसे नेशनल रिवोल्यूशनरी पार्टी कहा जाता था। इसे मैक्सिकन क्रांति की विरासत हासिल थी। मूल रूप से पीआरआई में राजनेता और सैनिक-नेता, मज़दूर और किसान संगठन तथा अनेक राजनीतिक दलों समेत कई किस्म के हितों का संगठन था। समय बीतने के साथ पीआरआई के संस्थापक प्लूटार्को इलियास कैलस ने इसके संगठन पर कब्जा जमा लिया और इसके बाद नियमित रूप से होने वाले चुनावों में हर बार पीआरआई ही विजयी होती रही। बाकी पार्टियाँ बस नाम की थीं ताकि शासक दल को वैधता मिलती रहे। चुनाव के नियम इस तरह तय किए गए कि पीआरआई की जीत हर बार पक्की हो सके। शासक दल ने अकसर चुनावों में हेर-फेर और धाँधली की। पीआरआई के शासन को 'परिपूर्ण तानाशाही' कहा जाता है। आखिरकार सन् 2000 में हुए राष्ट्रपति पद के चुनाव में यह पार्टी हारी। मैक्सिको अब एक पार्टी के दबदबे वाला देश नहीं रहा। बहरहाल, अपने दबदबे के दौर में पीआरआई ने जो दाँव-पेंच अपनाए थे उनका लोकतंत्र की सेहत पर बड़ा खराब असर पड़ा है। स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव की बात पर अब भी नागरिकों का पूरा विश्वास नहीं जम पाया है।

बाबा साहब भीमराव रामजी अंबेडकर (1891-1956): जाति विरोधी आंदोलन के नेता और दलितों को न्याय दिलाने के संघर्ष के अगुआ; विद्वान और बुद्धिजीवी; इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी के संस्थापक; बाद में शिडयूल्ड कास्ट्स् फेडरेशन की स्थापना; रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया के गठन के योजनाकार; दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान वायसराय की काउंसिल में सदस्य; संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष; आज़ादी के बाद नेहरू के पहले मंत्रिमंडल में मंत्री; हिंदू कोड बिल के मुद्दे पर अपनी असहमति दर्ज कराते हुए 1951 में इस्तीफा; 1956 में अपने हज़ारों अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म अपनाया।

© NCERT not to be republished

ऐसा ही दबदबा कायम हुआ है। भारत का उदाहरण बहुत कुछ दक्षिण अफ्रीका से मिलता-जुलता है।

कांग्रेस पार्टी की इस असाधारण सफलता की जड़ें स्वाधीनता-संग्राम की विरासत में हैं। कांग्रेस पार्टी को राष्ट्रीय आंदोलन के वारिस के रूप में देखा गया। आज़ादी के आंदोलन में अग्रणी रहे अनेक नेता अब कांग्रेस के उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ रहे थे। कांग्रेस पहले से ही एक सुसंगठित पार्टी थी। बाकी दल अभी अपनी रणनीति सोच ही रहे होते थे कि कांग्रेस अपना अभियान शुरू कर देती थी। दरअसल, अनेक पार्टियों का गठन स्वतंत्रता के समय के आस-पास अथवा उसके बाद में हुआ। कांग्रेस को 'अव्वल और एकलौता' होने का फायदा मिला। आज़ादी के वक्त तक यह पार्टी देश में चहुँ ओर फैल चुकी थी। आप यह बात दिए गए मानचित्र में देख चुके हैं। फिर, इस पार्टी के संगठन का नेटवर्क स्थानीय स्तर तक पहुँच चुका था। सबसे बड़ी बात यह थी कि कांग्रेस हाल-फिलहाल तक आज़ादी के आंदोलन की अगुआ रही थी और उसकी प्रकृति सबको समेटकर मेलजोल के साथ चलने की थी।

रफी अहमद किदवई (1894-1954) : उत्तर प्रदेश से कांग्रेस के नेता, प्रांतीय सरकार (1937) में मंत्री; 1946 में दोबारा मंत्री बने, स्वतंत्र भारत के पहले मंत्रिमंडल में संचार मंत्री; खाद्य एवं कृषि मंत्री (1952-54)

कांग्रेस एक सामाजिक और विचारधारात्मक गठबंधन के रूप में

आप यह बात पढ़ चुके हैं कि कांग्रेस का जन्म 1885 में हुआ था। उस वक्त यह नवशिक्षित, कामकाजी और व्यापारिक वर्गों का एक हित-समूह भर थी लेकिन 20वीं सदी में इसने जनआंदोलन का रूप ले लिया। इस वजह से कांग्रेस ने एक जनव्यापी राजनीतिक पार्टी का रूप लिया और राजनीतिक-व्यवस्था में इसका दबदबा कायम हुआ। शुरू-शुरू में कांग्रेस में अँग्रेज़ीदाँ, अगड़ी जाति, ऊँचले मध्यवर्ग और शहरी अभिजन का बोलबाला था। लेकिन कांग्रेस ने जब भी सविनय अवज्ञा जैसे आंदोलन चलाए उसका सामाजिक आधार बढ़ा। कांग्रेस ने परस्पर विरोधी हितों के कई समूहों को एक साथ जोड़ा। कांग्रेस में किसान और उद्योगपति, शहर के बाशिंदे और गाँव के निवासी, मज़दूर और मालिक एवं मध्य, निम्न और उच्च वर्ग तथा जाति सबको जगह मिली। धीरे-धीरे कांग्रेस का नेतृवर्ग भी विस्तृत हुआ। इसका नेतृवर्ग अब उच्च वर्ग या जाति के पेशेवर लोगों तक ही सीमित नहीं रहा। इसमें खेती-किसानी की बुनियाद वाले तथा गाँव-गिरान की तरफ़ रुझान रखने वाले नेता भी उभरे। आज़ादी के समय तक कांग्रेस एक सतरंगे सामाजिक गठबंधन की शक्ल अख़्तियार कर चुकी थी और वर्ग, जाति, धर्म, भाषा तथा अन्य हितों के आधार पर इस सामाजिक गठबंधन से भारत की विविधता की नुमाइंदगी हो रही थी।

पहले हमने एक ही पार्टी के भीतर गठबंधन देखा और अब पार्टियों के बीच गठबंधन होता देख रहे हैं। क्या इसका मतलब यह हुआ कि गठबंधन सरकार 1952 से ही चल रही है?

इनमें से अनेक समूहों ने अपनी पहचान को कांग्रेस के साथ एकमेक कर दिया। कई बार यह भी हुआ कि किसी समूह ने अपनी पहचान को कांग्रेस के साथ एकसार नहीं किया और अपने-अपने विश्वासों को मानते हुए बतौर एक व्यक्ति या समूह के कांग्रेस के भीतर बने रहे। इस अर्थ में कांग्रेस एक विचारधारात्मक गठबंधन भी थी। कांग्रेस ने अपने अंदर क्रांतिकारी और शांतिवादी, कंजरवेटिव और रेडिकल, गरमपंथी और नरमपंथी, दक्षिणपंथी, वामपंथी और हर धारा के मध्यमार्गियों को समाहित किया। कांग्रेस एक मंच की तरह थी, जिस पर अनेक समूह, हित और राजनीतिक दल तक आ जुटते थे और राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेते थे। आज़ादी से पहले के वक्त में अनेक संगठन और पार्टियों को कांग्रेस में रहने की इजाज़त थी।

कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया

1920 के दशक के शुरुआती सालों में भारत के विभिन्न हिस्सों में साम्यवादी-समूह (कम्युनिस्ट ग्रुप) उभरे। ये रूस की बोल्शेविक क्रांति से प्रेरित थे और देश की समस्याओं के समाधान के लिए साम्यवाद की राह अपनाने की तरफ़दारी कर रहे थे। 1935 से साम्यवादियों ने मुख्यतया भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दायरे में रहकर काम किया। कांग्रेस से साम्यवादी 1941 के दिसंबर में अलग हुए। इस समय साम्यवादियों ने नाजी जर्मनी के खिलाफ लड़ रहे ब्रिटेन को समर्थन देने का फ़ैसला किया। दूसरी गैर-कांग्रेसी पार्टियों के विपरीत कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया के पास आज़ादी के समय एक सुचारू पार्टी मशीनरी और समर्पित कॉडर मौजूद थे। बहरहाल, आज़ादी हासिल होने पर इस पार्टी के भीतर कई स्वर उभरे। इस पार्टी के सामने मुख्य सवाल यह था कि आखिर जो आज़ादी देश को हासिल हुई है उसकी प्रकृति कैसी है? क्या हिंदुस्तान सचमुच आज़ाद हुआ है या यह आज़ादी झूठी है?

आज़ादी के तुरंत बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का विचार था कि 1947 में सत्ता का जो हस्तांतरण हुआ वह सच्ची आज़ादी नहीं थी। इस विचार के साथ पार्टी ने तेलंगाना में हिंसक विद्रोह को बढ़ावा दिया। साम्यवादी अपनी बात के पक्ष में जनता का समर्थन हासिल नहीं कर सके और इन्हें सशस्त्र सेनाओं द्वारा दबा दिया गया। मज़बूरन इन्हें अपने पक्ष को लेकर पुनर्विचार करना पड़ा। 1951 में साम्यवादी पार्टी ने हिंसक क्रांति का रास्ता छोड़ दिया और आने वाले आम चुनावों में भाग लेने का फ़ैसला किया। पहले आम चुनाव में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने 16 सीटें जीतीं और वह सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी बनकर उभरी। इस दल को ज़्यादातर समर्थन आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, बिहार और केरल में मिला।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख नेताओं में ए.के. गोपालन, एस.ए. डांगे, ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद, पी.सी. जोशी, अजय घोष और पी. सुंदरैया के नाम लिए जाते हैं। चीन और सोवियत संघ के बीच विचारधारात्मक अंतर आने के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी 1964 में एक बड़ी टूट का शिकार हुई। सोवियत संघ की विचारधारा को ठीक मानने वाले भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में रहे जबकि इसके विरोध में राय रखने वालों ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) या सीपीआई (एम) नाम से अलग दल बनाया। ये दोनों दल आज तक कायम हैं।

ए.के. गोपालन (1904-1977): केरल के कम्युनिस्ट नेता, राजनीतिक जीवन का आरंभ कांग्रेस कार्यकर्ता के रूप में; 1939 में कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल। 1964 में कम्युनिस्ट पार्टी के विभाजन के बाद कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया (मार्क्सवादी) में शामिल और पार्टी की मज़बूती के लिए कार्य, सांसद के रूप में विशेष ख्याति; 1952 से सांसद।

सिने-संसार

सिंहासन

यह मराठी फिल्म अरुण साधु के दो उपन्यासों-'सिंहासन' तथा 'मुंबई दिनांक' पर आधारित है। फिल्म में महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री पद के लिए होने वाली रस्साकशी को दर्शाया गया है। फिल्म की कहानी को एक पत्रकार दिघु टिप्पणी बयान करता है जो दर्शकों के सामने एक मौन सूत्रधार के रूप में आता है। यह फिल्म सत्तारूढ़ दल के भीतर चलने वाले सत्ता संघर्ष और उसमें विपक्षी दल की भूमिका को प्रभावशाली ढंग से बयान करती है।

फिल्म की कहानी कुछ इस तरह चलती है। वित्तमंत्री विश्वास राव दभाड़े सत्तारूढ़ मुख्यमंत्री को अपदस्थ करने की तिकड़म में लगा है। मुख्यमंत्री और वित्तमंत्री दोनों ही मज़दूर नेता डि'कोस्टा को अपनी तरफ़ करना चाहते हैं। गुटबंदी की इस लड़ाई में अन्य नेता दोनों धड़ों से सौदेबाजी करने में लगे हैं। फिल्म में पद-लोलुपता की इस लड़ाई के साथ मुंबई के तस्करी कारोबार और राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों में हर दिन बनते-बिगड़ते सामाजिक हालात को भी खूबसूरती से पिरोया गया है।

वर्ष : 1981
निर्देशक : जब्बार पटेल
पटकथा : विजय तेंदुलकर
अभिनय : नीलू फुले, अरुण सरनाईक, डॉ. श्रीराम लागू, सतीश दुबाशी, दत्ता भट्ट, मधुकर तोरड़मल, माधव वाटवे, मोहन अगाशे

हालाँकि इन संगठनों और पार्टियों के अपने-अपने संविधान थे। इनका सांगठनिक ढाँचा भी अलग था। इनमें से कुछ (मसलन कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी) बाद में कांग्रेस से अलग हो गए और विपक्षी दल बने। किसी खास पद्धति, कार्यक्रम या नीति को लेकर मौजूद मतभेदों को कांग्रेस पार्टी सुलझा भले न पाए लेकिन उन्हें अपने आप में मिलाए रखती थी और एक आम सहमति कायम कर ले जाती थी।

गुटों में तालमेल और सहनशीलता

कांग्रेस के गठबंधनी स्वभाव ने उसे एक असाधारण ताकत दी। पहली बात तो यही कि जो भी आए, गठबंधन उसे अपने में शामिल कर लेता है। इस कारण गठबंधन को अतिवादी रुख अपनाने से बचना होता है और हर मसले पर संतुलन को साधकर चलना पड़ता है। सुलह-समझौते के रास्ते पर चलना और सर्व-समावेशी होना गठबंधन की विशेषता होती है। इस रणनीति की वजह से विपक्ष कठिनाई में पड़ा। विपक्ष कोई बात कहना चाहे तो कांग्रेस की विचारधारा और कार्यक्रम में उसे तुरंत जगह मिल जाती थी। दूसरे, अगर किसी पार्टी का स्वभाव गठबंधनी हो तो अंदरूनी मतभेदों को लेकर उसमें सहनशीलता भी ज्यादा होती है। विभिन्न समूह और नेताओं की महत्त्वाकांक्षाओं की भी उसमें समाई हो जाती है। कांग्रेस ने आज़ादी की लड़ाई के दौरान इन दोनों ही बातों पर अमल किया था और आज़ादी मिलने के बाद भी इस पर अमल जारी रखा। इसी कारण, अगर कोई समूह पार्टी के रुख से अथवा सत्ता में प्राप्त अपने हिस्से से नाखुश हो तब भी वह पार्टी में ही बना रहता था। पार्टी को छोड़कर विपक्षी की भूमिका अपनाने की जगह पार्टी में मौजूद किसी दूसरे समूह से लड़ने को बेहतर समझता था।

पार्टी के अंदर मौजूद विभिन्न समूह गुट कहे जाते हैं। अपने गठबंधनी स्वभाव के कारण कांग्रेस विभिन्न गुटों के प्रति सहनशील थी और इस स्वभाव से विभिन्न गुटों को बढ़ावा भी मिला। कांग्रेस के विभिन्न गुटों में से कुछ विचारधारात्मक सरोकारों की वजह से बने थे। लेकिन अकसर गुटों के बनने

भारतीय जनसंघ

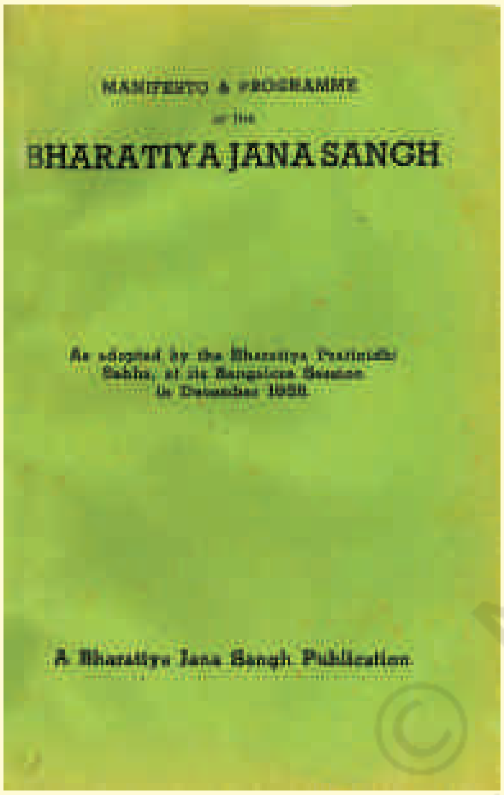

भारतीय जनसंघ का गठन 1951 में हुआ था। श्यामा प्रसाद मुखर्जी इसके संस्थापक-अध्यक्ष थे। इस दल की जड़ें आज़ादी के पहले के समय से सक्रिय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) और हिंदू महासभा में खोजी जा सकती हैं।

जनसंघ अपनी विचारधारा और कार्यक्रमों के लिहाज से बाकी दलों से भिन्न है। जनसंघ ने 'एक देश, एक संस्कृति और एक राष्ट्र' के विचार पर जोर दिया। इसका मानना था कि देश भारतीय संस्कृति और परंपरा के आधार पर आधुनिक, प्रगतिशील और ताकतवर बन सकता है। जनसंघ ने भारत और पाकिस्तान को एक करके 'अखंड भारत' बनाने की बात कही। अंग्रेजी को हटाकर हिंदी को राजभाषा बनाने के आंदोलन में यह पार्टी सबसे आगे थी। इसने धार्मिक और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों को रियायत देने की बात का विरोध किया। चीन ने 1964 में अपना आण्विक-परीक्षण किया था। इसके बाद से जनसंघ ने लगातार इस बात की पैरोकारी की कि भारत भी अपने आण्विक हथियार तैयार करे।

1950 के दशक में जनसंघ चुनावी राजनीति के हाशिए पर रहा। इस पार्टी को 1952 के चुनाव में लोकसभा की तीन सीटों पर सफलता मिली और 1957 के आम चुनावों में इसने लोकसभा की 4 सीटें जीतीं। शुरुआती सालों में इस पार्टी को हिंदी-भाषी राज्यों मसलन राजस्थान, मध्य प्रदेश, दिल्ली और उत्तर प्रदेश के शहरी इलाकों में समर्थन मिला। जनसंघ के नेताओं में श्यामा प्रसाद मुखर्जी, दीनदयाल उपाध्याय और बलराज मधोक के नाम शामिल हैं। भारतीय जनता पार्टी की जड़ें इसी जनसंघ में हैं।

दीन दयाल उपाध्याय (1916-1968) : 1942 से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्णकालिक कार्यकर्ता; भारतीय जनसंघ के संस्थापक सदस्य; भारतीय जनसंघ में पहले महासचिव फिर अध्यक्ष; समग्र मानवतावाद सिद्धांत के प्रणेता।

© NCERT not to be republished

के पीछे व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा तथा प्रतिस्पर्धा की भावना भी काम करती थी। ऐसे में अंदरूनी गुटबाजी कांग्रेस की कमज़ोरी बनने की बजाय उसकी ताकत साबित हुई। चूंकि पार्टी के भीतर विभिन्न गुटों की आपसी होड़ के लिए गुंजाइश थी इसलिए विभिन्न हित और विचारधाराओं की नुमाइंदगी कर रहे नेता कांग्रेस के भीतर ही बने रहे। पार्टी से बाहर निकलकर नई पार्टी बनाने को इन्होंने बेहतर नहीं समझा।

मैं गुटबंदी को एक तरह का रोग समझती थी और मानती थी कि इसे दूर किया जाना चाहिए। यहाँ कही गई बातों से तो ऐसा लगता है, जैसे कि गुटबाजी बहुत अच्छी बात है।

कांग्रेस की अधिकतर प्रांतीय इकाइयों विभिन्न गुटों को मिलाकर बनी थीं। ये गुट अलग-अलग विचारधारात्मक रुख़ अपनाते थे और कांग्रेस एक भारी-भरकम मध्यमार्गी पार्टी के रूप में उभरकर सामने आती थी। दूसरी पार्टियाँ मुख्यत: कांग्रेस के इस या उस गुट को प्रभावित करने की कोशिश करती थीं। इस तरह बाकी पार्टियाँ हाशिए पर रहकर ही नीतियों और फ़ैसलों को अप्रत्यक्ष रीति से प्रभावित कर पाती थीं। ये पार्टियाँ सत्ता के वास्तविक इस्तेमाल से कोसों दूर थीं। शासक दल का कोई विकल्प नहीं था। इसके बावजूद विपक्षी पार्टियाँ लगातार कांग्रेस की आलोचना करती थीं, उस पर दबाव डालती थीं और इस क्रम में उसे प्रभावित करती थीं। गुटों की मौजूदगी की यह प्रणाली शासक-दल के भीतर संतुलन साधने के एक औजार की तरह काम करती थी। इस तरह राजनीतिक होड़ कांग्रेस के भीतर ही चलती थी। इस अर्थ में देखें तो चुनावी प्रतिस्पर्धा के पहले दशक में कांग्रेस ने शासक-दल की भूमिका निभायी और विपक्ष की भी। इसी कारण भारतीय राजनीति के इस कालखंड को 'कांग्रेस-प्रणाली' कहा जाता है।

विपक्षी पार्टियों का उद्भव

जैसा कि हमने ऊपर देखा, ऐसा नहीं था कि इस दौर में भारत में विपक्षी पार्टियाँ नहीं थीं। चुनाव-परिणामों की चर्चा में हमारे सामने कांग्रेस के अलावा अन्य पार्टियों के नाम भी आए। बहुदलीय लोकतंत्र वाले अन्य अनेक देशों की तुलना में उस वक्त भी भारत में बहुविध और जीवन्त विपक्षी पार्टियाँ थीं। इनमें से कई पार्टियाँ 1952 के आम चुनावों से कहीं पहले बन चुकी थीं। इनमें से कुछ ने 'साठ' और 'सत्तर' के दशक में देश की राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। आज की लगभग सभी गैर-कांग्रेसी पार्टियों की जड़ें 1950 के दशक की किसी न किसी विपक्षी पार्टी में खोजी जा सकती हैं।

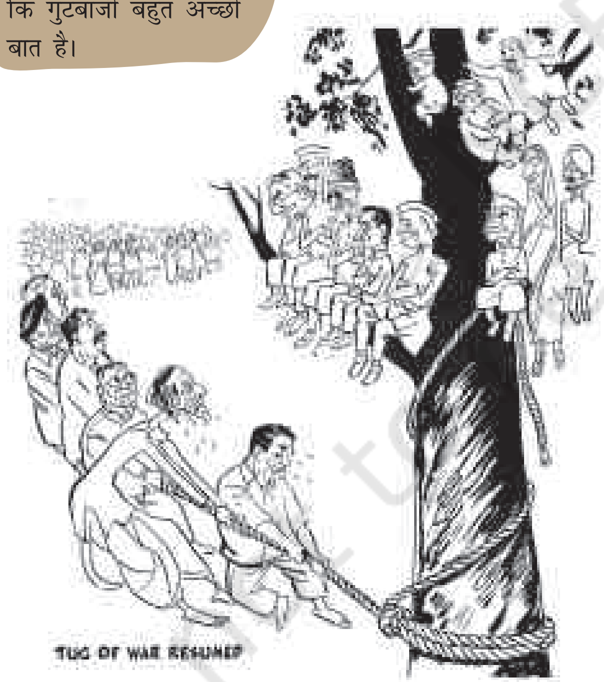

रस्साकसी (29 अगस्त, 1954) इस कार्टून में सरकार और विपक्षी दलों की ताकत की तुलना की गई है। कार्टून में दर्शाए गए पेड़ पर नेहरू और उनके कैबिनेट सहयोगी बैठे हैं। पेड़ के नीचे विपक्षी नेताओं-ए.के. गोपालन, आचार्य कृपलानी, एन. सी. चटर्जी, श्रीकांतन नायर और सरदार हुकुम सिंह को दिखाया गया है। विपक्षी नेता पेड़ को गिराने की कोशिश कर रहे हैं।

1950 के दशक में इन सभी विपक्षी दलों को लोकसभा अथवा विधानसभा में कहने भर को प्रतिनिधित्व मिल पाया। फिर भी, इन दलों की मौजूदगी ने हमारी शासन-व्यवस्था के लोकतांत्रिक चरित्र को बनाए रखने में निर्णायक भूमिका निभायी। इन दलों ने कांग्रेस पार्टी की नीतियों और व्यवहारों की सुचिन्तित आलोचना की। इस आलोचना में सिद्धांतों का बल होता था। विपक्षी दलों ने शासक-दल पर अंकुश रखा और बहुधा इन दलों के कारण कांग्रेस पार्टी के भीतर शक्ति-संतुलन बदला। इन दलों ने लोकतांत्रिक राजनीतिक विकल्प की संभावना को

स्वतंत्र पार्टी

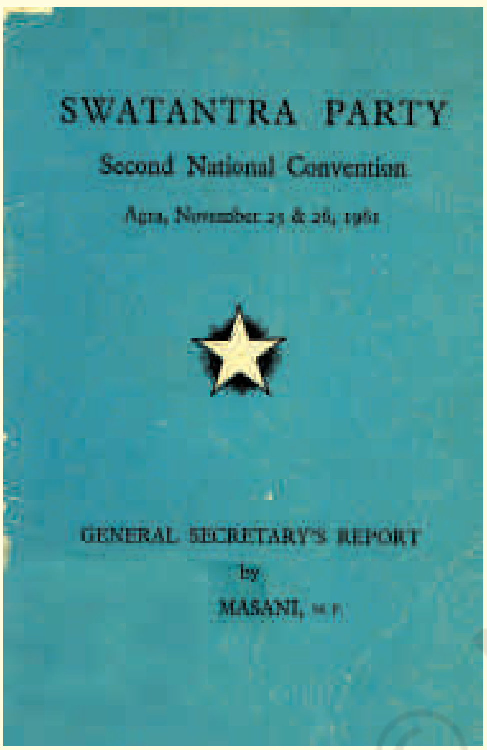

कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में जमीन की हदबंदी, खाद्यान्न के व्यापार, सरकारी अधिग्रहण और सहकारी खेती का प्रस्ताव पास हुआ था। इसी के बाद 1959 के अगस्त में स्वतंत्र पार्टी अस्तित्व में आई। इस पार्टी का नेतृत्व सी. राजगोपालाचारी, के.एम. मुंशी, एन.जी. रंगा और मीनू मसानी जैसे पुराने कांग्रेस नेता कर रहे थे। यह पार्टी आर्थिक मसलों पर अपनी खास किस्म की पक्षधरता के कारण दूसरी पार्टियों से अलग थी।

स्वतंत्र पार्टी चाहती थी कि सरकार अर्थव्यवस्था में कम से कमतर हस्तक्षेप करे। इसका मानना था कि समृद्धि सिर्फ व्यक्तिगत स्वतंत्रता के जरिए आ सकती है। स्वतंत्र पार्टी अर्थव्यवस्था में विकास के नजरिए से किए जा रहे राजकीय हस्तक्षेप, केंद्रीकृत नियोजन, राष्ट्रीयकरण और अर्थव्यवस्था के भीतर सार्वजनिक-क्षेत्र की मौजूदगी को आलोचना की निगाह से देखती थी। यह पार्टी आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों के हित को ध्यान में रखकर किए जा रहे कराधान के भी खिलाफ थी। इस दल ने निजी क्षेत्र को खुली छूट देने की तरफदारी की। स्वतंत्र पार्टी कृषि में जमीन की हदबंदी, सहकारी खेती और खाद्यान्न के व्यापार पर सरकारी नियंत्रण के विरुद्ध थी। यह दल गुटनिरपेक्षता की नीति और सोवियत संघ से दोस्ताना रिश्ते कायम रखने को भी गलत मानती थी। इसने संयुक्त राज्य अमरीका से नजदीकी संबंध बनाने की वकालत की। अनेक क्षेत्रीय पार्टियों और हितों के साथ मेल करने के कारण स्वतंत्र पार्टी देश के विभिन्न हिस्सों में ताकतवर हुई। स्वतंत्र पार्टी की तरफ मुख्य रूप से जमींदार और राजे-महाराजे आकर्षित हुए। भूमि-सुधार के कानूनों से इनकी मिल्कियत और हैसियत को खतरा मँडरा रहा था और इससे बचने के लिए इन लोगों ने स्वतंत्र पार्टी का दामन थामा। उद्योगपति और व्यवसायी-वर्ग के लोग राष्ट्रीयकरण और लाइसेंस-नीति के खिलाफ थे। इन लोगों ने भी स्वतंत्र पार्टी का समर्थन किया। इस पार्टी का सामाजिक आधार बड़ा संकुचित था और इसके पास पार्टी-सदस्य के रूप में समर्पित कॉडर की कमी थी। इस वजह से यह पार्टी अपना मजबूत सांगठनिक नेटवर्क खड़ा नहीं कर पाई।

सी. राजगोपालाचारी
(1878-1972) : कांग्रेस के वरिष्ठ नेता और साहित्यकार; महात्मा गाँधी के करीबी; संविधान सभा के सदस्य; स्वतंत्र भारत के पहले भारतीय गवर्नर-जनरल (1948-1950) बने; आज़ादी के बाद बने अंतरिम केंद्र सरकार में मंत्री; बाद में मद्रास के मुख्यमंत्री; भारत रत्न से सम्मानित पहले भारतीय; स्वतंत्र पार्टी (1959) के संस्थापक।

© NCERT not to be republished

कांग्रेस के सदस्य टंडन के निर्वाचन को सरकार या कांग्रेस में मेरी मौजूदगी से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण समझते हैं, फिर.......... कांग्रेस और सरकार के भीतर मैं पूरी तरह अप्रासंगिक हो चुका हूँ।

कांग्रेस अध्यक्ष के पद पर टंडन की जीत के बाद राजाजी को लिखे गए एक पत्र में जवाहरलाल नेहरू का वक्तव्य।

जीवित रखा। ऐसा करके इन दलों ने व्यवस्थाजन्य रोष को लोकतंत्र-विरोधी बनने से रोका। इन दलों ने ऐसे नेता तैयार किए जिन्होंने आगे के समय में हमारे देश की तस्वीर को संवारने में अहम भूमिका निभायी।

शुरुआती सालों में कांग्रेस और विपक्षी दलों के नेताओं के बीच पारस्परिक सम्मान का गहरा भाव था। स्वतंत्रता की उद्घोषणा के बाद अंतरिम सरकार ने देश का शासन सँभाला था। इसके मंत्रिमंडल में डॉ. अंबेडकर और श्यामा प्रसाद मुखर्जी जैसे विपक्षी नेता शामिल थे। जवाहरलाल नेहरू अकसर सोशलिस्ट पार्टी के प्रति अपने प्यार का इजहार करते थे। उन्होंने जयप्रकाश नारायण जैसे समाजवादी नेताओं को सरकार में शामिल होने का न्यौता दिया। अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी से इस किस्म का निजी रिश्ता और उसके प्रति सम्मान का भाव दलगत प्रतिस्पर्धा के तेज होने के बाद लगातार कम होता गया।

इस तरह अपने देश में लोकतांत्रिक राजनीति का पहला दौर एकदम अनूठा था। राष्ट्रीय आंदोलन का चरित्र समावेशी था। इसकी अगुआई कांग्रेस ने की थी। राष्ट्रीय आंदोलन के इस चरित्र के कारण कांग्रेस की तरफ विभिन्न समूह, वर्ग और हितों के लोग आकर्षित

1948 में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के गवर्नर-जनरल के पद की शपथ ग्रहण के बाद नेहरू मंत्रिमंडल। बैठे हुए बाएँ से दाएँ : रफी अहमद किदवई, बलदेव सिंह, मौलाना आज़ाद, प्रधानमंत्री नेहरू, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, सरदार वल्लभभाई पटेल, राजकुमारी अमृत कौर, जॉन मथाई और जगजीवन राम। खड़े हुए बाएँ से दाएँ : श्री गाडगिल, श्री नियोगी, डॉ. अम्बेडकर, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, गोपालास्वामी आयंगर और जयरामदास दौलतराम।

चलो! चलो! सभा देखने चलो!

फणीश्वरनाथ रेणु

सोशलिस्ट पार्टी की सभा की खबर ने संथालटोली को विशेष रूप से आलोड़ित किया है। गाँव में अस्पताल खुलने की खुशखबरी की कोई खास प्रतिक्रिया संथालों पर नहीं। लेकिन यह सभा? जमीन जोतने वालों की?...

"ज़मीन किसकी?... जोतनेवालों की! जो जोतेगा वह बोएगा, जो बोएगा वह काटेगा। कमानेवाला खाएगा, इसके चलते जो कुछ हो! कालीचरन समझा रहा है।"

"दो भैंस की लड़ाई में दूब के सिर आफत। कांग्रेस और सुशलिंग अपने में लड़ रहा है। दोनों अपना-अपना मेंबर बनना चाहता है। चक्की के दो पाट में गरीब लोग ही पीसे जाएँगे।"

"गरीब पीसे नहीं जाएँगे, गरीबों की भलाई होगी। एक पाटी रहने से काम नहीं होता है। जब दो दलों में मुकाबला और हिड़िस होता है तो फायदा पबलि का होता है।"

जिला कांग्रेस आफिस में जुलुम हो रहा है। जिला कांग्रेस के सभापति का चुनाव होने वाला है। चार उम्मीदवार हैं, दो असल और दो कम असल। राजपूत भूमिहार में मुकाबिला है। जिले-भर के सेठों और जमींदारों की मोटर लारियाँ दौड़ रही हैं। एक-दूसरे के गड़े मुर्दे उखाड़े जा रहे हैं। कटिहार कॉटन मिलवाले सेठ जी भूमिहार पार्टी में हैं और फारबिसगंज जूट मिलवाले राजपूतों की ओर। ...पैसे का तमाशा कोई यहाँ आकर देखे।

फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास *मैला आँचल* के कुछ अंश। इस उपन्यास की कथाभूमि पूर्वोत्तर बिहार का पूर्णिमा ज़िला है और कथाकाल स्वतंत्रता के बाद के वर्ष।

हुए। सामाजिक और विचारधारात्मक रूप से कांग्रेस एक व्यापक गठबंधन के रूप में उभरी। आज़ादी की लड़ाई में कांग्रेस ने मुख्य भूमिका निभायी थी और इस कारण कांग्रेस को दूसरी पार्टियों की अपेक्षा बढ़त प्राप्त थी। सत्ता पाने की लालसा रखने वाले हर व्यक्ति और हर हित-समूह को अपने अंदर समाहित करने की कांग्रेस की क्षमता जैसे-जैसे घटी वैसे-वैसे दूसरे राजनीतिक दलों को महत्त्व मिलना शुरू हुआ। इस तरह कांग्रेस का प्रभुत्व देश की राजनीति के सिर्फ़ एक दौर में रहा। इस किताब के आगे के हिस्सों में हम देश की राजनीति के अन्य दौर की चर्चा करेंगे।

श्यामा प्रसाद मुखर्जी
(1901-1953) : हिंदू महासभा के नेता; भारतीय जनसंघ के संस्थापक; स्वतंत्रता के बाद नेहरू के पहले मंत्रिमंडल में मंत्री; पाकिस्तान के साथ संबंधों को लेकर अपने मतभेदों के चलते 1950 में इस्तीफा; संविधान सभा के सदस्य; लोकसभा सदस्य; कश्मीर को स्वायत्तता देने के खिलाफ़; कश्मीर नीति पर जनसंघ के प्रदर्शन के दौरान गिरफ्तार; हिरासत में मौत।

प्रश्नावली

1. सही विकल्प को चुनकर खाली जगह को भरें:
   (क) 1952 के पहले आम चुनाव में लोकसभा के साथ-साथ ________ के लिए भी चुनाव कराए गए थे। (भारत के राष्ट्रपति पद/राज्य विधानसभा/राज्यसभा/प्रधानमंत्री)

   (ख) ________ लोकसभा के पहले आम चुनाव में 16 सीटें जीतकर दूसरे स्थान पर रही। (प्रजा सोशलिस्ट पार्टी/भारतीय जनसंघ/भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी/भारतीय जनता पार्टी)

   (ग) ________ स्वतंत्र पार्टी का एक निर्देशक सिद्धांत था। (कामगार तबके का हित/रियासतों का बचाव/राज्य के नियंत्रण से मुक्त अर्थव्यवस्था/संघ के भीतर राज्यों की स्वायत्तता)

2. यहाँ दो सूचियाँ दी गई हैं। पहले में नेताओं के नाम दर्ज हैं और दूसरे में दलों के। दोनों सूचियों में मेल बैठाएँ:

(क) एस.ए. डांगे	(i) भारतीय जनसंघ
(ख) श्यामा प्रसाद मुखर्जी	(ii) स्वतंत्र पार्टी
(ग) मीनू मसानी	(iii) प्रजा सोशलिस्ट पार्टी
(घ) अशोक मेहता	(iv) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी

3. एकल पार्टी के प्रभुत्व के बारे में यहाँ चार बयान लिखे गए हैं। प्रत्येक के आगे सही या गलत का चिह्न लगाएँ:
   (क) विकल्प के रूप में किसी मजबूत राजनीतिक दल का अभाव एकल पार्टी-प्रभुत्व का कारण था।
   (ख) जनमत की कमजोरी के कारण एक पार्टी का प्रभुत्व कायम हुआ।
   (ग) एकल पार्टी-प्रभुत्व का संबंध राष्ट्र के औपनिवेशिक अतीत से है।
   (घ) एकल पार्टी-प्रभुत्व से देश में लोकतांत्रिक आदर्शों के अभाव की झलक मिलती है।

4. अगर पहले आम चुनाव के बाद भारतीय जनसंघ अथवा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार बनी होती तो किन मामलों में इस सरकार ने अलग नीति अपनाई होती? इन दोनों दलों द्वारा अपनाई गई नीतियों के बीच तीन अंतरों का उल्लेख करें।

5. कांग्रेस किन अर्थों में एक विचारधारात्मक गठबंधन थी? कांग्रेस में मौजूद विभिन्न विचारधारात्मक उपस्थितियों का उल्लेख करें।

6. क्या एकल पार्टी प्रभुत्व की प्रणाली का भारतीय राजनीति के लोकतांत्रिक चरित्र पर खराब असर हुआ?

7. समाजवादी दलों और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच के तीन अंतर बताएँ। इसी तरह भारतीय जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी के बीच के तीन अंतरों का उल्लेख करें।

8. भारत और मैक्सिको दोनों ही देशों में एक खास समय तक एक पार्टी का प्रभुत्व रहा। बताएँ कि मैक्सिको में स्थापित एक पार्टी का प्रभुत्व कैसे भारत के एक पार्टी के प्रभुत्व से अलग था?

© NCERT not to be republished

9. भारत का एक राजनीतिक नक्शा लीजिए (जिसमें राज्यों की सीमाएँ दिखाई गई हों) और उसमें निम्नलिखित को चिह्नित कीजिए:

(क) ऐसे दो राज्य जहाँ 1952-67 के दौरान कांग्रेस सत्ता में नहीं थी।

(ख) दो ऐसे राज्य जहाँ इस पूरी अवधि में कांग्रेस सत्ता में रही।

10. निम्नलिखित अवतरण को पढ़कर इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दीजिए:
कांग्रेस के संगठनकर्ता पटेल कांग्रेस को दूसरे राजनीतिक समूह से निसंग रखकर उसे एक सर्वांगसम तथा अनुशासित राजनीतिक पार्टी बनाना चाहते थे। वे चाहते थे कि कांग्रेस सबको समेटकर चलने वाला स्वभाव छोड़े और अनुशासित कॉडर से युक्त एक सगुंफित पार्टी के रूप में उभरे। 'यथार्थवादी' होने के कारण पटेल व्यापकता की जगह अनुशासन को ज़्यादा तरजीह देते थे। अगर ''आंदोलन को चलाते चले जाने'' के बारे में गाँधी के ख्याल हद से ज़्यादा रोमानी थे तो कांग्रेस को किसी एक विचारधारा पर चलने वाली अनुशासित तथा धुरंधर राजनीतिक पार्टी के रूप में बदलने की पटेल की धारणा भी उसी तरह कांग्रेस की उस समन्वयवादी भूमिका को पकड़ पाने में चूक गई जिसे कांग्रेस को आने वाले दशकों में निभाना था।

– रजनी कोठारी

(क) लेखक क्यों सोच रहा है कि कांग्रेस को एक सर्वांगसम तथा अनुशासित पार्टी नहीं होना चाहिए?

(ख) शुरुआती सालों में कांग्रेस द्वारा निभाई गई समन्वयवादी भूमिका के कुछ उदाहरण दीजिए।

खुद करें-खुद समझें

1952 के बाद से अब तक आपके राज्य में जितने चुनाव हुए और सरकारें बनी हैं, उनका एक चार्ट तैयार करें। इस चार्ट में निम्नलिखित शीर्षक रखे जा सकते हैं। चुनाव का वर्ष, जीतने वाले दल का नाम, शासक दल/दलों के नाम, मुख्यमंत्री का नाम...

© NCERT not to be republished

आज़ादी के बाद के शुरुआती दो दशकों में आधुनिक भारत के निर्माण के प्रयास हुए और इसमें सार्वजनिक क्षेत्र की विकास परियोजनाओं की भूमिका मुख्य रही। इस तरह के डाक-टिकट से इस बात की एक झलक मिलती है। आजकल ऐसे डाक-टिकट कुछ खास देखने में नहीं आते। क्या आप सोच सकते हैं क्यों?

इस अध्याय में...

पिछले दो अध्यायों में हमने पढ़ा कि स्वतंत्र भारत के नेताओं ने कैसे राष्ट्र-निर्माण और लोकतंत्र कायम करने की चुनौतियों का सामना किया। आइए, अब तीसरी चुनौती की ओर रुख करें। यह चुनौती आर्थिक विकास की थी, ताकि सबकी भलाई को सुनिश्चित किया जा सके। पहली दो चुनौतियों की तरह हमारे नेताओं ने इस मामले में भी कुछ अलग और तनिक कठिन रास्ता चुना। आर्थिक विकास के मामले में उन्हें एक सीमा तक ही सफलता मिली, क्योंकि आर्थिक विकास की चुनौती कहीं ज्यादा कठिन और गहरी थी।

इस अध्याय में हम आर्थिक विकास के कुछ बुनियादी सवालों पर लिए गए राजनीतिक फ़ैसलों के बारे में पढ़ेंगे। ऐसे कुछ सवाल हैं :

- विकास को लेकर मुख्य बहसें क्या थीं और इनको लेकर कौन-से अहम फ़ैसले हुए?
- पहले दो दशकों में हमारे नेताओं ने कौन-सी रणनीति अपनाई और उन्होंने ऐसा क्यों किया?
- इस रणनीति की मुख्य उपलब्धियाँ क्या रहीं और इसकी सीमाएँ क्या थीं?
- बाद के सालों में इस रणनीति को क्यों छोड़ दिया गया?

अध्याय 3

नियोजित विकास की राजनीति

12122CH03

राजनीतिक फ़ैसले और विकास

इस्पात की विश्वव्यापी माँग बढ़ी तो निवेश के लिहाज़ से उड़ीसा एक महत्त्वपूर्ण जगह के रूप में उभरा। उड़ीसा में लौह-अयस्क का विशाल भंडार था और अभी इसका दोहन बाकी था। उड़ीसा की राज्य सरकार ने लौह-अयस्क की इस अप्रत्याशित माँग को भुनाना चाहा। उसने अंतर्राष्ट्रीय इस्पात-निर्माताओं और राष्ट्रीय-स्तर के इस्पात-निर्माताओं के साथ सहमति-पत्र पर हस्ताक्षर किए। सरकार सोच रही थी कि इससे राज्य में ज़रूरी पूँजी-निवेश भी हो जाएगा और रोज़गार के अवसर भी बड़ी संख्या में सामने आएँगे। लौह-अयस्क के ज़्यादातर भंडार उड़ीसा के सर्वाधिक अविकसित इलाकों में हैं—खासकर इस राज्य के आदिवासी-बहुल जिलों में। आदिवासियों को डर है कि अगर यहाँ उद्योग लग गए तो उन्हें अपने घर-बार से विस्थापित होना पड़ेगा और आजीविका भी छिन जाएगी। पर्यावरणविदों को इस बात का भय है कि खनन और उद्योग से पर्यावरण प्रदूषित होगा। केंद्र सरकार को लगता है कि अगर उद्योग लगाने की अनुमति नहीं दी गई, तो इससे एक बुरी मिसाल कायम होगी और देश में पूँजी निवेश को बाधा पहुँचेगी।

इस उदाहरण में कई तरह के हित सक्रिय हैं। क्या आप इन हितों को पहचान सकते हैं? ऊपर के उदाहरण में संघर्ष के अहम बिंदु कौन-कौन से हैं? क्या आपको लगता है कि कोई ऐसा बिंदु भी है जिस पर सभी पक्ष राजी हो सकें? क्या इस मसले को इस भाँति सुलझाया जा सकता है कि इससे संबद्ध सभी हितों को संतुष्ट किया जा सके? आप जैसे ही इन सवालों को पूछेंगे तो आपके सामने एक बड़ा सवाल उठ खड़ा होगा—उड़ीसा में किस तरह के विकास की ज़रूरत है? दरअसल, किसकी ज़रूरतों को उड़ीसा की ज़रूरत कहा जाए?

राजनीतिक टकराव

इन सवालों के ज़वाब कोई विशेषज्ञ नहीं दे सकता। इस तरह के फ़ैसलों में एक सामाजिक-समूह के हितों को दूसरे सामाजिक-समूह के हितों की तुलना में तौला जाता है। साथ ही मौजूदा पीढ़ी के हितों और आने वाली पीढ़ी के हितों को भी लाभ-हानि की तुला पर मापना पड़ता है। किसी भी लोकतंत्र में ऐसे फ़ैसले जनता द्वारा लिए जाने चाहिए या कम-से-कम इन फ़ैसलों पर विशेषज्ञों की स्वीकृति की मुहर ज़रूर होनी चाहिए। खनन, पर्यावरण और अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों की राय जानना महत्त्वपूर्ण है, लेकिन अंतिम निर्णय निश्चित तौर पर राजनीतिक निर्णय होना चाहिए। जन-प्रतिनिधि जनता की भावनाओं को समझते हैं और जन-प्रतिनिधियों को ही ऐसे फ़ैसले लेने चाहिए।

पोस्को प्लांट : उड़ीसा के ग्रामीण विरोध पर उतारू

कार्यालय संवाददाता

भुवनेश्वर: जगतसिंह जिले में प्रस्तावित पोस्को-इंडिया इस्पात संयंत्र से विस्थापन का शिकार हुए लोगों ने इस कोरियाई कंपनी के दफ्तर के सामने गुरुवार को विरोध प्रदर्शन किया। यह लोग माँग कर रहे थे कि एक साल पहले कंपनी और उड़ीसा की सरकार के बीच जिस सहमति पत्र पर हस्ताक्षर हुए थे उसे रद्द कर दिया जाए।

धिंकिया, नुआंगाँव और गढ़कुजंगा ग्राम पंचायत के एक सौ से भी यादा स्त्री-पुरुषों ने कंपनी के दफ्तर में घुसने की कोशिश की लेकिन पुलिस ने उन्हें रोक दिया। प्रदर्शनकारियों ने नारे लगाए और कहा कि हमारी जीविका और जीवन की कीमत पर कंपनी को इस्पात संयंत्र लगाने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। इस विरोध प्रदर्शन का आयोजन राष्ट्रीय युवा संगठन और नवनिर्माण समिति ने किया था।

साभार : 'द हिंदू', 23 जून, 2006

© NCERT not to be republished

क्या है वामपंथ और क्या है दक्षिणपंथ?

जब विभिन्न देशों की राजनीति की बात होती है तो अकसर वहाँ के राजनीतिक दल अथवा समूहों का हवाला देते हुए कहा जाता है कि इस या उस पार्टी या समूह की विचारधारा वामपंथी अथवा दक्षिणपंथी रुझान वाली है। आपने ऐसा जिक्र ज़रूर ही पढ़ा होगा। 'दक्षिणपंथ' अथवा 'वामपंथ' शब्द से किसी राजनीतिक दल अथवा समूह के बारे में यह प्रकट होता है कि सामाजिक बदलाव को लेकर वह कौन-सा पक्ष लेगा या आर्थिक पुनर्वितरण में राज्य की भूमिका के बारे में उसकी क्या राय होगी। 'वामपंथ' से अमूमन उन लोगों की तरफ़ संकेत किया जाता है जो गरीब और पिछड़े सामाजिक समूह की तरफ़दारी करते हैं और इन तबकों को फ़ायदा पहुँचाने वाली सरकारी नीतियों का समर्थन करते हैं। 'दक्षिणपंथ' से उन लोगों को इंगित किया जाता है जो यह मानते हैं कि खुली प्रतिस्पर्धा और बाज़ारमूलक अर्थव्यवस्था के ज़रिए ही प्रगति हो सकती है-यानी सरकार को अर्थव्यवस्था में गैरज़रूरी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

क्या आप बता सकते हैं कि 1960 के दशक में कौन-से राजनीतिक दल वामपंथी और कौन-से दक्षिणपंथी थे। आप इस दौर की कांग्रेस पार्टी को किस तरफ़ रखेंगे?

आज़ादी के बाद अपने देश में ऐसे कई फ़ैसले लिए गए। इनमें से कोई भी फ़ैसला बाकी फ़ैसलों से मुँह फेरकर नहीं लिया जा सकता था। सारे के सारे फ़ैसले आपस में आर्थिक विकास के एक मॉडल या यों कहें कि एक 'विज़न' से बँधे हुए थे। लगभग सभी इस बात पर सहमत थे कि भारत के विकास का अर्थ आर्थिक संवृद्धि और आर्थिक-सामाजिक न्याय दोनों ही हैं। इस बात पर भी सहमति थी कि इस मामले को व्यवसायी, उद्योगपति और किसानों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। सरकार को इस मसले में प्रमुख भूमिका निभानी थी। बहरहाल, आर्थिक-संवृद्धि हो और सामाजिक न्याय भी मिले-इसे सुनिश्चित करने के लिए सरकार कौन-सी भूमिका निभाए? इस सवाल पर मतभेद थे। क्या कोई ऐसा केंद्रीय संगठन ज़रूरी है जो पूरे देश के लिए योजना बनाए? क्या सरकार को कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योग और व्यवसाय खुद चलाने चाहिए? अगर सामाजिक न्याय आर्थिक संवृद्धि की ज़रूरतों के आड़े आता हो तो ऐसी सूरत में सामाजिक-न्याय पर कितना ज़ोर देना उचित होगा?

इनमें से प्रत्येक सवाल पर टकराव हुए जो आज तक जारी हैं। जो फ़ैसले लिए गए उनके राजनीतिक परिणाम सामने आए। इनमें से अधिकतर मसलों पर राजनीतिक रूप से कोई फ़ैसला लेना ही था और इसके लिए राजनीतिक दलों से सलाह-मशविरा करना ज़रूरी था, साथ ही जनता की स्वीकृति भी हासिल करनी थी। इसी कारण भारत की राजनीति के इतिहास को जानने के लिए हमें विकास के कथाक्रम को पढ़ना ज़रूरी है।

विकास की धारणाएँ

अकसर इन टकरावों के पीछे विकास की धारणाओं का हाथ होता है। उड़ीसा के उदाहरण से हमें पता चलता है कि इतना कह देने भर से बात नहीं बनती कि हर कोई विकास चाहता है। जनता के विभिन्न तबकों के लिए 'विकास' के अर्थ अलग-अलग होते हैं। मिसाल के लिए इस्पात-संयंत्र बैठाने की योजना बना रहे उद्योगपति, इस्पात के किसी शहरी उपभोक्ता और इस्पात-संयंत्र के लिए प्रस्तावित इलाके में रह रहे किसी आदिवासी के लिए 'विकास' का अर्थ अलग-अलग होगा। इस कारण 'विकास' से जुड़ी कोई भी 'चर्चा' विवादों से परे नहीं होती।

आज़ादी के बाद के पहले दशक में इस सवाल पर खूब बहसें हुईं। उस वक्त लोग-बाग 'विकास' की बात आते ही 'पश्चिम' का हवाला देते थे कि 'विकास' का पैमाना 'पश्चिमी' मुल्क हैं। आज भी एक अर्थ में हम इस बात को लक्ष्य कर सकते हैं। 'विकास' का अर्थ था ज़्यादा-से-ज़्यादा आधुनिक होना और आधुनिक होने का अर्थ था, पश्चिमी औद्योगिक देशों की तरह होना। माना जाता था कि पश्चिमी मुल्कों की तरह हर देश को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुज़रना होगा। जिस तरह पश्चिमी मुल्कों में आधुनिकीकरण के

कारण पुरानी सामाजिक संरचना टूटी और पूँजीवाद तथा उदारवाद का उदय हुआ, उसी तरह दुनिया के बाकी देशों में भी होगा। आधुनिकीकरण को संवृद्धि, भौतिक प्रगति और वैज्ञानिक तर्कबुद्धि का पर्यायवाची माना जाता था। 'विकास' की ऐसी धारणा को मानने के कारण तब हर कोई विभिन्न देशों को विकसित, विकासशील अथवा अविकसित बताकर उसके बारे में अपनी बातें कहता था।

आज़ादी के वक्त हिंदुस्तान के सामने विकास के दो मॉडल थे। पहला उदारवादी-पूंजीवादी मॉडल था। यूरोप के अधिकतर हिस्सों और संयुक्त राज्य अमरीका में यही मॉडल अपनाया गया था। दूसरा समाजवादी मॉडल था। इसे सोवियत संघ ने अपनाया था। आप इन दोनों विचारधाराओं के बारे में पढ़ चुके हैं और आप यह भी जानते हैं कि दो महाशक्तियों के बीच 'शीतयुद्ध' का दौर चला था। उस वक्त हिंदुस्तान में बहुत-से लोग विकास के सोवियत मॉडल से गहरे तौर पर प्रभावित थे। ऐसे लोगों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के ही नहीं बल्कि सोशलिस्ट पार्टी और खुद कांग्रेस के नेहरू तक शामिल थे। अमरीकी तर्ज के पूँजीवादी विकास के पैरोकार बहुत कम थे।

आज़ादी के आंदोलन के दौरान ही एक सहमति बन गई थी और नेताओं की इस पसंद में यही सहमति प्रतिबिंबित हो रही थी। राष्ट्रवादी नेताओं के मन में यह बात बिलकुल साफ़ थी कि आज़ाद भारत की सरकार के आर्थिक सरोकार अंग्रेजी हुकूमत के आर्थिक सरोकारों से एकदम अलग होंगे। आज़ाद भारत की सरकार अंग्रेजी हुकूमत की तरह संकुचित व्यापारिक हितों की पूर्ति के लिए काम नहीं करेगी। आज़ादी के आंदोलन के दौरान ही यह बात भी साफ़ हो गई थी कि गरीबी मिटाने और सामाजिक-आर्थिक पुनर्वितरण के काम का मुख्य जिम्मा सरकार का होगा। नेताओं में इन बातों को लेकर बहस छिड़ी। कुछ औद्योगीकरण को उचित रास्ता मानते थे तो कुछ की नज़र में कृषि का विकास करना और ग्रामीण क्षेत्र की गरीबी को दूर करना सर्वाधिक ज़रूरी था।

साभार : हिंदुस्तान टाइम्स

योजना आयोग के सदस्यों को संबोधित करते हुए नेहरू

साभार : केशव

योजना आयोग

पिछले साल आपने 'भारतीय संविधान : सिद्धांत और व्यवहार' नाम की किताब पढ़ी थी। क्या आप बता सकते हैं कि इसमें योजना आयोग का कोई ज़िक्र आया था या नहीं? दरअसल, योजना आयोग का जिक्र इस किताब में कहीं नहीं है क्योंकि योजना आयोग संविधान द्वारा स्थापित बाकी आयोगों अथवा दूसरे निकायों की तरह नहीं है। योजना आयोग की स्थापना, मार्च 1950 में, भारत सरकार ने एक सीधे-सादे प्रस्ताव के ज़रिए की। यह आयोग एक सलाहकार की भूमिका निभाता है और इसकी सिफारिशें तभी प्रभावकारी हो पाती हैं जब मंत्रिमंडल उन्हें मंज़ूर करे। जिस प्रस्ताव के ज़रिए योजना आयोग की स्थापना हुई थी उसमें इसके कार्यों के दायरे का उल्लेख करते हुए कहा गया था:

क्या योजना आयोग ने इन उद्देश्यों पर अमल किया है?

"भारत के संविधान में भारत के नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार दिए गए हैं और राज्य के लिए नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख किया गया है। नीति-निर्देशक तत्वों के अंतर्गत यह बात विशेष रूप से कही गई है कि राज्य एक ऐसी समाज-रचना को बनाते-बचाते हुए... लोगों की भलाई के लिए प्रयास करेगा जहाँ राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाएँ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की भावना से अनुप्राणित हों... राज्य अन्य बातों के अतिरिक्त अपनी नीतियों को इस तरह बनाएगा और अमल में लाएगा कि

(क) स्त्री और पुरुष, सभी नागरिकों को आजीविका के पर्याप्त साधनों का बराबर-बराबर अधिकार हो।

(ख) समुदाय के भौतिक संसाधनों की मिल्कियत और नियंत्रण को इस तरह बाँटा जाएगा कि उससे सर्वसामान्य की भलाई हो; और

(ग) अर्थव्यवस्था का संचालन इस तरह नहीं किया जाएगा कि धन अथवा उत्पादन के साधन एकाध जगह केंद्रित हो जाएँ और जनसामान्य की भलाई बाधित हो।

कुछ आगे की... नीति आयोग ▶▶

भारत सरकार ने योजना आयोग के स्थान पर एक नई संस्था, नीति आयोग (राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्था) की स्थापना की। यह संस्था 1 जनवरी 2015 को अस्तित्व में आई। इसके उद्देश्य और संरचना को जानने के लिए वेबसाइट, http://niti.gov.in से पता करें।

© NCERT not to be republished

नियोजन

मतभेदों के बावजूद एक बिंदु पर सभी सहमत थे कि विकास का काम निजी हाथों में नहीं सौंपा जा सकता और सरकार के लिए ज़रूरी है कि वह विकास का एक खाका अथवा योजना तैयार करे। दरअसल अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए नियोजन के विचार को 1940 और 1950 के दशक में पूरे विश्व में जनसमर्थन मिला था। यूरोप 'महामंदी' का शिकार होकर कुछ सबक सीख चुका था; जापान और जर्मनी ने युद्ध की विभीषिका झेलने के बाद अपनी अर्थव्यवस्था फिर खड़ी कर ली थी और सोवियत संघ ने 1930 तथा 1940 के दशक में भारी कठिनाइयों के बीच शानदार आर्थिक प्रगति की थी। इन सारी बातों के कारण नियोजन के पक्ष में दुनिया भर में हवा बह रही थी।

इस तरह देखें तो योजना आयोग कोई आकस्मिक आविष्कार नहीं था। दरअसल, यह कहानी अपने आप में बड़ी दिलचस्प है। हम आमतौर पर सोचते हैं कि निजी निवेशक मसलन उद्योगपति और बड़े व्यापारिक उद्यमी नियोजन के पक्ष में नहीं होते; वे एक खुली अर्थव्यवस्था चाहते हैं जहाँ पूँजी के बहाव पर सरकार का कोई अंकुश न हो। लेकिन, भारत में ऐसा नहीं हुआ। 1944 में उद्योगपतियों का एक तबका एकजुट हुआ। इस समूह ने देश में नियोजित अर्थव्यवस्था चलाने का एक संयुक्त प्रस्ताव तैयार किया। इसे 'बॉम्बे प्लान' कहा जाता है। 'बॉम्बे प्लान' की मंशा थी कि सरकार औद्योगिक तथा अन्य आर्थिक निवेश के क्षेत्र में बड़े कदम उठाए। इस तरह चाहे दक्षिणपंथी हों अथवा वामपंथी, उस वक्त सभी चाहते थे कि देश नियोजित अर्थव्यवस्था की राह पर चले। भारत के आज़ाद होते ही योजना आयोग अस्तित्त्व में आया। प्रधानमंत्री इसके अध्यक्ष बने। भारत अपने विकास के लिए कौन-सा रास्ता और रणनीति अपनाएगा–यह फ़ैसला करने में इस संस्था ने केंद्रीय और सबसे प्रभावशाली भूमिका निभाई।

शुरुआती कदम

सोवियत संघ की तरह भारत के योजना आयोग ने भी पंचवर्षीय योजनाओं का विकल्प चुना। इसके पीछे एक सीधा-सादा विचार था कि भारत सरकार अपनी तरफ़ से एक दस्तावेज़ तैयार करेगी, जिसमें अगले पाँच सालों के लिए उसकी आमदनी और खर्च की योजना होगी। इस

The Hindustan Times
FIVE-YEAR PLAN PRESENTED TO PARLIAMENT
Rs 2,069 CRORES OUTLAY FOR VARIOUS PROJECTS
Blue-print For Increasing National Wealth

© NCERT not to be republished

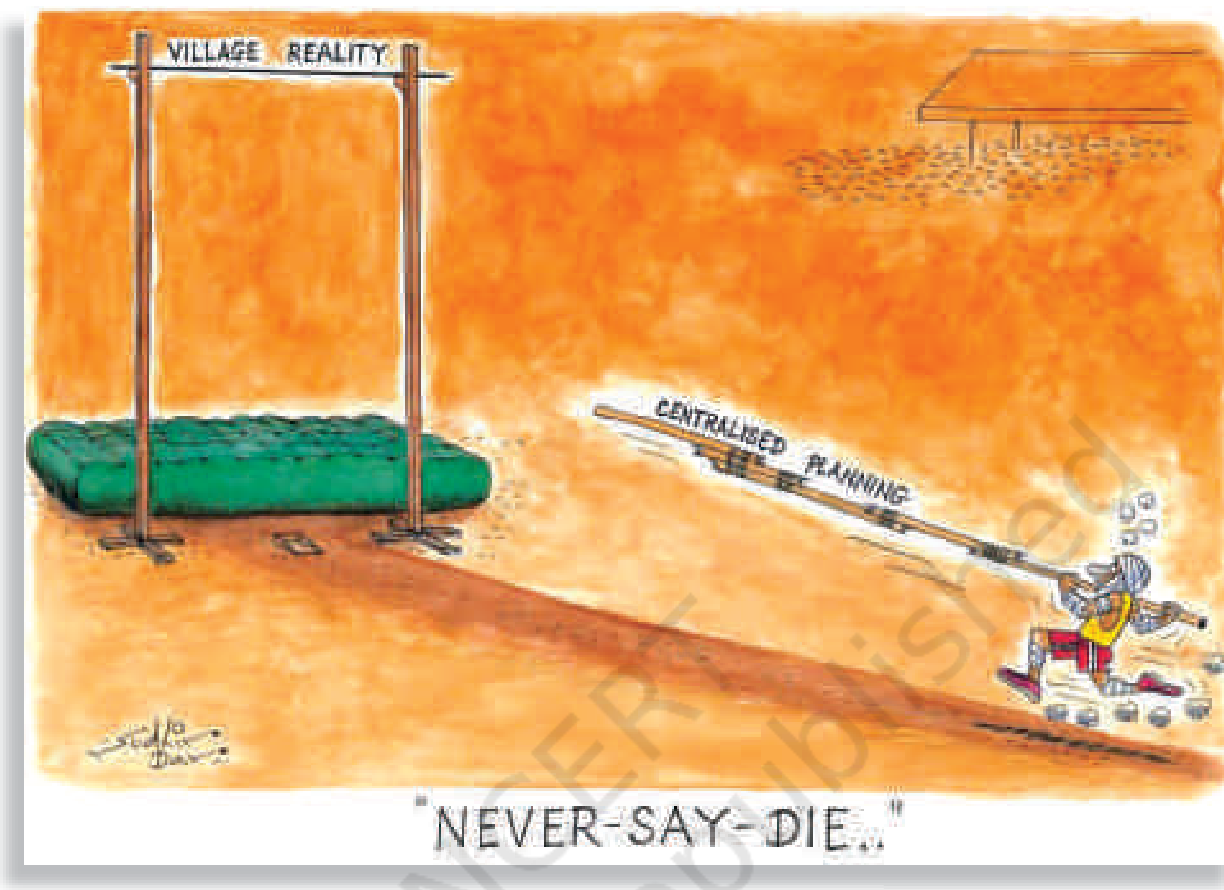

साभार : सुधीर दर/यूएनडीपी एवं योजना आयोग

योजना के अनुसार केंद्र सरकार और सभी राज्य-सरकारों के बजट को दो हिस्सों में बाँटा गया। एक हिस्सा गैरयोजना-व्यय का था। इसके अंतर्गत सालाना आधार पर दैनंदिन मदों पर खर्च करना था। दूसरा हिस्सा योजना-व्यय का था। योजना में तय की गई प्राथमिकताओं को ध्यान में रखते हुए इसे पाँच साल की अवधि में खर्च करना था। पंचवर्षीय योजना पर अमल करने का एक फ़ायदा यह था कि सरकार के सामने अर्थव्यवस्था की एक बड़ी तसवीर होती थी और वह अर्थव्यवस्था में लंबी अवधि के हस्तक्षेप कर सकती थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप

1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप जारी हुआ और इसी साल नवंबर में इस योजना का वास्तविक दस्तावेज़ भी जारी किया गया। इससे देश में गहमागहमी का माहौल पैदा हुआ। जीवन के हर क्षेत्र के लोग मसलन-बुद्धिजीवी, पत्रकार, सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्र के कर्मचारी, उद्योगपति, किसान और राजनेता आदि ने योजना के दस्तावेज़ों पर व्यापक बहस-मुबाहिसा चलाया। नियोजन को लेकर देश में जो गहमागहमी पैदा हुई थी वह 1956 से चालू दूसरी पंचवर्षीय योजना के साथ अपने चरम पर पहुँच गई। 1961 की तीसरी पंचवर्षीय योजना के समय तक यह माहौल जारी रहा। चौथी पंचवर्षीय योजना 1966 से चालू होनी थी। लेकिन, इस वक्त तक नियोजन का नयापन एक हद तक मंद पड़ गया था और भारत गहन आर्थिक संकट की चपेट में आ चुका था। सरकार ने पंचवर्षीय योजना को थोड़ी देर का विराम देने का फ़ैसला किया। हालाँकि इन योजनाओं की प्राथमिकताओं और प्रक्रिया को लेकर अनेक आलोचनाएँ सामने आईं लेकिन यह बात सच है कि इस वक्त तक भारत के आर्थिक विकास की बुनियाद पड़ चुकी थी।

© NCERT not to be republished

प्रथम पंचवर्षीय योजना

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-1956) की कोशिश देश को गरीबी के मकड़जाल से निकालने की थी। योजना को तैयार करने में जुटे विशेषज्ञों में एक के.एन. राज थे। इस युवा अर्थशास्त्री की दलील थी कि अगले दो दशक तक भारत को अपनी चाल 'धीमी' रखनी चाहिए क्योंकि तेज़ रफ्तार विकास से अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुँचेगा। पहली पंचवर्षीय योजना में ज़्यादा ज़ोर कृषि-क्षेत्र पर था। इसी योजना के अंतर्गत बाँध और सिंचाई के क्षेत्र में निवेश किया गया। विभाजन के कारण कृषि-क्षेत्र को गहरी मार लगी थी और इस क्षेत्र पर तुरंत ध्यान देना ज़रूरी था। भाखड़ा-नांगल जैसी विशाल परियोजनाओं के लिए बड़ी धनराशि आबंटित की गई। इस पंचवर्षीय योजना में माना गया था कि देश में भूमि के वितरण का जो ढर्रा मौजूद है उससे कृषि के विकास को सबसे बड़ी बाधा पहुँचती है। इस योजना में भूमि-सुधार पर ज़ोर दिया गया और उसे देश के विकास की बुनियादी चीज़ माना गया।

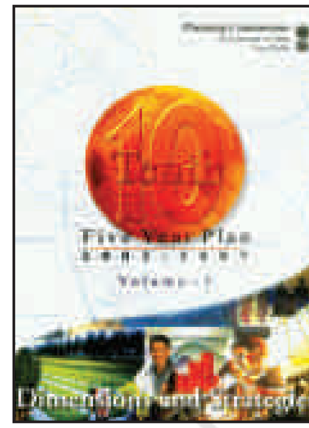

दसवीं पंचवर्षीय योजना का दस्तावेज़।

योजनाकारों का बुनियादी लक्ष्य राष्ट्रीय आय के स्तर को ऊँचा करने का था। यह तभी संभव था जब लोगों की बचत उनके खर्चे से ज़्यादा हो। 1950 के दशक में खर्च का स्तर भी बहुत नीचे था। इसे अब और कम नहीं किया जा सकता था। योजनाकारों ने बचत को बढ़ावा देने की कोशिश की। यह काम भी कठिन था क्योंकि देश में रोज़गार के काबिल जितने लोग थे उनकी तुलना में देश का मौजूदा पूँजी-भंडार कम था। बहरहाल, नियोजन की प्रक्रिया में लोगों की बचत तीसरी पंचवर्षीय योजना तक बढ़ी। लेकिन, यह बचत उम्मीद के अनुरूप नहीं थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरुआत में इससे कहीं ज़्यादा बचत की उम्मीद की गई थी। बाद के दिनों में यानी 1960 के दशक से लेकर 1970 के दशक के शुरुआती सालों तक बचत की मात्रा में लगातार कमी आई।

औद्योगीकरण की तेज़ रफ्तार

दूसरी पंचवर्षीय योजना में भारी उद्योगों के विकास पर ज़ोर दिया गया। पी.सी. महालनोबिस के नेतृत्व में अर्थशास्त्रियों और योजनाकारों की एक टोली ने यह योजना तैयार की थी। पहली योजना का मूलमंत्र था धीरज, लेकिन दूसरी योजना की कोशिश तेज़ गति से संरचनात्मक बदलाव करने की थी। इसके लिए हर संभव दिशा में बदलाव की बात तय की गई थी। सरकार ने देसी उद्योगों को संरक्षण देने के लिए आयात पर भारी शुल्क लगाया। संरक्षण की इस नीति से निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को आगे बढ़ने में मदद मिली। चूँकि इस अवधि में बचत और निवेश दोनों ही बढ़ रहे थे इसलिए बिजली, रेलवे, इस्पात, मशीनरी और संचार जैसे उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में विकसित किया जा सकता था। दरअसल, औद्योगीकरण पर दिए गए इस ज़ोर ने भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास को एक नया आयाम दिया।

पी.सी. महालनोबिस (1893-1972) : अंतरराष्ट्रीय स्तर के विख्यात वैज्ञानिक एवं सांख्यिकीविद ; भारतीय सांख्यिकी संस्थान (1931) के संस्थापक; दूसरी पंचवर्षीय योजना के योजनाकार; तीव्र औद्योगीकरण और सार्वजनिक क्षेत्र की सक्रिय भूमिका के समर्थक।

बहरहाल, इसके साथ कुछ समस्याएँ भी थीं। भारत प्रौद्योगिकी के लिहाज़ से पिछड़ा हुआ था और विश्व बाज़ार से प्रौद्योगिकी खरीदने में उसे अपनी बहुमूल्य विदेशी मुद्रा खर्च करनी पड़ी। इसके अतिरिक्त, उद्योगों ने कृषि की अपेक्षा निवेश को ज़्यादा आकर्षित किया। ऐसे में खाद्यान्न-संकट की आशंका अलग से सता रही थी। भारत के योजनाकारों को उद्योग और कृषि के बीच संतुलन साधने में भारी कठिनाई आई। तीसरी पंचवर्षीय योजना दूसरी

© NCERT not to be republished

पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजना में आबंटन (प्रतिशत में)

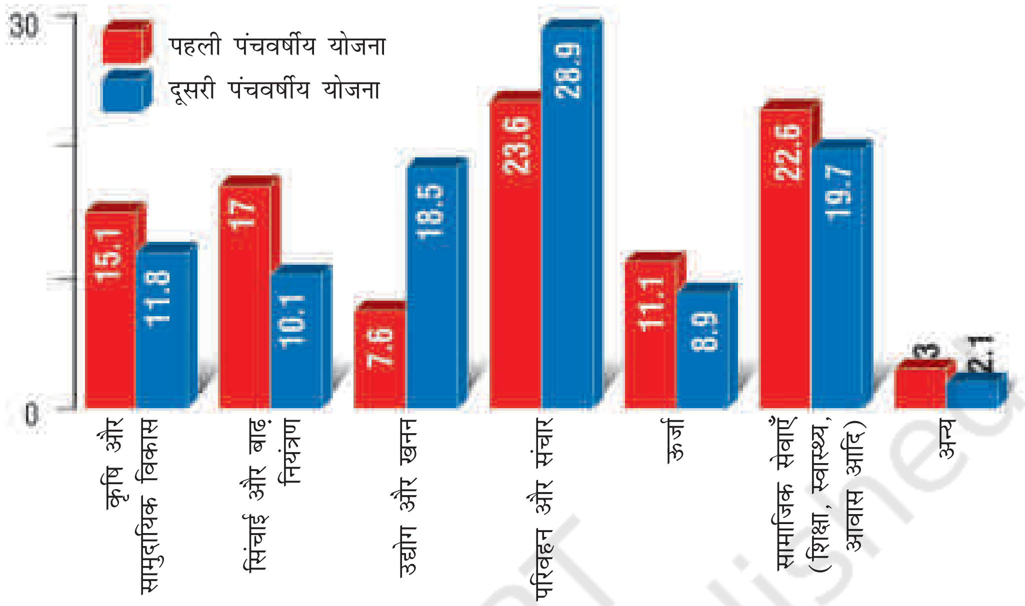

> ### विकेंद्रित नियोजन
>
> ज़रूरी नहीं कि हर नियोजन केंद्रीकृत ही हो। ऐसा भी नहीं है कि नियोजन का मतलब हमेशा उद्योगों और बड़ी-बड़ी परियोजनाओं से ही लगाया जाए। केरल में विकास और नियोजन के लिए जो रास्ता चुना गया उसे 'केरल मॉडल' कहा जाता है। इस मॉडल में शिक्षा, स्वास्थ्य, भूमि-सुधार, कारगर खाद्य-वितरण और गरीबी-उन्मूलन पर ज़ोर दिया जाता रहा है। केरल में प्रति व्यक्ति आय अपेक्षाकृत कम है और यहाँ औद्योगिक-आधार भी तुलनात्मक रूप से कमज़ोर रहा है। इसके बावजूद केरल में साक्षरता शत-प्रतिशत है। आयु प्रत्याशा बढ़ी है और वहाँ शिशु मृत्यु-दर, मातृ मृत्यु-दर और जन्म-दर भी कम है। केरल में लोगों को कहीं ज़्यादा चिकित्सा-सुविधा मुहैया है। 1987 से 1991 के बीच सरकार ने 'नव लोकतांत्रिक पहल' नाम से अभियान चलाया। इसके अंतर्गत विकास के अभियान चले (जिसमें विज्ञान और पर्यावरण के मामले में शत-प्रतिशत साक्षरता का अभियान शामिल है)। इन अभियानों की रूपरेखा इस तरह बनाई गई थी कि लोगों को स्वयंसेवी नागरिक संगठनों के माध्यम से विकास की गतिविधियों में सीधे शामिल किया जा सके। केरल में इस बात के भी प्रयास किए गए कि लोग पंचायत, प्रखंड और जिला स्तर की योजनाओं को तैयार करने में शामिल हों।

योजना से कुछ खास अलग नहीं थी। आलोचकों ने ध्यान दिलाया है कि इस समय से योजना की रणनीतियों में सीधे-सीधे 'शहरों' की तरफ़दारी होती नज़र आती है। कुछ अन्य लोगों का मानना था कि कृषि की जगह उद्योग को प्राथमिकता देकर गलती की गई। कुछ ऐसे भी लोग थे जो चाहते थे कि भारी उद्योगों की जगह कृषि-आधारित उद्योगों पर ज़ोर दिया जाए।

मुख्य विवाद

शुरुआती दौर में विकास की जो रणनीतियाँ अपनाई गईं उन पर बड़े सवाल उठे। यहाँ हम ऐसे दो सवालों की चर्चा करेंगे जो आज भी प्रासंगिक हैं।

कृषि बनाम उद्योग

हम एक बड़े सवाल से पहले ही परिचित हो चुके हैं। यह सवाल है कि भारत जैसी पिछड़ी अर्थव्यवस्था में कृषि और उद्योग के बीच किसमें

जे.सी. कुमारप्पा
(1892-1960) : असली नाम जे. सी. कॉर्नेलियस; अर्थशास्त्री एवं चार्टर्ड अकाउंटेंट; इंग्लैंड एवं अमेरिका में शिक्षा; महात्मा गाँधी के अनुयायी; गाँधीवादी आर्थिक नीतियों को लागू करने की कोशिश; 'इकॉनोमी ऑफ परमानेंस' के लेखक; योजना आयोग के सदस्य के रूप में योजना प्रक्रिया में हिस्सेदारी।

ज़्यादा संसाधन लगाए जाने चाहिए। कइयों का मानना था कि दूसरी पंचवर्षीय योजना में कृषि के विकास की रणनीति का अभाव था और इस योजना के दौरान उद्योगों पर ज़ोर देने के कारण खेती और ग्रामीण इलाकों को चोट पहुँची। जे.सी. कुमारप्पा जैसे गाँधीवादी अर्थशास्त्रियों ने एक वैकल्पिक योजना का खाका प्रस्तुत किया था जिसमें ग्रामीण औद्योगीकरण पर ज़्यादा ज़ोर था। चौधरी चरण सिंह ने भारतीय अर्थव्यवस्था के नियोजन में कृषि को केंद्र में रखने की बात बड़े सुविचारित और दमदार ढंग से उठायी थी। चौधरी चरण सिंह कांग्रेस पार्टी में थे और बाद में उससे अलग होकर इन्होंने भारतीय लोकदल नामक पार्टी बनाई। उन्होंने कहा कि नियोजन से शहरी और औद्योगिक तबके समृद्ध हो रहे हैं और इसकी कीमत किसानों और ग्रामीण जनता को चुकानी पड़ रही है।

कई अन्य लोगों का सोचना था कि औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर को तेज़ किए

सिने-संसार

पाथेर पांचाली

फिल्म की कहानी बंगाल के एक गांव में रहने वाले गरीब परिवार के जीवन-संघर्ष को बयान करती है। गरीबी और रोज़मर्रा के संघर्षों से बेखबर दुर्गा तथा उसका छोटा भाई अप्पू जीवन को छोटी-मोटी खुशियों में मशगूल रहते हैं। पाथेर पांचाली गरीबी से जूझ रहे इस परिवार की इच्छाओं और निराशा को बच्चों की आंखों से दिखाती है। फिल्म के अंत में दुर्गा बीमार पड़ जाती है।

उसके पिता हरिहर बाहर गए हुए हैं। पिता जब लौटते हैं तो अपने बच्चों के लिए तरह-तरह की चीजें लाते हैं। वे दुर्गा के लिए एक साड़ी भी लाए हैं लेकिन घर आने पर उन्हें पता चलता है कि दुर्गा इस दुनिया में नहीं रही।

फिल्म को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कई पुरस्कार मिले। इनमें राष्ट्रपति स्वर्णपदक और रजत पदक पुरस्कार (1955) शामिल हैं।

वर्ष : 1955
निर्देशक : सत्यजित रे
कथा : विभूतिभूषण बंदोपाध्याय
पटकथा: सत्यजित रे
अभिनय: कानू बनर्जी, करुणा बनर्जी, सुबीर बनर्जी, उमा दास गुप्ता, दुर्गा, चुन्नीबाला देवी।

© NCERT not to be republished

बगैर गरीबी के मकड़जाल से छुटकारा नहीं मिल सकता। इन लोगों का तर्क था कि भारतीय अर्थव्यवस्था के नियोजन में खाद्यान्न के उत्पादन को बढ़ाने की रणनीति अवश्य ही अपनायी गई थी। राज्य ने भूमि-सुधार और ग्रामीण निर्धनों के बीच संसाधन के बँटवारे के लिए कानून बनाए। नियोजन में सामुदायिक विकास के कार्यक्रम तथा सिंचाई परियोजनाओं पर बड़ी रकम खर्च करने की बात मानी गई थी। नियोजन की नीतियाँ असफल नहीं हुईं। दरअसल, इनका कार्यान्वयन ठीक नहीं हुआ क्योंकि भूमि-संपन्न तबके के पास सामाजिक और राजनीतिक ताकत ज़्यादा थी। इसके अतिरिक्त, ऐसे लोगों की एक दलील यह भी थी कि यदि सरकार कृषि पर ज़्यादा धनराशि खर्च करती तब भी ग्रामीण गरीबी की विकराल समस्या का समाधान न कर पाती।

निजी क्षेत्र बनाम सार्वजनिक क्षेत्र

विकास के जो दो जाने-माने मॉडल थे, भारत ने उनमें से किसी को नहीं अपनाया। पूँजीवादी मॉडल में विकास का काम पूर्णतया निजी क्षेत्र के भरोसे होता है। भारत ने यह रास्ता नहीं अपनाया। भारत ने विकास का समाजवादी मॉडल भी नहीं अपनाया जिसमें निजी संपत्ति को खत्म कर दिया जाता है और हर तरह के उत्पादन पर राज्य का नियंत्रण होता है। इन दोनों ही मॉडल की कुछ एक बातों को ले लिया गया और अपने देश में इन्हें मिले-जुले रूप में लागू किया गया। इसी कारण भारतीय अर्थव्यवस्था को 'मिश्रित-अर्थव्यवस्था' कहा जाता है।

May 6, 1956
साभार: शंकर

प्रस्तुत कार्टून में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र का विवाद दिखाया गया है सार्वजनिक क्षेत्र के पक्ष में केंद्रीय मंत्रियों-लालबहादुर शास्त्री, अजीत प्रसाद जैन, कैलाश नाथ काटजू, जगजीवन राम, टी.टी. कृष्णामचारी, स्वर्ण सिंह, गुलजारी लाल नंदा एवं बी. के.केसकर आदि को दिखाया गया है।

© NCERT not to be republished

खेती-किसानी, व्यापार और उद्योगों का एक बड़ा भाग निजी क्षेत्र के हाथों में रहा। राज्य ने अपने हाथ में भारी उद्योगों को रखा और उसने आधारभूत ढाँचा प्रदान किया। राज्य ने व्यापार का नियमन किया और कृषि के क्षेत्र में कुछ बड़े हस्तक्षेप किए।

इस तरह के मिले-जुले मॉडल की आलोचना दक्षिणपंथी और वामपंथी, दोनों खेमों से हुई। आलोचकों का कहना था कि योजनाकारों ने निजी क्षेत्र को पर्याप्त जगह नहीं दी है और न ही निजी क्षेत्र के बढ़वार के लिए कोई उपाय किया गया है। विशाल सार्वजनिक क्षेत्र ने ताकतवर निहित स्वार्थों को खड़ा किया है और इन न्यस्त हितों ने निवेश के लिए लाइसेंस तथा परमिट की प्रणाली खड़ी करके निजी पूँजी की राह में रोड़े अटकाए हैं। इसके अतिरिक्त सरकार ने ऐसी चीज़ों के आयात पर बाधा आयद की है जिन्हें घरेलू बाजार में बनाया जा सकता हो। ऐसी चीजों के उत्पादन का बाज़ार एक तरह से प्रतिस्पर्धाविहीन है। इसकी वज़ह से निजी क्षेत्र के पास अपने उत्पादों की गुणवत्ता सुधारने अथवा उन्हें सस्ता करने की कोई हड़बड़ी नहीं रही। सरकार ने अपने नियंत्रण में ज़रूरत से ज़्यादा चीज़ें रखी हैं। इससे भ्रष्टाचार और अकुशलता बढ़ी है।

कुछ ऐसे आलोचक भी थे जो सोचते थे कि सरकार को जितना करना चाहिए था उतना उसने नहीं किया। इन आलोचकों ने ध्यान दिलाया कि जनता की शिक्षा अथवा चिकित्सा के मद में सरकार ने कुछ खास धनराशि खर्च नहीं की। सरकार ने केवल उन्हीं क्षेत्रों में हस्तक्षेप किया जहाँ निजी क्षेत्र जाने के लिए तैयार नहीं था। दरअसल, सरकार ने इस तरह से निजी क्षेत्र की मुनाफा कमाने में मदद की। इसके अतिरिक्त, मदद गरीबों की होनी चाहिए थी लेकिन राज्य के हस्तक्षेप के फलस्वरूप एक नया 'मध्यवर्ग' उठ खड़ा हुआ जो बगैर खास जिम्मेदारी के मोटी तनख्वाह सहित अन्य सुविधाओं को भोग रहा है। इस अवधि में गरीबी में ज़्यादा कमी नहीं आई; गरीबों का प्रतिशत कुल जनसंख्या में भले कम हुआ हो लेकिन उनकी संख्या में बढ़ोतरी हुई है।

मुख्य परिणाम

आज़ाद भारत के सामने तीन मुख्य चुनौतियाँ थीं। इनकी चर्चा यहाँ तीन अध्यायों में की गई है। इनमें तीसरी चुनौती सबसे कठिन साबित हुई। नियोजित विकास की शुरुआती कोशिशों को देश के आर्थिक विकास और सभी नागरिकों की भलाई के लक्ष्य में आंशिक सफलता मिली। शुरुआती दौर में ही इस दिशा में बड़े कदम न उठा पाने की अक्षमता एक राजनीतिक समस्या के रूप में सामने आई। असमान विकास से जिनको फायदा पहुँचा था वे जल्दी ही राजनीतिक रूप से ताकतवर हो उठे और इन के कारण सबकी भलाई को ध्यान में रखकर विकास की दिशा में कदम उठाना और मुश्किल हो गया।

बुनियाद

नियोजित विकास के शुरुआती दौर का मूल्यांकन करते समय हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि इसी दौर में भारत के आगामी आर्थिक विकास की बुनियाद पड़ी। भारत के इतिहास की कुछ सबसे बड़ी विकास-परियोजनाएँ इसी अवधि में शुरू हुईं। इसमें सिंचाई और बिजली-उत्पादन के लिए शुरू की गई भाखड़ा-नांगल और हीराकुंड जैसी विशाल बाँध परियोजनाएँ शामिल हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ भारी उद्योग जैसे– इस्पात-संयंत्र, तेल-शोधक

© NCERT not to be republished

सरकारी प्रचार गाँव तक पहुँचा

"एक तरह से शिवपालगंज में दीवारों पर चिपके या लिखे हुए विज्ञापन वहाँ की समस्याओं और उनके समाधानों का सच्चा परिचय देते थे। मिसाल के लिए, समस्या थी कि भारतवर्ष एक खेतिहर देश है और किसान बदमाशी के कारण अधिक अन्न नहीं उपजाते। इसका समाधान यह था कि किसानों के आगे लेक्चर दिया जाए और उन्हें अच्छी-अच्छी तसवीरें दिखायी जाएँ। उनके द्वारा उन्हें बताया जाए कि तुम अगर अपने लिए अन्न नहीं पैदा करना चाहते तो देश के लिए करो। इसी से जगह-जगह पोस्टर चिपके हुए थे जो काश्तकारों से देश के लिए अधिक अन्न पैदा कराना चाहते थे। लेक्चरों और तसवीरों का मिला-जुला असर काश्तकारों पर बड़े ज़ोर से पड़ता था और भोले-से-भोला काश्तकार भी मानने लगता था कि हो-न-हो, इसके पीछे भी कोई चाल है।

शिवपालगंज में उन दिनों एक ऐसा विज्ञापन खासतौर से मशहूर हो रहा था जिसमें एक तंदुरुस्त काश्तकार सिर पर अंगोछा बांधे, कानों में बालियाँ लटकाए और बदन पर मिर्जई पहने गेहूँ की ऊँची फसल को हँसिये से काट रहा था। एक औरत उसके पीछे खड़ी हुई, अपने-आपसे बहुत खुश, कृषि विभाग के से अफसरों वाली हँसी हँस रही थी। नीचे और ऊपर अंग्रेज़ी और हिंदी अक्षरों में लिखा था, "अधिक अन्न उपजाओ।" मिर्जई और बालीवाले काश्तकारों में जो अंग्रेजी के विद्वान थे, उन्हें अंग्रेजी इबारत से और जो हिंदी के विद्वान थे, उन्हें हिंदी से परास्त करने की बात सोची गयी थी, और जो दो में से एक भी भाषा नहीं जानते थे, वे भी कम-से-कम आदमी और औरत को तो पहचानते ही थे। उनसे आशा की जाती थी कि आदमी के पीछे हँसती हुई औरत की तसवीर देखते ही वे उसकी ओर पीठ फेरकर दीवानों की तरह अधिक अन्न उपजाना शुरू कर देंगे।

–श्रीलाल शुक्ल द्वारा लिखित उपन्यास *रागदरबारी* का एक हिस्सा। इस उपन्यास का कथाकाल 1960 का दशक है और कथाभूमि है उत्तर प्रदेश का एक गाँव शिवपालगंज।

कारखाने, विनिर्माता इकाइयाँ, रक्षा-उत्पादन आदि–इसी अवधि में शुरू हुए। इस दौर में परिवहन और संचार के आधारभूत ढाँचे में भी काफ़ी इजाफ़ा हुआ। बाद के समय में कुछ विशाल परियोजनाओं की खूब आलोचना हुई। फिर भी, बाद के समय की आर्थिक संवृद्धि (जिसमें निजी क्षेत्र की आर्थिक संवृद्धि भी शामिल है) इस बुनियाद के बगैर संभव नहीं हो पाती।

भूमि सुधार

जहाँ तक कृषि-क्षेत्र का सवाल है, इस अवधि में भूमि सुधार के गंभीर प्रयास हुए। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण और सफल प्रयास जमींदारी प्रथा को समाप्त करने का था। यह प्रथा अंग्रेजी शासन के जमाने से चली आ रही थी। इस साहसिक कदम को उठाने से जमीन उस वर्ग के हाथ से मुक्त हुई जिसे कृषि में कोई दिलचस्पी नहीं थी। इससे राजनीति पर दबदबा कायम रखने की जमींदारों की क्षमता भी घटी। ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़ों को एक साथ करने के प्रयास किए गए ताकि खेती का काम सुविधाजनक हो सके। यह प्रयास भी सफल रहा। भूमि सुधार की दो अन्य कोशिशों को थोड़ी कम सफलता मिली। हालांकि इस बात के लिए कानून बनाए गए कि कोई व्यक्ति अधिकतम कितनी भूमि अपने नाम पर रख सकता है लेकिन जिनके पास ज़्यादा ज़मीन थी उन्होंने इस कानून का तोड़ खोज लिया। ठीक इसी तरह जो काश्तकार किसी और की जमीन बटाई पर जोत-बो रहे थे, उन्हें भी ज़्यादा कानूनी सुरक्षा प्रदान की गई लेकिन इस कानून पर शायद ही कहीं अमल हुआ।

The Hindustan Times

Trying months ahead despite rain: Minister

Next crop may be normal

Opposition warned not to exploit situation

Johnson 'ordered' freeze

Australia sounded on wheat

JP call for relief workers, food

Industries given new concessions

Thirteen die of hunger in Bihar

Tribal areas worst hit: adivasis live on roots

खाद्य संकट

1960 के दशक में कृषि की दशा बद से बदतर होती गई। 1940 और 1950 के दशक में ही खाद्यान्न के उत्पादन की वृद्धि दर, जनसंख्या की वृद्धि दर से जैसे-तैसे अपने को ऊपर रख पाई थी। 1965 से 1967 के बीच देश के अनेक हिस्सों में सूखा पड़ा। इसी अवधि में भारत ने दो युद्धों का सामना किया और उसे विदेशी मुद्रा के संकट को भी झेलना पड़ा। इसके बारे में हम लोग अगले अध्याय में पढ़ेंगे। इन सारी बातों के कारण खाद्यान्न की भारी कमी हो गई। देश के अनेक भागों में अकाल जैसी स्थिति आन पड़ी।

बिहार में खाद्यान्न संकट सबसे ज़्यादा विकराल था। यहाँ स्थिति लगभग अकाल जैसी हो गई थी। बिहार के सभी जिलों में खाद्यान्न का अभाव बड़े पैमाने पर था। इस राज्य के 9 जिलों में अनाज की पैदावार सामान्य स्थिति की तुलना में आधी से भी कम थी। इनमें से पाँच जिले अपनी सामान्य पैदावार की तुलना में महज एक-तिहाई ही अनाज उपजा रहे थे।

खाद्यान्न के अभाव में कुपोषण बड़े पैमाने पर फैला और इसने गंभीर रूप धारण किया। अनुमान के मुताबिक बिहार के अनेक हिस्सों में उस समय प्रति व्यक्ति प्रतिदिन का आहार 2200 कैलोरी से घटकर 1200 कैलोरी हो गया था, जबकि एक सामान्य आदमी के लिए रोज़ाना 2450 कैलोरी के आहार की ज़रूरत होती है। 1967 में बिहार में मृत्यु दर पिछले साल की तुलना में 34 प्रतिशत बढ़ गई थी। इन वर्षों के दौरान बिहार में उत्तर भारत के अन्य राज्यों की तुलना में खाद्यान्न की कीमतें भी काफ़ी बढ़ीं। अपेक्षाकृत समृद्ध पंजाब की तुलना में गेहूँ और चावल बिहार में दोगुने अथवा उससे भी ज़्यादा दामों में बिक रहे थे। सरकार ने उस वक्त 'ज़ोनिंग' या इलाकाबंदी की नीति अपना रखी थी। इसकी वज़ह से विभिन्न राज्यों के बीच खाद्यान्न का व्यापार नहीं हो पा रहा था। इस नीति के कारण उस वक्त बिहार में खाद्यान्न की उपलब्धता में भारी गिरावट आई थी। ऐसी दशा में समाज के सबसे गरीब तबके पर सबसे ज़्यादा चोट पड़ी।

खाद्य संकट के कई परिणाम हुए। सरकार को गेहूँ का आयात करना पड़ा और विदेशी मदद (खासकर संयुक्त राज्य अमरीका की) भी स्वीकार करनी पड़ी। अब योजनाकारों के सामने पहली प्राथमिकता तो यही थी कि किसी भी तरह खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भरता हासिल की जाए। पूरी योजना-प्रक्रिया और इससे जुड़ी आशा तथा गर्वबोध को इन बातों से एक धक्का लगा।

कृषि की बेहतरी और खेतिहर जनता की भलाई से जुड़ी इन नीतियों को ठीक-ठीक और कारगर तरीके से अमल में ला पाना आसान नहीं था। ऐसा तभी हो सकता था जब ग्रामीण भूमिहीन जनता लामबंद हो लेकिन भू-स्वामी बहुत ताकतवर थे। इनका राजनीतिक रसूख भी था। इस वजह से भूमि सुधार के अनेक प्रस्ताव या तो कानून का रूप नहीं ले सके या कानून बनने पर महज कागज़ की शोभा बढ़ाते रहे। इससे पता चलता है कि आर्थिक नीति किसी समाज की वास्तविक राजनीतिक स्थिति का ही अंग होती है। इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि शीर्षस्थ नेताओं की भलमनसाहत के बावजूद प्रभुत्व संपन्न सामाजिक वर्ग ही हमेशा नीति के निर्माण और उसके क्रियान्वयन पर अपना कारगर नियंत्रण रखता है।

हरित क्रांति

खाद्यान्न संकट की इस हालत में देश पर बाहरी दबाव पड़ने की आशंका बढ़ गई थी। भारत विदेशी खाद्य-सहायता पर निर्भर हो चला था, खासकर संयुक्त राज्य अमरीका के। संयुक्त राज्य अमरीका ने इसकी एवज में भारत पर अपनी आर्थिक नीतियों को बदलने के लिए ज़ोर डाला। सरकार ने खाद्य सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए कृषि की एक नई रणनीति अपनाई। जो इलाके अथवा किसान खेती के मामले में पिछड़े हुए थे, शुरू-शुरू में सरकार ने उनको ज़्यादा सहायता देने की नीति अपनाई थी। इस नीति को छोड़ दिया गया। सरकार ने अब उन इलाकों पर ज़्यादा संसाधन लगाने का फ़ैसला किया जहाँ सिंचाई सुविधा मौजूद थी और जहाँ के किसान समृद्ध थे। इस नीति के पक्ष में दलील यह दी गई कि जो पहले से ही सक्षम हैं वे कम समय में उत्पादन को तेज़ रफ्तार से बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं। सरकार ने उच्च गुणवत्ता के बीज, उर्वरक, कीटनाशक और बेहतर सिंचाई सुविधा बड़े अनुदानित मूल्य पर मुहैया कराना शुरू किया। सरकार ने इस बात की भी गारंटी दी कि उपज को एक निर्धारित मूल्य पर खरीद लिया जाएगा। यही उस परिघटना की शुरुआत थी जिसे 'हरित क्रांति' कहा जाता है।

इस प्रक्रिया में धनी किसानों और बड़े भू-स्वामियों को सबसे ज़्यादा फायदा हुआ। हरित क्रांति से खेतिहर पैदावार में सामान्य किस्म का इजाफा हुआ (ज़्यादातर गेहूँ की पैदावार बढ़ी) और देश में खाद्यान्न की उपलब्धता में बढ़ोतरी हुई। बहरहाल, इससे समाज के विभिन्न वर्गों

खोज-बीन

श्रीकांत को अब भी वे दिन बखूबी याद हैं, जब उसके बड़े भाई को राशन की दुकान से सामान लाने के लिए धक्का-मुक्की करनी पड़ती थी। श्रीकांत का परिवार चावल, तेल और केरोसिन के लिए राशन की दुकान पर ही निर्भर था। कई बार ऐसा हुआ कि उसका भाई राशन की लाइन में खड़ा रहा और जब उसकी बारी आई तो पता चला कि राशन खत्म हो गया है। अपने परिवार के वरिष्ठ सदस्यों से पूछें कि राशनकार्ड कैसा होता है? यह भी जानने का प्रयास करें कि क्या वे कोई सामान अभी भी राशन की दुकान से खरीदते हैं। अपने स्कूल या घर के आसपास राशन की दुकान ढूँढ़ें और यह जानने का प्रयास करें कि गेहूँ, चावल, वनस्पति तेल और चीनी यहाँ किस दाम पर बिक रही हैं। इसके बाद यह जानने का प्रयास करें कि इन वस्तुओं की कीमत खुले बाज़ार में क्या है?

© NCERT not to be republished

कुछ आगे की... श्वेत क्रांति

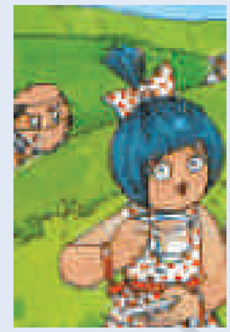

'अटरली बटरली डेलीशियस' का जुमला आपने ज़रूर पढ़ा-सुना होगा और वह खुशगवार तसवीर भी देखी होगी जिसमें एक छोटी-सी बच्ची के हाथ में मक्खन लगा टोस्ट होता है। जी हाँ! हम 'अमूल' के विज्ञापन की बात कर रहे हैं। क्या आप जानते हैं कि 'अमूल' के उत्पादों के पीछे सहकारी डेयरी फार्मिंग की एक पूरी कथा छुपी हुई है। 'मिल्कमैन ऑफ़ इंडिया' के नाम से मशहूर वर्गीज कूरियन ने गुज़रात सहकारी दुग्ध एवं विपणन परिसंघ की विकास कथा में केंद्रीय भूमिका निभायी और 'अमूल' की शुरुआत की।

गुज़रात का एक शहर है 'आणंद'। सहकारी दूध उत्पादन का आंदोलन अमूल इसी शहर में कायम है। इसमें गुज़रात के 25 लाख दूध-उत्पादक जुड़े हैं। ग्रामीण-विकास और गरीबी-उन्मूलन के लिहाज से 'अमूल' नाम का यह सहकारी आंदोलन अपने आप में एक अनूठा और कारगर मॉडल है। इस 'मॉडल' के विस्तार को श्वेत क्रांति के नाम से जाना जाता है। 1970 में 'ऑपरेशन फ्लड' के नाम से एक ग्रामीण विकास कार्यक्रम शुरू हुआ था। 'ऑपरेशन फ्लड' के अंतर्गत सहकारी दूध-उत्पादकों को उत्पादन और विपणन के एक राष्ट्रव्यापी तंत्र से जोड़ा गया। बहरहाल, 'ऑपरेशन फ्लड' सिर्फ़ डेयरी-कार्यक्रम नहीं था। इस कार्यक्रम में डेयरी के काम को विकास के एक माध्यम के रूप में अपनाया गया था ताकि ग्रामीण लोगों को रोज़गार के अवसर प्राप्त हों, उनकी आमदनी बढ़े तथा गरीबी दूर हो। सहकारी दूध-उत्पादकों की सदस्य संख्या लगातार बढ़ रही है। सदस्यों में महिलाओं की संख्या भी बढ़ी है। महिला सहकारी डेयरी के जमातों में भी इजाफा हुआ है।

और देश के अलग-अलग इलाकों के बीच ध्रुवीकरण तेज़ हुआ। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश जैसे इलाके कृषि के लिहाज़ से समृद्ध हो गए जबकि बाकी इलाके खेती के मामले में पिछड़े रहे। हरित क्रांति के दो और प्रभाव हुए। पहला असर तो यह हुआ कि गरीब किसानों और भू-स्वामियों के बीच का अंतर मुखर हो उठा। इससे देश के विभिन्न हिस्सों में वामपंथी संगठनों के लिए गरीब किसानों को लामबंद करने के लिहाज से अनुकूल स्थिति पैदा हुई। दूसरे, हरित क्रांति के कारण कृषि में मंझोले दर्जे के किसानों यानी मध्यम श्रेणी के भू-स्वामित्व वाले किसानों का उभार हुआ। इन्हें बदलावों से फायदा हुआ था और देश के अनेक हिस्सों में ये प्रभावशाली बनकर उभरे।

बाद के बदलाव

1960 के दशक के अंत में भारत के आर्थिक विकास की कथा में एक नया मोड़ आता है। पाँचवें अध्याय में आप पढ़ेंगे कि नेहरू की मृत्यु के बाद कांग्रेस-प्रणाली संकट से घिरने लगी। इंदिरा गाँधी जननेता बनकर उभरीं। उन्होंने फ़ैसला किया कि अर्थव्यवस्था के नियंत्रण और निर्देशन में राज्य और बड़ी भूमिका निभाएगा। 1967 के बाद की अवधि में निजी क्षेत्र के उद्योगों पर और बाधाएँ आयद हुईं। 14 निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। सरकार ने गरीबों की भलाई के लिए अनेक कार्यक्रमों की घोषणा की। इन परिवर्तनों के साथ ही साथ सरकार का विचारधारात्मक रुझान समाजवादी नीतियों की तरफ बढ़ा। इन बदलावों को लेकर देश की विभिन्न राजनीतिक पार्टियों में गर्मागर्म बहसें चलीं। विशेषज्ञों के बीच भी सरकार की नीतियों पर ज़ोरदार बहसें चलीं।

बहरहाल, सरकारी नियंत्रण वाली अर्थव्यवस्था के पक्ष में बनी सहमति ज़्यादा दिनों तक कायम नहीं रही। नियोजन का काम तो जारी रहा लेकिन इसके महत्त्व में कमी आई।

© NCERT not to be republished

1950 से 1980 के बीच भारत की अर्थव्यवस्था सालाना 3-3.5 प्रतिशत की धीमी रफ्तार से आगे बढ़ी। सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ उद्यमों में भ्रष्टाचार और अकुशलता का ज़ोर बढ़ा। नौकरशाही भी आर्थिक विकास में ज़्यादा सकारात्मक भूमिका नहीं निभा रही थी। सार्वजनिक क्षेत्र अथवा नौकरशाही के प्रति शुरू-शुरू में लोगों में गहरा विश्वास था लेकिन बदले हुए माहौल में यह विश्वास टूट गया। जनता का भरोसा टूटता देख नीति-निर्माताओं ने 1980 के दशक के बाद से अर्थव्यवस्था में राज्य की भूमिका को कम कर दिया। इस बदलाव के बारे में हम पाठ्यपुस्तक के आखिरी हिस्से में पढ़ेंगे।

साभार: शंकर, 27 अगस्त 1961

प्रश्नावली

1. 'बॉम्बे प्लान' के बारे में निम्नलिखित में कौन-सा बयान सही नहीं है।
   (क) यह भारत के आर्थिक भविष्य का एक ब्लू-प्रिंट था।
   (ख) इसमें उद्योगों के ऊपर राज्य के स्वामित्व का समर्थन किया गया था।
   (ग) इसकी रचना कुछ अग्रणी उद्योगपतियों ने की थी।
   (घ) इसमें नियोजन के विचार का पुरज़ोर समर्थन किया गया था।

2. भारत ने शुरुआती दौर में विकास की जो नीति अपनाई उसमें निम्नलिखित में से कौन-सा विचार शामिल नहीं था?
   (क) नियोजन (ख) उदारीकरण
   (ग) सहकारी खेती (घ) आत्मनिर्भरता

3. भारत में नियोजित अर्थव्यवस्था चलाने का विचार-ग्रहण किया गया था:
   (क) बॉम्बे प्लान से (ख) सोवियत खेमे के देशों के अनुभवों से
   (ग) समाज के बारे में गाँधीवादी विचार से (घ) किसान संगठनों की माँगों से

(क) सिर्फ़ ख और घ (ख) सिर्फ़ क और ख
(ग) सिर्फ़ घ और ग (घ) उपर्युक्त सभी

4. निम्नलिखित का मेल करें:

(क) चरण सिंह	(i) औद्योगीकरण
(ख) पी.सी. महालनोबिस	(ii) जोनिंग
(ग) बिहार का अकाल	(iii) किसान
(घ) वर्गीज कूरियन	(iv) सहकारी डेयरी

5. आज़ादी के समय विकास के सवाल पर प्रमुख मतभेद क्या थे? क्या इन मतभेदों को सुलझा लिया गया?
6. पहली पंचवर्षीय योजना का किस चीज़ पर सबसे ज़्यादा ज़ोर था? दूसरी पंचवर्षीय योजना पहली से किन अर्थों में अलग थी?
7. हरित क्रांति क्या थी? हरित क्रांति के दो सकारात्मक और दो नकारात्मक परिणामों का उल्लेख करें।
8. दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान औद्योगिक विकास बनाम कृषि विकास का विवाद चला था। इस विवाद में क्या-क्या तर्क दिए गए थे।
9. "अर्थव्यवस्था में राज्य की भूमिका पर ज़ोर देकर भारतीय नीति-निर्माताओं ने गलती की। अगर शुरुआत से ही निजी क्षेत्र को खुली छूट दी जाती तो भारत का विकास कहीं ज़्यादा बेहतर तरीके से होता।" इस विचार के पक्ष या विपक्ष में अपने तर्क दीजिए।
10. निम्नलिखित अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें:

आज़ादी के बाद के आरंभिक वर्षों में कांग्रेस पार्टी के भीतर दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ पनपीं। एक तरफ राष्ट्रीय पार्टी कार्यकारिणी ने राज्य के स्वामित्व का समाजवादी सिद्धांत अपनाया, उत्पादकता को बढ़ाने के साथ-साथ आर्थिक संसाधनों के संकेंद्रण को रोकने के लिए अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों का नियंत्रण और नियमन किया। दूसरी तरफ कांग्रेस की राष्ट्रीय सरकार ने निजी निवेश के लिए उदार आर्थिक नीतियाँ अपनाईं और उसके बढ़ावे के लिए विशेष कदम उठाए। इसे उत्पादन में अधिकतम वृद्धि की अकेली कसौटी पर ज़ायज़ ठहराया गया।

– ***फ्रैंकिन फ्रैंकल***

(क) यहाँ लेखक किस अंतर्विरोध की चर्चा कर रहा है? ऐसे अंतर्विरोध के राजनीतिक परिणाम क्या होंगे?

(ख) अगर लेखक की बात सही है तो फिर बताएँ कि कांग्रेस इस नीति पर क्यों चल रही थी? क्या इसका संबंध विपक्षी दलों की प्रकृति से था?

(ग) क्या कांग्रेस पार्टी के केंद्रीय नेतृत्व और इसके प्रांतीय नेताओं के बीच भी कोई अंतर्विरोध था?

प्रश्नावली

© NCERT not to be republished

साभार : नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एवं लाइब्रेरी

यह तसवीर अक्तूबर 1960 में न्यूयार्क में गुटनिरपेक्ष देशों की एक संगोष्ठी की है। इसमें जवाहरलाल नेहरू घाना के एनक्रूमा, मिस्र के नासिर, इंडोनेशिया के सुकर्णो और युगोस्लाविया के टीटो के साथ नज़र आ रहे हैं।

इस अध्याय में...

अब तक हमने इस किताब में देश में हुए बदलाव और घरेलू चुनौतियों पर अपनी नजर डाली है। इस अध्याय में हम बाहरी चुनौतियों के बारे में पढ़ेंगे। इस मोर्चे पर भी अपने देश के नेताओं ने नयी राह अपनायी और बाहरी चुनौतियों के मामले में गुटनिरपेक्षता की नीति का पालन किया। बहरहाल, हमारे नेताओं को पड़ोसी देशों से हुए युद्धों से भी निपटना पड़ा। भारत को अपने पड़ोसी देशों से 1962, 1965 और 1971 में युद्ध लड़ना पड़ा था। इन लड़ाइयों और हमारे विदेशी संबंधों को देश की राजनीति ने एक शक्ल प्रदान की। देश की राजनीति स्वयं भी इस क्रम में प्रभावित हुई।

इस अध्याय में हम अंदरूनी और बाहरी राजनीति के इसी रिश्ते के बारे में पढ़ेंगे। इस अध्याय में चर्चा की जाएगी कि:

- भारत के विदेश संबंधों ने किन अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में आकार ग्रहण किया;
- भारत की विदेश नीति किन सिद्धांतों से निर्देशित हुई;
- चीन और पाकिस्तान के साथ भारत के रिश्ते कैसे रहे; और
- भारत की परमाणु नीति का उद्भव किन स्थितियों में हुआ?

अध्याय 4

भारत के विदेश संबंध

12122CH04

अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ

भारत बड़ी विकट और चुनौतीपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में आज़ाद हुआ था। दुनिया महायुद्ध की तबाही से अभी बाहर निकली थी और उसके सामने पुनर्निर्माण का सवाल प्रमुख था। एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था बनाने के प्रयास हो रहे थे और उपनिवेशवाद की समाप्ति के फलस्वरूप दुनिया के नक्शे पर नए देश नमूदार हो रहे थे। नए देशों के सामने लोकतंत्र कायम करने और अपनी जनता की भलाई करने की दोहरी चुनौती थी। स्वतंत्रता के तुरंत बाद भारत ने जो विदेश नीति अपनाई उनमें हम इन सारे सरोकारों की झलक पाते हैं। वैश्विक स्तर के इन सरोकारों के अलावा भारत की कुछ अपनी चिंताएँ भी थीं। अंग्रेजी सरकार अपने पीछे अंतर्राष्ट्रीय विवादों की एक पूरी विरासत छोड़ गई थी; बँटवारे के कारण अलग से दवाब पैदा हुए थे और गरीबी मिटाने का काम सामने मुँह बाए खड़ा था। कुल जमा इन्हीं संदर्भों के बीच भारत ने एक स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य के रूप में अंतर्राष्ट्रीय मामलों में भागीदारी शुरू की।

एक राष्ट्र के रूप में भारत का जन्म विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में हुआ था। ऐसे में भारत ने अपनी विदेश नीति में अन्य सभी देशों की संप्रभुता का सम्मान करने और शांति कायम करके अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करने का लक्ष्य सामने रखा। इस लक्ष्य की प्रतिध्वनि संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धांतों में सुनाई देती है।

जिस तरह किसी व्यक्ति या परिवार के व्यवहारों को अंदरूनी और बाहरी कारक निर्देशित करते हैं उसी तरह एक देश की विदेश नीति पर भी घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय वातावरण का असर पड़ता है। विकासशील देशों के पास अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के भीतर अपने सरोकारों को पूरा करने के लिए जरूरी संसाधनों का अभाव होता है। इसके चलते वे बढ़े-चढ़े देशों की अपेक्षा बड़े सीधे-सादे लक्ष्यों को लेकर अपनी विदेश नीति तय करते हैं। ऐसे देशों का ज़ोर इस बात पर होता है कि उनके पड़ोस में अमन-चैन कायम रहे और विकास होता रहे। इसके अतिरिक्त, विकासशील देश आर्थिक और सुरक्षा की दृष्टि से ज्यादा ताकतवर देशों पर निर्भर होते हैं। इस निर्भरता का भी उनकी विदेश नीति पर जब-तब असर पड़ता है। दूसरे विश्वयुद्ध के तुरंत बाद के दौर में अनेक विकासशील देशों ने ताकतवर देशों की मर्जी को ध्यान में रखकर अपनी विदेश नीति अपनाई क्योंकि इन देशों से इन्हें अनुदान अथवा कर्ज मिल रहा था। इस वजह से दुनिया के विभिन्न देश दो खेमों में बँट गए। एक खेमा संयुक्त राज्य अमरीका और उसके समर्थक देशों के प्रभाव में रहा तो दूसरा खेमा सोवियत संघ के प्रभाव में। आपने इसके बारे में 'समकालीन विश्व राजनीति' नामक किताब में पढ़ा होगा। आपने इस किताब में गुटनिरपेक्ष-आंदोलन के बारे में भी पढ़ा होगा। आप इस किताब में पढ़ चुके हैं कि शीतयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का संदर्भ पूरी तरह बदल गया। बहरहाल, जब भारत आज़ाद हुआ था और अपनी विदेश नीति तैयार कर रहा था तब शीतयुद्ध शुरू ही हुआ था और दुनिया बड़ी तेज़ी से दो खेमों में बँटती जा रही थी।

"आज़ादी किन चीजों से बनती है? आज़ादी बुनियादी तौर पर विदेश संबंधों से ही बनी होती है। यही आज़ादी की कसौटी भी है। बाकी सारा कुछ तो स्थानीय स्वायत्तता है। एक बार विदेश संबंध आपके हाथ से निकलकर दूसरे के हाथ में चले जाएँ तो फिर जिस हद तक आपके हाथ से ये संबंध छूटे और जिन मसलों में छूटे-वहाँ तक आप आज़ाद नहीं रहते।"

जवाहरलाल नेहरू
संविधान सभा की एक बहस के दौरान (मार्च 1949)

© NCERT not to be republished

संवैधानिक सिद्धांत

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 51 में 'अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के बढ़ावे' के लिए राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांत के हवाले से कहा गया है कि राज्य :

(क) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की अभिवृद्धि का,

(ख) राष्ट्रों के बीच न्यायसंगत और सम्मानपूर्ण संबंधों को बनाए रखने का,

(ग) संगठित लोगों के एक-दूसरे से व्यवहारों में अंतर्राष्ट्रीय विधि और संधि-बाध्यताओं के प्रति आदर बढ़ाने का, और

(घ) अंतर्राष्ट्रीय विवादों को माध्यस्थम द्वारा निपटारे के लिए प्रोत्साहन देने का, प्रयास करेगा।

क्या 1950 और 1960 के दशक की विश्व राजनीति में भारत इन दोनों में से किसी खेमे में शामिल था? क्या भारत अपनी विदेश नीति को शांतिपूर्ण ढंग से लागू करने और अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों से बचे रहने में सफल रहा?

गुटनिरपेक्षता की नीति

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन अपने आप में कोई स्वतंत्र घटना नहीं हैं। पूरी दुनिया में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष चल रहे थे और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन भी इसी विश्वव्यापी संघर्ष का हिस्सा था। इस आंदोलन का असर एशिया और अफ्रीका के कई मुक्ति आंदोलनों पर हुआ। आज़ादी मिलने से पहले भी भारत के राष्ट्रवादी नेता दुनिया के अन्य उपनिवेशों में मुक्ति संग्राम चला रहे नेताओं के संपर्क में थे। ये सभी नेता आखिर उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक साझी लड़ाई लड़ रहे थे। नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान 'इंडियन नेशनल आर्मी' (आई.एन.ए.) का गठन किया था। इससे साफ़-साफ़ ज़ाहिर होता है कि स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारत के संबंध विदेशों में रह रहे भारतीयों से बन चुके थे।

किसी राष्ट्र की विदेश नीति से उसके अंदरूनी और बाहरी सरोकारों की झलक मिलती है। भारत का स्वतंत्रता आंदोलन जिन उदात्त विचारों से प्रेरित था उनका असर भारत की विदेश नीति पर भी पड़ा। बहरहाल, भारत को जिस वक्त आज़ादी हासिल हुई उस समय शीतयुद्ध का दौर भी शुरू हो चुका था। आप 'समकालीन विश्व राजनीति' की किताब के पहले अध्याय में पढ़ चुके हैं कि शीतयुद्ध के दौर में दुनिया के देश दो खेमों में बँट रहे थे। एक खेमे का अगुआ संयुक्त राज्य अमरीका था और दूसरे का सोवियत संघ। दोनों खेमों के बीच विश्वस्तर पर आर्थिक, राजनीतिक और सैन्य टकराव जारी था। इसी दौर में संयुक्त राष्ट्र संघ भी अस्तित्व में आया; परमाणु हथियारों का निर्माण शुरू हुआ; चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना हुई। अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया भी इसी दौर में आरंभ हुई थी। भारत के नेताओं को अपने राष्ट्रीय हित इसी संदर्भ के दायरे में साधने थे।

© NCERT not to be republished

नेहरू की भूमिका

भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय एजेंडा तय करने में निर्णायक भूमिका निभाई। वे प्रधानमंत्री के साथ-साथ विदेश मंत्री भी थे। प्रधानमंत्री और विदेश मंत्री के रूप में 1946 से 1964 तक उन्होंने भारत की विदेश नीति की रचना और क्रियान्वयन पर गहरा प्रभाव डाला। नेहरू की विदेश नीति के तीन बड़े उद्देश्य थे- कठिन संघर्ष से प्राप्त संप्रभुता को बचाए रखना, क्षेत्रीय अखंडता को बनाए रखना और तेज़ रफ्तार से आर्थिक विकास करना। नेहरू इन उद्देश्यों को गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाकर हासिल करना चाहते थे। उन दिनों देश में कुछ पार्टियाँ और समूह ऐसे भी थे जिनका मानना था कि भारत को अमरीकी खेमे के साथ ज्यादा नज़दीकी बढ़ानी चाहिए क्योंकि इस खेमे की प्रतिष्ठा लोकतंत्र के हिमायती के रूप में थी। इस धारा पर सोचने वालों में डा. भीमराव अंबेडकर भी शामिल थे। साम्यवाद की विरोधी कुछ राजनीतिक पार्टियाँ भी चाहती थीं कि भारत अपनी विदेश नीति अमरीका के पक्ष में बनाए। ऐसे दलों में भारतीय जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी प्रमुख थे। लेकिन, विदेश नीति को तैयार करने के मामले में नेहरू को खासी बढ़त हासिल थी।

दो खेमों से दूरी

आज़ाद भारत की विदेश नीति में शांतिपूर्ण विश्व का सपना था और इसके लिए भारत ने गुटनिरपेक्षता की नीति का पालन किया। भारत ने इसके लिए शीतयुद्ध से उपजे तनाव को कम करने की कोशिश की और संयुक्त राष्ट्र संघ के शांति-अभियानों में अपनी सेना भेजी। आप पूछ सकते हैं कि शीतयुद्ध के दौरान भारत किसी खेमे में क्यों शामिल नहीं हुआ? भारत, अमरीका और सोवियत संघ की अगुवाई वाले सैन्य गठबंधनों से अपने को दूर रखना चाहता था। 'समकालीन विश्व राजनीति' की किताब में आप पढ़ चुके हैं कि शीतयुद्ध के समय अमरीका ने उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (NATO) और सोवियत संघ ने इसके जवाब में 'वारसा पैक्ट' नामक संधि संगठन बनाया था। भारत ने गुटनिरपेक्षता की नीति को आदर्श माना। संतुलन साधने की यह कठिन कोशिश थी और कभी-कभी संतुलन बहुत कुछ नहीं भी सध पाता था। 1956 में जब ब्रिटेन ने स्वेज नहर के मामले को लेकर मिस्र पर आक्रमण किया तो भारत ने इस नव-औपनिवेशिक हमले के विरुद्ध विश्वव्यापी विरोध की अगुवाई की। इसी साल सोवियत संघ ने हंगरी पर आक्रमण किया था लेकिन भारत ने सोवियत संघ के इस कदम की सार्वजनिक निंदा नहीं की। ऐसी स्थिति के बावजूद, कमोबेश भारत ने अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर स्वतंत्र रवैया अपनाया। उसे दोनों खेमों के देशों ने सहायता और अनुदान दिए।

भारत अभी बाकी विकासशील देशों को गुटनिरपेक्षता की नीति के बारे में आश्वस्त करने में लगा था कि पाकिस्तान अमरीकी नेतृत्व वाले सैन्य-गठबंधन में शामिल हो गया। इस वजह से 1950 के दशक में भारत-अमरीकी संबंधों में खटास पैदा हो गई। अमरीका, सोवियत संघ से भारत की बढ़ती हुई दोस्ती को लेकर भी नाराज था।

आपने पिछले अध्याय में पढ़ा कि भारत ने नियोजित विकास की रणनीति अपनाई थी। इस नीति में ज़ोर आयात को कम करने पर था। इसमें संसाधन-आधार तैयार करने पर ज़ोर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप निर्यात के मामले में भी प्रगति बड़ी सीमित थी। विकास की इस रणनीति के कारण बाहरी दुनिया से भारत का आर्थिक लेन-देन बड़ा सीमित था।

> *"आमतौर पर हमारी नीति ताकत की राजनीति से अपने को अलग रखने और महाशक्तियों के एक खेमे के विरुद्ध दूसरे खेमे में शामिल न होने की है। आज दो अग्रणी खेमे रूस और अमरीका-ब्रिटेन के हैं। हमें दोनों के साथ दोस्ताना संबंध रखना है साथ ही उनके खेमे में शामिल भी नहीं होना है। रूस और अमरीका एक-दूसरे को लेकर बहुत शंकित हैं और अन्य देशों पर भी शक करते हैं। इस कारण हमारा रास्ता कठिन है और दोनों हम पर शक कर सकते हैं कि हम उनके विरोधी खेमे की तरफ झुक रहे हैं। इससे बचा नहीं जा सकता।"*
>
> **जवाहरलाल नेहरू**
> के.पी.एस. मेनन को एक पत्र में (जनवरी, 1947)

© NCERT not to be republished

एफ्रो-एशियाई एकता

भारत के आकार, अवस्थिति और शक्ति-संभावना को भाँपकर नेहरू ने विश्व के मामलों, खासकर एशियाई मामलों में भारत के लिए बड़ी भूमिका निभाने का स्वप्न देखा था। नेहरू के दौर में भारत ने एशिया और अफ्रीका के नव-स्वतंत्र देशों के साथ संपर्क बनाए। 1940 और 1950 के दशकों में नेहरू बड़े मुखर स्वर में एशियाई एकता की पैरोकारी करते रहे। नेहरू की अगुवाई में भारत ने 1947 के मार्च में ही एशियाई संबंध सम्मेलन (एशियन रिलेशंस कांफ्रेंस) का आयोजन कर डाला था जबकि अभी भारत को आज़ादी मिलने में पाँच महीने शेष थे। भारत ने इंडोनेशिया की आज़ादी के लिए भरपूर प्रयास किए। भारत चाहता था कि इंडोनेशिया डच औपनिवेशिक शासन से यथासंभव शीघ्र मुक्त हो जाए। इसके लिए भारत ने 1949 में इंडोनेशिया के स्वतंत्रता-संग्राम के समर्थन में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन किया। भारत अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का प्रबल समर्थक था और उसने पूरी दृढ़ता से नस्लवाद का, खासकर दक्षिण अफ्रीका में जारी रंगभेद का विरोध किया। इंडोनेशिया के एक शहर बांडुंग में एफ्रो-एशियाई सम्मेलन 1955 में हुआ। आमतौर पर हम इसे बांडुंग-सम्मेलन के नाम से जानते हैं। अफ्रीका और एशिया के नव-स्वतंत्र देशों के साथ भारत के बढ़ते संपर्क का यह चरम बिंदु था। बांडुंग-सम्मेलन में ही गुटनिरपेक्ष आंदोलन की नींव पड़ी। गुटनिरपेक्ष आंदोलन का पहला सम्मेलन 1961 के सितंबर में बेलग्रेड में हुआ। गुटनिरपेक्ष आंदोलन की स्थापना में नेहरू की महती भूमिका रही थी। (देखें, 'समकालीन विश्व राजनीति' अध्याय-1)

> *....ताकत के तीनों साधनों – संपदा, धन और जन – से हीन एक देश अब बड़ी तेज़ी से सभ्य जगत में एक नैतिक ताकत के रूप में पहचान हासिल कर रहा है .... उसकी आवाज़ को दिग्गज देशों की जमात में बड़ी इज़्ज़त के साथ सुना जाता है...*
>
> **सी राजगोपालाचारी**
> एडविना माउंटबेटन को एक पत्र में, 1950

चीन के साथ शांति और संघर्ष

पाकिस्तान के साथ अपने संबंधों के विपरीत आज़ाद भारत ने चीन के साथ अपने रिश्तों की शुरुआत बड़े दोस्ताना ढंग से की। चीनी क्रांति 1949 में हुई थी। इस क्रांति के बाद भारत, चीन की कम्युनिस्ट सरकार को मान्यता देने वाले पहले देशों में एक था। पश्चिमी प्रभुत्व के चंगुल से निकलने वाले इस देश को लेकर नेहरू के हृदय में गहरे भाव थे और उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय फ़लक पर इस सरकार की मदद की। नेहरू के कुछ सहयोगियों-मसलन सरदार बल्लभ भाई पटेल को आशंका थी कि आगामी दिनों में चीन भारत पर चढ़ाई कर सकता है। लेकिन नेहरू सोच रहे थे कि भारत पर चीन के आक्रमण की संभावना दूर-दूर तक नहीं है। बहुत दिनों से भारत की चीन से लगती सीमा पर सेना के बजाय अर्द्ध-सैनिक बल रखवाली कर रहे थे।

शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के पाँच सिद्धांतों यानी पंचशील की घोषणा भारत के प्रधानमंत्री नेहरू और चीन के प्रमुख चाऊ एन लाई ने संयुक्त रूप से 29 अप्रैल 1954 में की। दोनों देशों के बीच मजबूत संबंध की दिशा में यह एक अगला कदम था। भारत और चीन के नेता एक-दूसरे के देश का दौरा करते थे और उनके स्वागत में बड़ी भीड़ जुटती थी।

चीन का आक्रमण, 1962

चीन के साथ भारत के इस दोस्ताना रिश्ते में दो कारणों से खटास आई। चीन ने 1950 में तिब्बत पर कब्ज़ा कर लिया। इससे भारत और चीन के बीच ऐतिहासिक रूप से जो एक मध्यवर्ती राज्य बना चला आ रहा था, वह खत्म हो गया। शुरू-शुरू में भारत सरकार ने

© NCERT not to be republished

The Hindustan Times

INDIA OFFERS SANCTUARY TO THE DALAI LAMA

Arrival In NEFA With 80 Others

LOK SABHA APPLAUDS NEHRU'S STATEMENT

AN EPIC ESCAPE

Dalai Lama Expected Tomorrow

साभार : होमाई व्यारावाला

दलाई लामा ने अपने अनुयायियों के साथ भारत से शरण की माँग की।

तिब्बत

यह मध्य एशिया का मशहूर पठार है। ऐतिहासिक रूप से तिब्बत भारत और चीन के बीच विवाद का एक बड़ा मसला रहा है। अतीत में समय-समय पर चीन ने तिब्बत पर अपना प्रशासनिक नियंत्रण जताया और कई दफा तिब्बत आज़ाद भी हुआ। 1950 में चीन ने तिब्बत पर नियंत्रण कर लिया। तिब्बत के ज़्यादातर लोगों ने चीनी कब्ज़े का विरोध किया। 1954 में जब भारत और चीन के बीच पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर हुए तो इसके प्रावधानों में एक बात यह भी शामिल थी कि दोनों देश एक-दूसरे की क्षेत्रीय संप्रभुता का सम्मान करेंगे। चीन ने इस प्रावधान का अर्थ लगाया कि भारत तिब्बत पर चीनी दावेदारी की बात को स्वीकार कर रहा है। 1956 में चीनी शासनाध्यक्ष चाऊ एन लाई भारत के आधिकारिक दौरे पर आए तो साथ ही साथ तिब्बत के धार्मिक नेता दलाई लामा भी भारत पहुँचे। उन्होंने तिब्बत की बिगड़ती स्थिति की जानकारी नेहरू को दी। चीन आश्वासन दे चुका था कि तिब्बत को चीन के अन्य इलाकों से कहीं ज़्यादा स्वायत्तता दी जाएगी। 1958 में चीनी आधिपत्य के विरुद्ध तिब्बत में सशस्त्र विद्रोह हुआ। इस विद्रोह को चीन की सेनाओं ने दबा दिया। स्थिति बिगड़ती देखकर तिब्बत के पारंपरिक नेता दलाई लामा ने सीमा पारकर भारत में प्रवेश किया और 1959 में भारत से शरण माँगी। भारत ने दलाई लामा को शरण दे दी। चीन ने भारत के इस कदम का कड़ा विरोध किया। पिछले 50 सालों में बड़ी संख्या में तिब्बती जनता ने भारत और दुनिया के अन्य देशों में शरण ली है। भारत में (खासकर दिल्ली में) तिब्बती शरणार्थियों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ हैं। हिमाचल प्रदेश के धर्मशाला में संभवतया तिब्बती शरणार्थियों की सबसे बड़ी बस्ती है। दलाई लामा ने भी भारत में धर्मशाला को ही अपना निवास-स्थान बनाया है। 1950 और 1960 के दशक में भारत के अनेक राजनीतिक दल और राजनेताओं ने तिब्बत की आज़ादी के प्रति अपना समर्थन जताया। इन दलों में सोशलिस्ट पार्टी और जनसंघ शामिल हैं।

चीन ने 'स्वायत्त तिब्बत क्षेत्र' बनाया है और इस इलाके को वह चीन का अभिन्न अंग मानता है। तिब्बती जनता चीन के इस दावे को नहीं मानती कि तिब्बत चीन का अभिन्न अंग है। ज़्यादा से ज़्यादा संख्या में चीनी बाशिंदों को तिब्बत लाकर वहाँ बसाने की चीन की नीति का तिब्बती जनता ने विरोध किया। तिब्बती चीन के इस दावे को भी नकारते हैं कि तिब्बत को स्वायत्तता दी गई है। वे मानते हैं कि तिब्बत की पारंपरिक संस्कृति और धर्म को नष्ट करके चीन वहाँ साम्यवाद फैलाना चाहता है।

टः यह नक्शा किसी माने के हिसाब से नाया गया भारत का ानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की ंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा ो प्रामाणिक सीमा रेखा माना जाए।

MENON GOES

Dramatic announcement by Mr Nehru

Tremendous cheers acclaim news

Ranadive, other Reds arrested

चीन के साथ 1960 में सीमा विवाद उठा। नेहरू और माओत्से तुंग के बीच बातचीत व्यर्थ साबित हुई।

The Hindustan Times Weekly

Indian troops fall back in NEFA and Ladakh

Dhola, Khinzemane posts abandoned

Chinese advance pushed at heavy cost

China has numerical and logistic edge

1962

नईदुनिया

दो भारतीय चौकियों का पतन

वी.के. कृष्णमेनन (1897–1974) : राजनयिक एवं मंत्री; 1934–1947 के बीच इंग्लैंड की लेबर पार्टी में सक्रिय; इंग्लैंड में भारतीय उच्चायुक्त एवं बाद में संयुक्त राष्ट्र में भारतीय प्रतिनिधिमंडल के मुखिया; राज्यसभा के सांसद एवं बाद में लोकसभा सांसद; 1956 से संघ केबिनेट के सदस्य; 1957 से रक्षा मंत्री; 1962 में भारत-चीन युद्ध के बाद इस्तीफा।

चीन के इस कदम का खुले तौर पर विरोध नहीं किया। बहरहाल, तिब्बत की संस्कृति को कुचलने की खबरें जैसे-जैसे सामने आने लगी, वैसे-वैसे भारत की बेचैनी भी बढ़ी। तिब्बत के धार्मिक नेता दलाई लामा ने भारत से राजनीतिक शरण माँगी और 1959 में भारत ने उन्हें शरण दे दी। चीन ने आरोप लगाया कि भारत सरकार अंदरूनी तौर पर चीन विरोधी गतिविधियों को हवा दे रही है।

इससे कुछ दिनों पहले भारत और चीन के बीच एक सीमा-विवाद भी उठ खड़ा हुआ था। भारत का दावा था कि चीन के साथ सीमा-रेखा का मामला अंग्रेजी-शासन के समय ही सुलझाया जा चुका है। लेकिन चीन की सरकार का कहना था कि अंग्रेजी शासन के समय का फ़ैसला नहीं माना जा सकता। मुख्य विवाद चीन से लगी लंबी सीमा-रेखा के पश्चिमी और पूर्वी छोर के बारे में था। चीन ने भारतीय भू-क्षेत्र में पड़ने वाले दो इलाकों–जम्मू-कश्मीर के लद्दाख वाले हिस्से के अक्साई-चीन और अरुणाचल प्रदेश–के अधिकांश हिस्सों पर अपना अधिकार जताया। अरुणाचल प्रदेश को उस समय नेफा या उत्तर-पूर्वी सीमांत कहा जाता था। 1957 से 1959 के बीच चीन ने अक्साई-चीन इलाके पर कब्ज़ा कर लिया और इस इलाके में उसने रणनीतिक बढ़त हासिल करने के लिए एक सड़क बनाई। दोनों देशों के शीर्ष नेताओं के बीच लंबी-लंबी चर्चाएँ और बातचीत चली लेकिन इसके बावजूद मतभेद को सुलझाया नहीं जा सका। दोनों देशों की सेनाओं के बीच सीमा पर कई बार झड़प हुई।

"सच कहूँ तो उनको (चाऊ एन लाई) लेकर मेरे मन में बड़े अच्छे भाव जगे... मेरा खयाल है कि चीन के शासनाध्यक्ष अच्छे इनसान हैं और उन पर भरोसा किया जा सकता है।"

सी. राजगोपालाचारी
एक पत्र में, दिसंबर 1956

'समकालीन विश्व राजनीति' के पहले अध्याय में क्यूबा के मिसाइल-संकट की चर्चा की गई थी। क्या आपको इस घटना की याद है? जिस समय पूरे विश्व का ध्यान दो महाशक्तियों की तनातनी से पैदा इस संकट की तरफ लगा हुआ था, ठीक उसी समय चीन ने 1962 के अक्तूबर में दोनों विवादित क्षेत्रों पर बड़ी तेज़ी तथा व्यापक स्तर पर हमला किया। पहला हमला एक हफ्ते तक चला और इस दौरान चीनी सेना ने अरुणाचल प्रदेश के कुछ महत्त्वपूर्ण इलाकों पर कब्ज़ा कर लिया। हमले का अगला दौर नवंबर महीने में शुरू हुआ। लद्दाख से लगे पश्चिमी मोर्चे पर भारतीय सेना ने चीन की बढ़त रोकी लेकिन पूर्व में चीनी सेना आगे बढ़ते हुए असम के मैदानी हिस्से के प्रवेशद्वार तक पहुँच गई। आखिरकार, चीन ने एकतरफा युद्धविराम घोषित किया और चीन की सेनाएँ उस मुकाम पर लौट गईं जहाँ वे हमले से पहले के वक्त में तैनात थीं।

चीन-युद्ध से भारत की छवि को देश और विदेश दोनों ही जगह धक्का लगा। इस संकट से उबरने के लिए भारत को अमरीका और ब्रिटेन दोनों से सैन्य मदद की गुहार लगानी पड़ी। सोवियत संघ इस संकट की घड़ी में तटस्थ बना रहा। चीन-युद्ध से भारतीय राष्ट्रीय स्वाभिमान को चोट पहुँची लेकिन इसके साथ-साथ राष्ट्र-भावना भी बलवती हुई। कुछ प्रमुख सैन्य-कमांडरों ने या तो इस्तीफा दे दिया या अवकाश ग्रहण कर लिया। नेहरू के नजदीकी सहयोगी और तत्कालीन रक्षामंत्री वी. के. कृष्णमेनन को भी मंत्रिमंडल छोड़ना पड़ा। नेहरू की छवि भी थोड़ी धूमिल हुई। चीन के इरादों को समय रहते न भाँप सकने और सैन्य तैयारी न कर पाने को लेकर नेहरू की बड़ी आलोचना हुई। पहली बार, उनकी सरकार के खिलाफ़ अविश्वास प्रस्ताव लाया गया और लोकसभा में इस पर बहस हुई। इसके तुरंत बाद, कांग्रेस ने कुछ महत्त्वपूर्ण उप-चुनावों में पटखनी खाई । देश का राजनीतिक मानस बदलने लगा था।

© NCERT not to be republished

कुछ आगे की...
1962 के बाद भारत-चीन संबंध

भारत और चीन के बीच संबंधों को सामान्य होने में करीब दस साल लग गए। 1976 में दोनों देशों के बीच पूर्ण राजनयिक संबंध बहाल हो सके। शीर्ष नेता के तौर पर पहली बार अटल बिहारी वाजपेयी (वे तब विदेश मंत्री थे) 1979 में चीन के दौरे पर गए। बाद में, नेहरू के बाद राजीव गाँधी बतौर प्रधानमंत्री चीन के दौरे पर गए। इसके बाद से चीन के साथ भारत के संबंधों में ज्यादा जोर व्यापारिक मसलों पर रहा है। 'समकालीन विश्व राजनीति' की किताब में आप इन बातों को पढ़ चुके हैं।

भारत चीन संघर्ष का असर विपक्षी दलों पर भी हुआ। इस युद्ध और चीन-सोवियत संघ के बीच बढ़ते मतभेद से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा) के अंदर बड़ी उठा-पटक मची। सोवियत संघ का पक्षधर खेमा भाकपा में ही रहा और उसने कांग्रेस के साथ नजदीकी बढ़ायी। दूसरा खेमा कुछ समय के लिए चीन का पक्षधर रहा और यह खेमा कांग्रेस के साथ किसी भी तरह की नजदीकी के खिलाफ़ था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी 1964 में टूट गई। इस पार्टी के भीतर जो खेमा चीन का पक्षधर था उसने मार्क्सवादी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी.पी.आई.एम.-माकपा) बनाई। चीन-युद्ध के क्रम में माकपा के कई नेताओं को चीन का पक्ष लेने के आरोप में गिरफ्तार किया गया।

चीन के साथ हुए युद्ध ने भारत के नेताओं को पूर्वोत्तर की डावाँडोल स्थिति के प्रति सचेत किया। यह इलाका अत्यंत पिछड़ी दशा में था और अलग-थलग पड़ गया था। राष्ट्रीय एकता और अखंडता के लिहाज से भी यह इलाका चुनौतीपूर्ण था। चीन-युद्ध के तुरंत बाद इस इलाके को नयी तरतीब में ढालने की कोशिशें शुरू की गईं। नगालैंड को प्रांत का दर्जा दिया गया। मणिपुर और त्रिपुरा हालाँकि केंद्र-शासित प्रदेश थे लेकिन उन्हें अपनी विधानसभा के निर्वाचन का अधिकार मिला।

सिने-संसार

हकीकत

इस फिल्म की पृष्ठभूमि में 1962 के चीनी आक्रमण को दर्शाया गया है। भारतीय सेना की एक छोटी-सी टुकड़ी लद्दाख क्षेत्र में घिर गई है। सेना का कप्तान बहादुर सिंह स्थानीय घुमंतू कबीले की एक लड़की कम्मो की मदद से इस टुकड़ी को बाहर निकालने की कोशिश करता है। इस कोशिश में बहादुर सिंह और कम्मो दोनों शहीद हो जाते हैं। भारतीय टुकड़ी के जवान पूरे प्राणपण से चीनी हमलावरों से मुकाबला करते हैं परंतु अंतत: उन्हें अपनी जान न्यौछावर करनी पड़ती है।

यह फिल्म सेना के जवान के सामने आने वाली चुनौतियों, दिक्कतों के साथ-साथ चीनी विश्वासघात से उपजी राजनीतिक निराशा का भी मुआयना कराती है। इस फिल्म में युद्ध के दृश्यों को रचने के लिए डाक्युमेंटरी फुटेज का काफी इस्तेमाल किया गया है। हकीकत युद्ध आधारित फिल्मों की विधा में अहम स्थान रखती है।

वर्ष : 1964

निर्देशक : चेतन आनंद

अभिनय : धर्मेंद्र, प्रिया राजवंश, बलराज साहनी, जयंत, सुधीर, संजय खान, विजय आनंद

© NCERT not to be republished

पाकिस्तान के साथ युद्ध और शांति

कश्मीर मसले को लेकर पाकिस्तान के साथ बँटवारे के तुरंत बाद ही संघर्ष छिड़ गया था। आप इस विवाद के बारे में आठवें अध्याय में विस्तार से पढ़ सकते हैं। 1947 में ही कश्मीर में भारत और पाकिस्तान की सेनाओं के बीच एक छाया-युद्ध छिड़ गया था। बहरहाल, यह संघर्ष पूर्णव्यापी युद्ध का रूप न ले सका। यह मसला फिर संयुक्त राष्ट्र संघ के हवाले कर दिया गया। संयुक्त राज्य अमरीका और चीन के साथ भारत के संबंधों के लिहाज़ से पाकिस्तान एक महत्त्वपूर्ण घटक रहा।

कश्मीर के सवाल पर हुए संघर्ष के बावजूद भारत और पाकिस्तान की सरकारों के बीच सहयोग-संबंध कायम हुए। दोनों सरकारों ने मिल-जुल कर प्रयास किया कि बँटवारे के समय जो महिलाएँ अपहृत हुई थीं उन्हें अपने परिवार के पास वापस लौटाया जा सके। विश्व बैंक की मध्यस्थता से नदी जल में हिस्सेदारी को लेकर चला आ रहा एक लंबा विवाद सुलझा लिया गया। नेहरू और जनरल अयूब खान ने सिंधु नदी जल संधि पर 1960 में हस्ताक्षर किए। भारत-पाक संबंधों में नरमी-गरमी के बावजूद इस संधि पर ठीक-ठाक अमल होता रहा।

दोनों देशों के बीच 1965 में कहीं ज्यादा गंभीर किस्म के सैन्य-संघर्ष की शुरुआत हुई। आप अगले अध्याय में पढ़ेंगे कि इस वक्त लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमंत्री थे। 1965 के अप्रैल में पाकिस्तान ने गुजरात के कच्छ इलाके के रन में सैनिक हमला बोला। इसके बाद जम्मू-कश्मीर में उसने अगस्त-सितंबर के महीने में बड़े पैमाने पर हमला किया। पाकिस्तान के नेताओं को उम्मीद थी कि जम्मू-कश्मीर की जनता उनका समर्थन करेगी लेकिन ऐसा नहीं हुआ। कश्मीर के मोर्चे पर पाकिस्तानी सेना की बढ़त को रोकने के लिए प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने पंजाब की सीमा की तरफ से जवाबी हमला करने के आदेश दिए। दोनों देशों की सेनाओं के बीच घनघोर लड़ाई हुई और भारत की सेना आगे बढ़ते हुए लाहौर के नजदीक तक पहुँच गई।

संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप से इस लड़ाई का अंत हुआ। बाद में, भारतीय प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री और पाकिस्तान के जनरल अयूब खान के बीच 1966 में ताशकंद-समझौता हुआ। सोवियत संघ ने इसमें मध्यस्थ की भूमिका निभाई। हालाँकि 1965 की लड़ाई में भारत ने पाकिस्तान को बहुत ज्यादा सैन्य क्षति पहुँचाई लेकिन इस युद्ध से भारत की कठिन आर्थिक स्थिति पर और ज़्यादा बोझ पड़ा।

बांग्लादेश युद्ध, 1971

1970 में पाकिस्तान के सामने एक गहरा अंदरूनी संकट आ खड़ा हुआ। पाकिस्तान के पहले आम चुनाव में खंडित जनादेश आया। जुल्फिकार अली भुट्टो की पार्टी पश्चिमी पाकिस्तान में विजयी रही जबकि मुजीबुर्रहमान की पार्टी अवामी लीग ने पूर्वी पाकिस्तान में ज़ोरदार कामयाबी हासिल की। पश्चिमी पाकिस्तान के नेताओं के हाथों अपने साथ हुए दोयम दर्जे के नागरिक के बरताव के विरोध में पूर्वी पाकिस्तान की बंगाली जनता ने इस पार्टी को वोट दिया था। पाकिस्तान के शासक इस जनादेश को स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। आवामी लीग एक परिसंघ बनाने की माँग कर रही थी लेकिन वे इस माँग को भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे।

The Times of India
BOMBAY: TUESDAY, SEPTEMBER 7, 1965
16 PAISE
OUR TROOPS ON OUTSKIRTS OF LAHORE
IAF Planes Blast Military Installations
PAK FORCES ON THE RUN IN CHHAMB AREA
Jaurian In Flames: Success In Uri Sector Too
"The Times of India" News Service
BLACK-OUT IS ORDERED IN GREATER BOMBAY
By A Staff Reporter
Indo-Pak Flights Cancelled
The Hindustan Times
ALKOT-PASRUR RAILWAY TAKEN
IAF pounds Sargodha, Chak Jhumra airports
withdrawing in
thwal sector
1965
JAI KISAN
INDIA
The Hindustan Times
DRYCLEANED
PAULSONS
TROOPS MARCH INTO PAKISTAN

इस बात से तो ऐसा जान पड़ता है कि भारत, सोवियत खेमे में शामिल हो गया था। क्या सोवियत संघ के साथ इस 20-वर्षीय संधि पर हस्ताक्षर करने के बावजूद हम कह सकते हैं कि भारत गुटनिरपेक्षता की नीति पर अमल कर रहा था?

इसकी जगह पाकिस्तानी सेना ने 1971 में शेख मुजीब को गिरफ्तार कर लिया और पूर्वी पाकिस्तान के लोगों पर जुल्म ढाने शुरू किए। जवाब में पूर्वी पाकिस्तान की जनता ने अपने इलाके यानी मौजूदा बांग्लादेश को पाकिस्तान से मुक्त कराने के लिए संघर्ष छेड़ दिया। 1971 में पूरे साल भारत को 80 लाख शरणार्थियों का बोझ वहन करना पड़ा। ये शरणार्थी पूर्वी पाकिस्तान से भागकर भारत के नजदीकी इलाकों में शरण लिए हुए थे। भारत ने बांग्लादेश के 'मुक्ति संग्राम' को नैतिक समर्थन और भौतिक सहायता दी। पाकिस्तान ने आरोप लगाया कि भारत उसे तोड़ने की साजिश कर रहा है।

पाकिस्तान को अमरीका और चीन ने मदद की । 1960 के दशक में अमरीका और चीन के बीच संबंधों को सामान्य करने की कोशिश चल रही थी और इससे एशिया में सत्ता-समीकरण नया रूप ले रहा था। अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन के सलाहकार हेनरी किसिंजर ने 1971 के जुलाई में पाकिस्तान होते हुए गुपचुप चीन का दौरा किया। अमरीका-पाकिस्तान-चीन की धुरी बनती देख भारत ने इसके जवाब में सोवियत संघ के साथ 1971 में शांति और मित्रता की एक 20-वर्षीय संधि पर दस्तखत किए। संधि से भारत को इस बात का आश्वासन मिला कि हमला होने की सूरत में सोवियत संघ भारत की मदद करेगा।

महीनों राजनयिक तनाव और सैन्य तैनाती के बाद 1971 के दिसंबर में भारत और पाकिस्तान के बीच एक पूर्णव्यापी युद्ध छिड़ गया। पाकिस्तान के लड़ाकू विमानों ने पंजाब और राजस्थान पर हमले किए जबकि उसकी सेना ने जम्मू-कश्मीर में अपना मोर्चा खोला। जवाब में भारत ने अपनी वायुसेना, नौसेना और थलसेना के बूते पश्चिमी और पूर्वी मोर्चे से कार्रवाई की। स्थानीय लोगों के समर्थन और स्वागत के बीच भारतीय सेना पूर्वी पाकिस्तान में तेज़ी से आगे बढ़ी। दस दिनों के अंदर भारतीय सेना ने ढाका को तीन तरफ से घेर लिया और अपने 90,000 सैनिकों के साथ पाकिस्तानी सेना को आत्म-समर्पण करना पड़ा। बांग्लादेश के रूप में एक स्वतंत्र राष्ट्र के उदय के साथ भारतीय सेना ने अपनी तरफ से एकतरफा युद्ध-विराम घोषित कर दिया। बाद में, 3 जुलाई 1972 को इंदिरा गाँधी और जुल्फिकार अली भुट्टो के बीच शिमला-समझौते पर दस्तखत हुए और इससे अमन की बहाली हुई।

not to be republished

कुछ आगे की... करगिल संघर्ष

1999 के शुरुआती महीनों में भारतीय इलाके की नियंत्रण सीमा रेखा के कई ठिकानों जैसे द्रास, माश्कोह, काकसर और बतालिक पर अपने को मुजाहिद्दीन बताने वालों ने कब्ज़ा कर लिया था। पाकिस्तानी सेना की इसमें मिलीभगत भाँप कर भारतीय सेना इस कब्ज़े के खिलाफ़ हरकत में आयी। इससे दोनों देशों के बीच संघर्ष छिड़ गया। इसे 'करगिल की लड़ाई' के नाम से जाना जाता है। 1999 के मई-जून में यह लड़ाई जारी रही। 26 जुलाई 1999 तक भारत अपने अधिकतर ठिकानों पर पुन: अधिकार कर चुका था। करगिल की लड़ाई ने पूरे विश्व का ध्यान खींचा था क्योंकि इससे ठीक एक साल पहले दोनों देश परमाणु हथियार बनाने की अपनी क्षमता का प्रदर्शन कर चुके थे। बहरहाल, यह लड़ाई सिर्फ करगिल के इलाके तक ही सीमित रही। पाकिस्तान में, इस लड़ाई को लेकर बहुत विवाद मचा। कहा गया कि सेना के प्रमुख ने प्रधानमंत्री को इस मामले में अँधेरे में रखा था। इस लड़ाई के तुरंत बाद पाकिस्तान की हुकूमत पर जनरल परवेज मुशर्रफ की अगुवाई में पाकिस्तानी सेना ने नियंत्रण कर लिया।

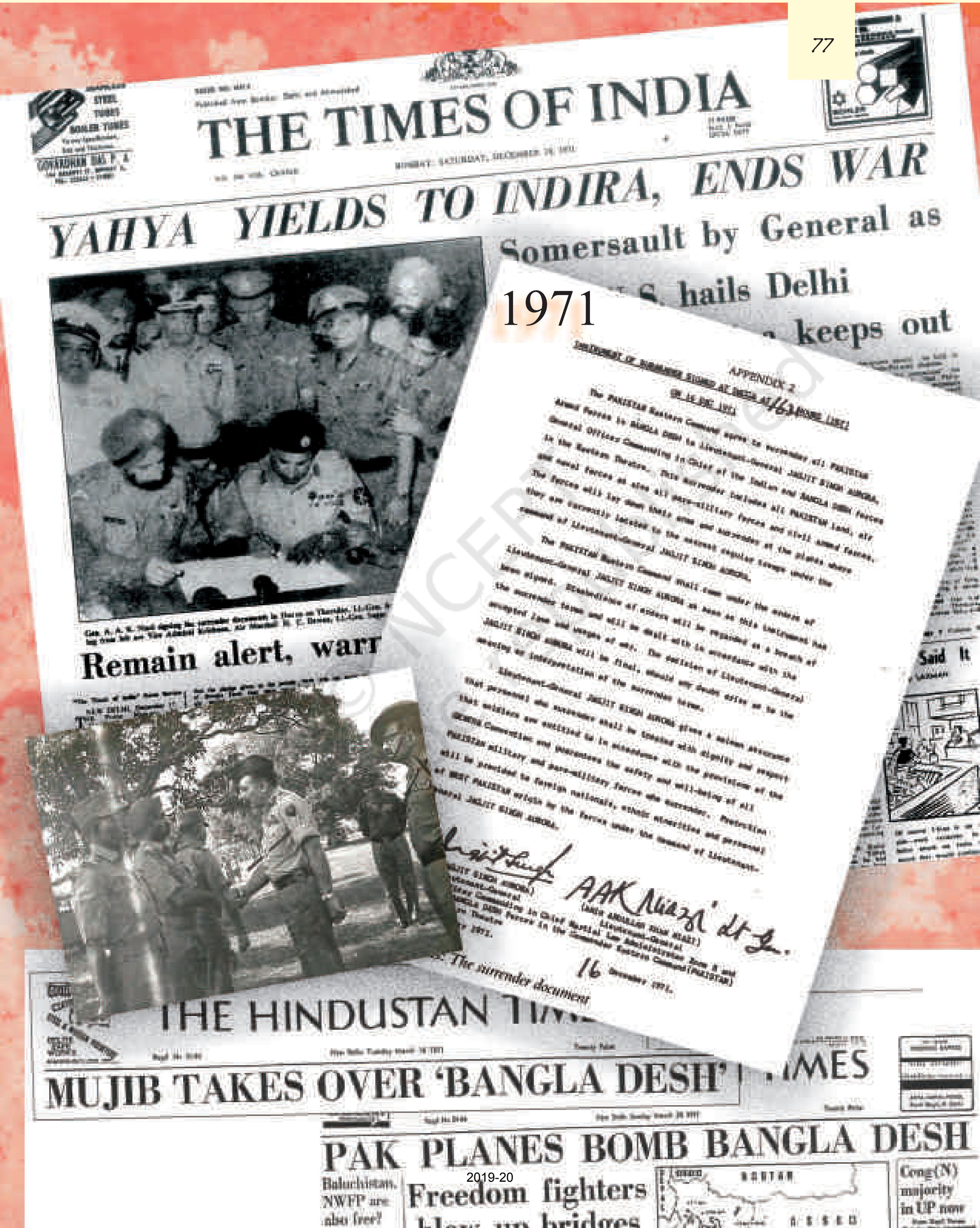

The surrender document

युद्ध में इस निर्णायक जीत से देश में उत्साह की लहर दौड़ गई थी। अधिकांश भारतीयों ने इसे गौरव की घड़ी के रूप में देखा और माना कि भारत का सैन्य-पराक्रम प्रबल हुआ है। आप अगले अध्याय में पढ़ेंगे कि इंदिरा गाँधी इस वक्त भारत की प्रधानमंत्री थीं। 1971 के लोकसभा चुनावों में उन्हें विजय मिली थी। 1971 की जंग के बाद इंदिरा गाँधी की लोकप्रियता को चार चाँद लग गए। इस युद्ध के बाद अधिकतर राज्यों में विधानसभा के चुनाव हुए और अनेक राज्यों में कांग्रेस पार्टी बड़े बहुमत से जीती।

भारत ने अपने सीमित संसाधनों के साथ नियोजित विकास की शुरुआत की थी। पड़ोसी देशों के साथ संघर्ष के कारण पंचवर्षीय योजना पटरी से उतर गई। 1962 के बाद भारत को अपने सीमित संसाधन खासतौर से रक्षा क्षेत्र में लगाने पड़े। भारत को अपने सैन्य ढाँचे का आधुनिकीकरण करना पड़ा। 1962 में रक्षा-उत्पाद विभाग और 1965 में रक्षा आपूर्ति विभाग की स्थापना हुई। तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961-66) पर असर पड़ा और इसके बाद लगातार तीन एक-वर्षीय योजना पर अमल हुआ। चौथी पंचवर्षीय योजना 1969 में ही शुरू हो सकी। युद्ध के बाद भारत का रक्षा-व्यय बहुत ज़्यादा बढ़ गया।

भारत की परमाणु नीति

इस दौर की एक खास बात थी भारत का परमाणु विस्फोट। भारत ने 1974 के मई में परमाणु परीक्षण किया। तेज़ गति से आधुनिक भारत के निर्माण के लिए नेहरू ने हमेशा विज्ञान ओर प्रौद्योगिकी पर अपना विश्वास जताया था। नेहरू की औद्योगीकरण की नीति का एक महत्त्वपूर्ण घटक परमाणु कार्यक्रम था। इसकी शुरुआत 1940 के दशक के अंतिम सालों में होमी जहाँगीर भाभा के निर्देशन में हो चुकी थी। भारत शांतिपूर्ण उद्देश्यों में इस्तेमाल के लिए अणु ऊर्जा बनाना चाहता था। नेहरू परमाणु हथियारों के खिलाफ़ थे। उन्होंने महाशक्तियों पर व्यापक परमाणु निशस्त्रीकरण के लिए ज़ोर दिया। बहरहाल, परमाणु आयुधों में बढ़ोत्तरी होती रही। साम्यवादी शासन वाले चीन ने 1964 के अक्तूबर में परमाणु परीक्षण किया। अणुशक्ति-संपन्न बिरादरी यानी संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन ने, जो संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य भी थे, दुनिया के अन्य देशों पर 1968 की परमाणु अप्रसार संधि को थोपना चाहा। भारत हमेशा से इस संधि को भेदभावपूर्ण मानता आया था। भारत ने इस पर दस्तखत करने से इनकार कर दिया था। भारत ने जब अपना पहला परमाणु परीक्षण किया तो इसे उसने शांतिपूर्ण परीक्षण करार दिया। भारत का कहना था कि वह अणुशक्ति को सिर्फ शांतिपूर्ण उद्देश्यों में इस्तेमाल करने की अपनी नीति के प्रति दृढ़ संकल्प है।

जिस वक्त परमाणु परीक्षण किया गया था वह दौर घरेलू राजनीति के लिहाज से बड़ा कठिन था। 1973 में अरब-इजरायल युद्ध हुआ था। इसके बाद पूरे विश्व में तेल के लिए हाहाकार मचा हुआ था। अरब राष्ट्रों ने तेल के दामों में भारी वृद्धि कर दी थी। भारत इस वजह से आर्थिक समस्याओं से घिर गया। भारत में मुद्रास्फीति बहुत ज्यादा बढ़ गई। जैसा कि आप छठे अध्याय में पढ़ेंगे, इस वक्त देश में कई आंदोलन चल रहे थे और इसी समय देशव्यापी रेल-हड़ताल भी हुई थी।

© NCERT not to be republished

हालाँकि राजनीतिक दलों के बीच विदेश नीति के बारे में छोटे-मोटे मतभेद जरूर हैं लेकिन भारतीय राजनीति में विभिन्न दलों के बीच राष्ट्रीय अखंडता, अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा की सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित के मसलों पर व्यापक सहमति है। इस कारण, हम देखते हैं कि 1962-1971 के बीच जब भारत ने तीन युद्धों का सामना किया और इसके बाद के समय में भी जब समय-समय पर कई पार्टियों ने सरकार बनाई - विदेश नीति की भूमिका पार्टी की राजनीति में बड़ी सीमित रही।

कुछ आगे की... भारत का परमाणु-कार्यक्रम

भारत ने परमाणु अप्रसार के लक्ष्य को ध्यान में रखकर की गई संधियों का विरोध किया क्योंकि ये संधियाँ उन्हीं देशों पर लागू होने को थीं जो परमाणु शक्ति से हीन थे। इन संधियों के द्वारा परमाणु हथियारों से लैस देशों की जमात के परमाणु शक्ति पर एकाधिकार को वैधता दी जा रही थी। इसी कारण, 1995 में जब परमाणु-अप्रसार संधि को अनियतकाल के लिए बढ़ा दिया गया तो भारत ने इसका विरोध किया और उसने व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (कंप्रेहेंसिव टेस्ट बैन ट्रीटी-सीटीबीटी) पर भी हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया।

भारत ने 1998 के मई में परमाणु परीक्षण किए और यह जताया कि उसके पास सैन्य उद्देश्यों के लिए अणुशक्ति को इस्तेमाल में लाने की क्षमता है। इसके तुरंत बाद पाकिस्तान ने भी परमाणु परीक्षण किए। इससे क्षेत्र में परमाणु युद्ध की आशंका को बल मिला। अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी भारतीय उपमहाद्वीप में हुए इस परमाणु परीक्षण को लेकर बहुत नाराज थी और उसने भारत तथा पाकिस्तान, दोनों पर कुछ प्रतिबंध लगाए जिन्हें बाद में हटा लिया गया। भारत की परमाणु नीति में सैद्धांतिक तौर पर यह बात स्वीकार की गई है कि भारत अपनी रक्षा के लिए परमाणु हथियार रखेगा लेकिन इन हथियारों का 'प्रयोग पहले नहीं' करेगा। भारत की परमाणु नीति में यह बात दुहराई गई है कि भारत वैश्विक स्तर पर लागू और भेदभाव हीन परमाणु निशस्त्रीकरण के प्रति वचनबद्ध है ताकि परमाणु हथियारों से मुक्त विश्व की रचना हो।

विश्व राजनीति के बदलते समीकरण

जैसा कि आप इस किताब के छठे और नौवें अध्याय में पढ़ेंगे, 1977 के बाद के दौर में कई गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं। इस दौर में विश्व राजनीति में भी नाटकीय बदलाव आ रहे थे। इनका भारत के विदेशी संबंधों पर क्या असर पड़ा?

1977 में जनता पार्टी की सरकार बनी थी। इस सरकार ने घोषणा की कि सच्ची गुटनिरपेक्ष नीति का पालन किया जाएगा। इसका आशय यह था कि विदेश नीति में सोवियत संघ के प्रति आए झुकाव को खत्म किया जाएगा। इसके बाद की सभी सरकारों ने (कांग्रेसी या गैर-कांग्रेसी) चीन के साथ बेहतर संबंध बनाने और अमरीका के साथ नजदीकी रिश्ते बनाने की पहल की। भारतीय राजनीति में और आमतौर पर चलने वाली बहसों में भी भारत की विदेश नीति को विशेष तौर पर दो संदर्भों में देखा जाता है - एक तो पाकिस्तान को लेकर भारत के रुख के संदर्भ में और दूसरे भारत-अमरीका संबंधों के संदर्भ में। 1990 के बाद के दौर में अमरीका-समर्थक विदेश नीति अपनाने के लिए शासक दलों की आलोचना हुई है।

विदेश नीति हमेशा राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर बनाई जाती है। रूस लगातार भारत का एक महत्त्वपूर्ण मित्र बना हुआ है लेकिन 1990 के बाद से रूस का अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व कम हुआ है। इसी कारण भारत की विदेश नीति में अमरीका समर्थक रणनीतियाँ अपनाई गई हैं। इसके अतिरिक्त, मौजूदा अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में सैन्य-हितों के बजाय आर्थिक-हितों का ज़ोर ज़्यादा है। इसका भी असर भारत की विदेश नीति में अपनाए गए विकल्पों पर पड़ा है। इसके साथ ही साथ, इस अवधि में भारत-पाक संबंधों में भी कई नयी बातें जुड़ीं। कश्मीर दोनों देशों के बीच मुख्य मसले के तौर पर कायम है लेकिन संबंधों को सामान्य बनाने के लिए दोनों देशों ने कई प्रयास किए हैं। सांस्कृतिक आदान-प्रदान, नागरिकों की एक-दूसरे के देश में आवाजाही और पारस्परिक आर्थिक सहयोग को दोनों देशों ने बढ़ावा दिया। क्या आप जानते हैं कि भारत और पाकिस्तान के बीच रेल और बस सेवा की शुरुआत की गई है? यह हाल के समय की सबसे बड़ी उपलब्धि है। बहरहाल, इन सारे प्रयासों के बावजूद 1999 में भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध की स्थिति पैदा हो गई थी। ऐसे माहौल में शांति प्रयासों को धक्का लगा लेकिन स्थायी तौर पर अमन कायम करने के लिए प्रयास जारी हैं।

प्रश्नावली

1. इन बयानों के आगे सही या गलत का निशान लगाएँ:
   (क) गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने के कारण भारत, सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका, दोनों की सहायता हासिल कर सका।
   (ख) अपने पड़ोसी देशों के साथ भारत के संबंध शुरुआत से ही तनावपूर्ण रहे।
   (ग) शीतयुद्ध का असर भारत-पाक संबंधों पर भी पड़ा।
   (घ) 1971 की शांति और मैत्री की संधि संयुक्त राज्य अमरीका से भारत की निकटता का परिणाम थी।

2. निम्नलिखित का सही जोड़ा मिलाएँ:

(क) 1950-64 के दौरान भारत की विदेश नीति का लक्ष्य	(i) तिब्बत के धार्मिक नेता जो सीमा पार करके भारत चले आए।
(ख) पंचशील	(ii) क्षेत्रीय अखंडता और संप्रभुता की रक्षा तथा आर्थिक विकास।
(ग) बांडुंग सम्मेलन	(iii) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के पाँच सिद्धांत।
(घ) दलाई लामा	(iv) इसकी परिणति गुटनिरपेक्ष आंदोलन में हुई।

3. नेहरू विदेश नीति के संचालन को स्वतंत्रता का एक अनिवार्य संकेतक क्यों मानते थे? अपने उत्तर में दो कारण बताएँ और उनके पक्ष में उदाहरण भी दें।

4. "विदेश नीति का निर्धारण घरेलू ज़रूरत और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के दोहरे दबाव में होता है।" 1960 के दशक में भारत द्वारा अपनाई गई विदेश नीति से एक उदाहरण देते हुए अपने उत्तर की पुष्टि करें।

5. अगर आपको भारत की विदेश नीति के बारे में फैसला लेने को कहा जाए तो आप इसकी किन दो बातों को बदलना चाहेंगे। ठीक इसी तरह यह भी बताएँ कि भारत की विदेश नीति के किन दो पहलुओं को आप बरकरार रखना चाहेंगे। अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिए।

6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
   (क) भारत की परमाणु नीति
   (ख) विदेश नीति के मामलों पर सर्व-सहमति

7. भारत की विदेश नीति का निर्माण शांति और सहयोग के सिद्धांतों को आधार मानकर हुआ। लेकिन, 1962-1971 की अवधि यानी महज दस सालों में भारत को तीन युद्धों का सामना करना पड़ा। क्या आपको लगता है कि यह भारत की विदेश नीति की असफलता है अथवा, आप इसे अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का परिणाम मानेंगे? अपने मंतव्य के पक्ष में तर्क दीजिए।

8. क्या भारत की विदेश नीति से यह झलकता है कि भारत क्षेत्रीय स्तर की महाशक्ति बनना चाहता है? 1971 के बांग्लादेश युद्ध के संदर्भ में इस प्रश्न पर विचार करें।

© NCERT not to be republished

9. किसी राष्ट्र का राजनीतिक नेतृत्व किस तरह उस राष्ट्र की विदेश नीति पर असर डालता है? भारत की विदेश नीति के उदाहरण देते हुए इस प्रश्न पर विचार कीजिए।

10. निम्नलिखित अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दीजिए:
गुटनिरपेक्षता का व्यापक अर्थ है अपने को किसी भी सैन्य गुट में शामिल नहीं करना... इसका अर्थ होता है चीज़ों को यथासंभव सैन्य दृष्टिकोण से न देखना और इसकी कभी ज़रूरत आन पड़े तब भी किसी सैन्य गुट के नज़रिए को अपनाने की जगह स्वतंत्र रूप से स्थिति पर विचार करना तथा सभी देशों के साथ दोस्ताना रिश्ते कायम करना....

– *जवाहरलाल नेहरू*

(क) नेहरू सैन्य गुटों से दूरी क्यों बनाना चाहते थे?

(ख) क्या आप मानते हैं कि भारत-सोवियत मैत्री की संधि से गुटनिरपेक्षता के सिद्धांतों का उल्लंघन हुआ? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिए।

(ग) अगर सैन्य-गुट न होते तो क्या गुटनिरपेक्षता की नीति बेमानी होती?

© NCERT not to be republished

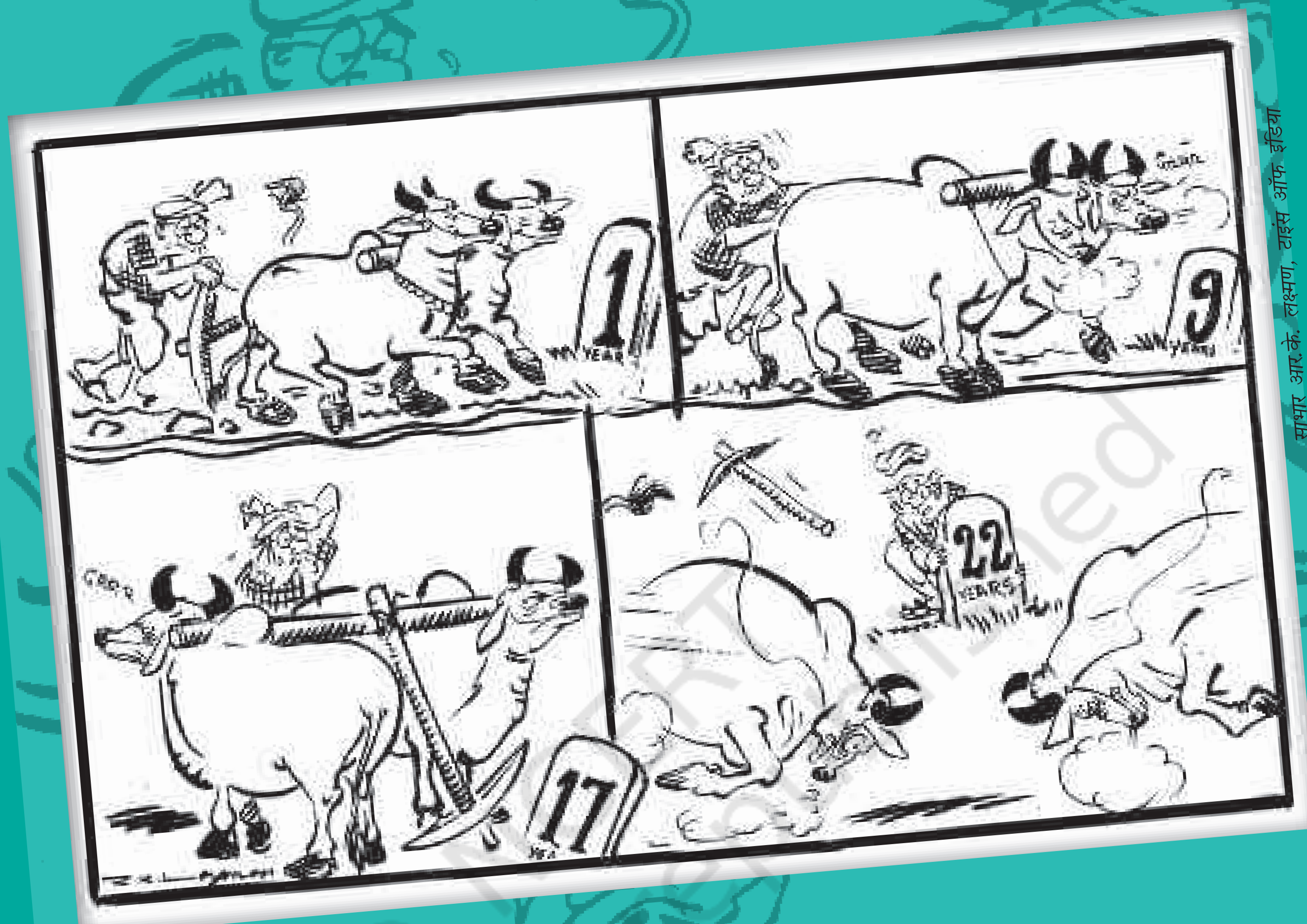

साभार आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ इंडिया

आज़ादी के बाद शुरुआत में कांग्रेस का चुनाव चिह्न दो बैलों की जोड़ी था। इस प्रसिद्ध कार्टून में कांग्रेस के भीतर आए बदलावों को दर्शाया गया है। कार्टून में दिखाया गया है कि आज़ादी के 22 वर्ष गुजरते-गुजरते कांग्रेस किस कदर फूट का शिकार हो गई थी।

इस अध्याय में...

इस किताब के दूसरे अध्याय में आपने कांग्रेस प्रणाली के उद्‌भव के बारे में पढ़ा था। इस प्रणाली को 1960 के दशक में पहली बार चुनौती मिली। राजनीतिक प्रतिस्पर्धा गहन हो चली थी और ऐसे में कांग्रेस को अपना प्रभुत्व बरकरार रखने में मुश्किलें आ रही थीं। विपक्ष अब पहले की अपेक्षा कम विभाजित और कहीं ज़्यादा ताकतवर था। कांग्रेस को इस विपक्ष की चुनौती का सामना करना पड़ा। कांग्रेस को अंदरूनी चुनौतियाँ भी झेलनी पड़ीं, क्योंकि अब यह पार्टी अपने अंदर की विभिन्नता को एक साथ थामकर नहीं चल पा रही थी। इस अध्याय में हम अपनी बात वहीं से शुरू करेंगे, जहाँ पर दूसरे अध्याय में छोड़ी गई थी, ताकि हम समझ सकें कि

- नेहरू के बाद राजनीति ने क्या करवट ली;
- विपक्ष की एकता और खुद के बिखराव ने कांग्रेस के प्रभुत्व को कैसे चुनौती दी;
- इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में एक नयी कांग्रेस किस तरह इन चुनौतियों से उबरी; और
- कैसे नयी नीतियों तथा विचारधाराओं ने कांग्रेस प्रणाली की पुनर्वापसी की?

अध्याय 5

कांग्रेस प्रणाली : चुनौतियाँ और पुनर्स्थापना

The Hindustan Times
SAREES
PRIME MINISTER NEHRU IS DEAD
100,000 wait to pay last homage
Country stunned by sudden end
State mourning for twelve days
The Void

राजनीतिक उत्तराधिकार की चुनौती

1964 के मई में नेहरू की मृत्यु हो गई। वे पिछले एक साल से भी ज़्यादा समय से बीमार चल रहे थे। इससे नेहरू के राजनीतिक उत्तराधिकारी को लेकर बड़े अंदेशे लगाए गए कि नेहरू के बाद कौन? लेकिन, भारत जैसे नव-स्वतंत्र देश में इस माहौल में एक और गंभीर सवाल हवा में तैर रहा था कि नेहरू के बाद आखिर इस देश में होगा क्या?

भारत से बाहर के बहुत से लोगों को संदेह था कि यहाँ नेहरू के बाद लोकतंत्र कायम भी रह पाएगा या नहीं। दूसरा सवाल इसी संदेह के दायरे में उठा था। आशंका थी कि बाकी बहुत से नव-स्वतंत्र देशों की तरह भारत भी राजनीतिक उत्तराधिकार का सवाल लोकतांत्रिक ढंग से हल नहीं कर पाएगा। असफल रहने की सूरत में भय था कि सेना राजनीतिक भूमिका में उतर आएगी। इसके अतिरिक्त, इस बात को लेकर भी संदेह थे कि देश के सामने बहुविध कठिनाइयाँ आन खड़ी हैं और नया नेतृत्व उनका समाधान खोज पाएगा या नहीं। 1960 के

फ्रांस और कनाडा में ऐसी सूरत कायम हो, तो वहाँ कोई भी लोकतंत्र के असफल होने अथवा देश के टूटने की बात नहीं कहता। हम ही आखिर लगातार इतने शक में क्यों पड़े रहते हैं?

लालबहादुर शास्त्री (1904–1966) : भारत के दूसरे प्रधानमंत्री; 1930 से स्वतंत्रता आंदोलन में भागीदारी की; उत्तर प्रदेश मंत्रिमंडल में मंत्री रहे; कांग्रेस पार्टी के महासचिव का पदभार सँभाला; 1951–56 तक केंद्रीय मंत्रिमंडल में मंत्री पद पर रहे। इसी दौरान रेल-दुर्घटना की नैतिक जिम्मेवारी लेते हुए उन्होंने रेलमंत्री के पद से इस्तीफा दे दिया था। बाद में, 1957–64 के बीच भी मंत्री पद पर रहे। आपने 'जय जवान–जय किसान' का मशहूर नारा दिया था।

दशक को 'खतरनाक दशक' कहा जाता है क्योंकि गरीबी, गैर–बराबरी, सांप्रदायिक और क्षेत्रीय विभाजन आदि के सवाल अभी अनसुलझे थे। संभव था कि इन सारी कठिनाइयों के कारण देश में लोकतंत्र की परियोजना असफल हो जाती अथवा खुद देश ही बिखर जाता।

नेहरू के बाद शास्त्री

नेहरू के उत्तराधिकारी का सवाल इतनी आसानी से हल कर लिया गया कि आलोचक ठगे–से रह गए। नेहरू की मृत्यु के बाद कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष के. कामराज ने अपनी पार्टी के नेताओं और सांसदों से सलाह–मशविरा किया। उन्होंने पाया कि सभी लालबहादुर शास्त्री के पक्ष में हैं। शास्त्री, कांग्रेस संसदीय दल के निर्विरोध नेता चुने गए और इस तरह वे देश के प्रधानमंत्री बने। शास्त्री, उत्तर प्रदेश के थे और नेहरू के मंत्रिमंडल में कई सालों तक मंत्री रहे थे। उनको लेकर कभी किसी किस्म का विवाद नहीं उठा था। अपने आखिरी सालों में नेहरू उन पर ज़्यादा-से-ज़्यादा निर्भर होते गए थे। शास्त्री अपनी सादगी और सिद्धांत निष्ठा के लिए प्रसिद्ध थे। एक दफा वे एक बड़ी रेल दुर्घटना की नैतिक जिम्मेवारी स्वीकार करते हुए रेलमंत्री के पद से इस्तीफा दे चुके थे।

शास्त्री 1964 से 1966 तक देश के प्रधानमंत्री रहे। इस पद पर वे बड़े कम दिनों तक रहे लेकिन इसी छोटी अवधि में देश ने दो बड़ी चुनौतियों का सामना किया। भारत, चीन युद्ध के कारण पैदा हुई आर्थिक कठिनाइयों से उबरने की कोशिश कर रहा था। साथ ही मानसून की असफलता से देश में सूखे की स्थिति थी। कई जगहों पर खाद्यान्न का गंभीर संकट आन पड़ा था। फिर, 1965 में पाकिस्तान के साथ भी युद्ध करना पड़ा। इसके बारे में आपने पिछले अध्याय में पढ़ा था। शास्त्री ने 'जय जवान–जय किसान' का नारा दिया, जिससे इन दोनों चुनौतियों से निपटने के उनके दृढ़ संकल्प का पता चलता है।

प्रधानमंत्री के पद पर शास्त्री बड़े कम दिनों तक रहे। 10 जनवरी 1966 को ताशकंद में अचानक उनका देहान्त हो गया। ताशकंद तब भूतपूर्व सोवियत संघ में था और आज यह उज़्बेकिस्तान की राजधानी है। युद्ध की समाप्ति के सिलसिले में पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति मोहम्मद अयूब खान से बातचीत करने और एक समझौते पर हस्ताक्षर करने के लिए वे ताशकंद गए थे।

तमाम अंदेशों के बावजूद इंग्लैंड की तुलना में भारत में प्रधानमंत्री का सवाल ज़्यादा शालीनता और तेज़ी के साथ हल कर लिया गया

3 जून, 1964 के गार्जियन में प्रकाशित संपादकीय। इस संपादकीय में इंग्लैंड और भारत के राजनीतिक घटनाक्रमों की तुलना करते हुए यह बताया गया है कि भारत में जहाँ नेहरू की मृत्यु के बाद नए प्रधानमंत्री के सवाल को जल्दी ही हल कर लिया गया वहीं इंग्लैंड में हैरॉल्ड मैकमिलन के बाद नए प्रधानमंत्री का मामला लंबे समय तक खिंचता रहा।

शास्त्री के बाद इंदिरा गाँधी

शास्त्री की मृत्यु से कांग्रेस के सामने दुबारा राजनीतिक उत्तराधिकारी का सवाल उठ खड़ा हुआ। इस बार मोरारजी देसाई और इंदिरा गाँधी के बीच कड़ा मुकाबला था। मोरारजी देसाई बंबई प्रांत (मौजूदा महाराष्ट्र और गुजरात) के मुख्यमंत्री के पद पर रह चुके थे। केंद्रीय मंत्रिमंडल में वे मंत्री पद पर भी रह चुके थे। जवाहरलाल नेहरू की बेटी इंदिरा गाँधी गुजरे वक्त में कांग्रेस अध्यक्ष के पद पर रह चुकी थीं। शास्त्री के मंत्रिमंडल में उन्होंने सूचना मंत्रालय का प्रभार सँभाला था। इस दफा पार्टी के बड़े नेताओं ने इंदिरा गाँधी को समर्थन देने का मन बनाया लेकिन इंदिरा गाँधी के नाम पर सर्वसम्मति कायम नहीं की जा सकी। ऐसे में फ़ैसले के लिए कांग्रेस के सांसदों ने गुप्त मतदान किया। इंदिरा गाँधी ने मोरारजी देसाई को हरा दिया। उन्हें कांग्रेस पार्टी के दो-तिहाई से अधिक सांसदों ने अपना मत दिया था। नेतृत्व के लिए गहन

© NCERT not to be republished

साभार: आर.के.लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ इंडिया, 18 जनवरी 1966

प्रतिस्पर्धा के बावजूद पार्टी में सत्ता का हस्तांतरण बड़े शांतिपूर्ण ढंग से संपन्न हो गया। इसे भारतीय लोकतंत्र की परिपक्वता के रूप में देखा गया।

नए प्रधानमंत्री को जमने में थोड़ा वक्त लगा। इंदिरा गाँधी यों तो बड़े लंबे समय से राजनीति में सक्रिय थीं, लेकिन लालबहादुर शास्त्री के मंत्रिमंडल में बड़े कम दिनों से मंत्री पद पर थीं। कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं ने संभवतया यह सोचकर उनका समर्थन किया होगा कि प्रशासनिक और राजनीतिक मामलों में खास अनुभव न होने के कारण समर्थन और दिशा-निर्देशन के लिए इंदिरा गाँधी उन पर निर्भर रहेंगी। प्रधानमंत्री बनने के एक साल के अंदर इंदिरा गाँधी को लोकसभा के चुनावों में पार्टी की अगुवाई करनी पड़ी। इस वक्त तक

इंदिरा गाँधी (1917-1984) : 1966 से 1977 तक और फिर 1980 से 1984 तक भारत की प्रधानमंत्री रहीं; युवा कांग्रेस कार्यकर्ता के रूप में स्वतंत्रता-आंदोलन में भागीदारी; 1958 में कांग्रेस की अध्यक्ष; 1964-66 में शास्त्री मंत्रिमंडल में केंद्रीय मंत्री के पद पर रहीं। 1967, 1971 और 1980 के आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी को अपने नेतृत्व में विजयी बनाया; 'गरीबी हटाओ' का नारा दिया; 1971 के युद्ध में जीत का श्रेय और प्रिवी पर्स की समाप्ति, बैंकों के राष्ट्रीयकरण, आण्विक-परीक्षण तथा पर्यावरण-संरक्षण के कदम उठाए। जवाहरलाल नेहरू की पुत्री; 31 अक्तूबर 1984 के दिन उनकी हत्या कर दी गई।

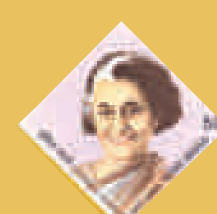

© NCERT not to be republished

साभार: रघु राय

देश की आर्थिक स्थिति और भी खराब हो गई थी। इससे इंदिरा की कठिनाइयाँ ज़्यादा बढ़ गईं। इन कठिनाइयों के मद्देनजर उन्होंने पार्टी पर अपना नियंत्रण बढ़ाने और अपने नेतृत्व कौशल को दिखाने की कोशिश की।

चौथा आम चुनाव, 1967

भारत के राजनीतिक और चुनावी इतिहास में 1967 के साल को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पड़ाव माना जाता है। दूसरे अध्याय में आप पढ़ चुके हैं कि 1952 के बाद से पूरे देश में कांग्रेस पार्टी का राजनीतिक दबदबा कायम था। 1967 के चुनावों में इस प्रवृत्ति में गहरा बदलाव आया।

चुनावों का संदर्भ

चौथे आम चुनावों के आने तक देश में बड़े बदलाव हो चुके थे। दो प्रधानमंत्रियों का जल्दी-जल्दी देहावसान हुआ और नए प्रधानमंत्री को पद सँभाले हुए अभी पूरे एक साल का

अरसा भी नहीं गुजरा था। साथ ही, इस प्रधानमंत्री को राजनीति के लिहाज़ से कम अनुभवी माना जा रहा था। इस अध्याय के पूर्ववर्ती हिस्से और तीसरे अध्याय की चर्चा के क्रम में आप यह बात जान चुके हैं कि इस अरसे में देश गंभीर आर्थिक संकट में था। मानसून की असफलता, व्यापक सूखा, खेती की पैदावार में गिरावट, गंभीर खाद्य संकट, विदेशी मुद्रा-भंडार में कमी, औद्योगिक उत्पादन और निर्यात में गिरावट के साथ ही साथ सैन्य खर्चे में भारी बढ़ोतरी हुई थी। नियोजन और आर्थिक विकास के संसाधनों को सैन्य-मद में लगाना पड़ा। इन सारी बातों से देश की आर्थिक स्थिति विकट हो गई थी। इंदिरा गाँधी की सरकार के शुरुआती फ़ैसलों में एक था– रुपये का अवमूल्यन करना। माना गया कि रुपये का अवमूल्यन अमरीका के दबाव में किया गया। पहले के वक्त में 1 अमरीकी डॉलर की कीमत 5 रुपये थी, जो अब बढ़कर 7 रुपये हो गई।

आर्थिक स्थिति की विकटता के कारण कीमतों में तेज़ी से इजाफा हुआ। लोग आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि, खाद्यान्न की कमी, बढ़ती हुई बेरोजगारी और देश की दयनीय आर्थिक स्थिति को लेकर विरोध पर उतर आए। देश में अकसर 'बंद' और 'हड़ताल' की स्थिति रहने लगी। सरकार ने इसे कानून और व्यवस्था की समस्या माना न कि जनता की बदहाली की अभिव्यक्ति। इससे लोगों की नाराजगी बढ़ी और जन विरोध ने ज्यादा उग्र रूप धारण किया।

साम्यवादी और समाजवादी पार्टी ने व्यापक समानता के लिए संघर्ष छेड़ दिया। आप अगले अध्याय में पढ़ेंगे कि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से अलग हुए साम्यवादियों के एक समूह ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी बनायी और सशस्त्र कृषक-विद्रोह का नेतृत्व किया। साथ ही, इस पार्टी ने किसानों के बीच विरोध को संगठित किया। इस अवधि में गंभीर किस्म के हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी हुए। आज़ादी के बाद से अब तक इतने गंभीर सांप्रदायिक दंगे नहीं हुए थे।

चुनाव-कथा राजस्थान के एक गाँव की

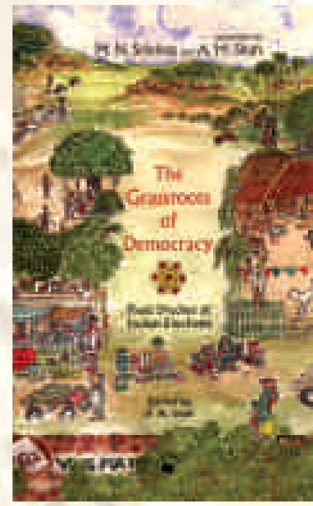

यह प्रसंग 1967 के विधानसभा चुनावों का है। चोमू नामक निर्वाचन क्षेत्र में कांग्रेस और स्वतंत्र पार्टी आमने-सामने थे। लेकिन उस निर्वाचन क्षेत्र के एक गाँव देवीसर में यह हुआ कि स्थानीय राजनीति का समीकरण कांग्रेस और स्वतंत्र पार्टी के चुनावी गणित से जा उलझा। देवीसर में शेर सिंह नाम के व्यक्ति का दबदबा था। परंतु धीरे-धीरे उसका भतीजा भीम सिंह ज्यादा लोकप्रिय होने लगा था। हालाँकि दोनों ही राजपूत थे, किन्तु भीम सिंह ने पंचायत का प्रधान बनने के बाद अन्य समुदायों के बीच भी जगह बना ली थी। दरअसल, उसने राजपूतों के अलावा गैर-राजपूत समुदायों को जोड़कर एक नया राजनीतिक समीकरण तैयार कर डाला था। भीम सिंह ने आस पास के गाँवों में ग्राम प्रधान पद के लिए कई उम्मीदवारों को समर्थन देने की घोषणा करके एक गठबंधन-सा तैयार कर लिया। भीम सिंह इतने भर से संतुष्ट नहीं था। वह कांग्रेस नेता और राज्य के मुख्यमंत्री मोहनलाल सुखाड़िया के पास एक प्रतिनिधिमंडल लेकर जा पहुँचा। उसने मुख्यमंत्री पर इस बात के लिए दबाव बनाने की कोशिश की कि आगामी विधानसभा चुनावों में उसके एक राजनीतिक सहयोगी को कांग्रेस की तरफ़ से उम्मीदवार बनाया जाए। मुख्यमंत्री सुखाड़िया ने भीम सिंह को समझाया कि ऐसा कर पाना मुश्किल होगा। उल्टे उन्होंने भीम सिंह को अपने मनपसंद उम्मीदवार को समर्थन देने के लिए राजी कर लिया। अब भीम सिंह ने अपने समर्थकों से मुख्यमंत्री द्वारा सुझाए गए उम्मीदवार के लिए काम करने को कहा। दरअसल, भीम सिंह यह बात भलीभाँति जानता था कि अगर कांग्रेसी उम्मीदवार जीत जाता है, तो उसका मंत्री बनना तय है और उसके मंत्री बनने का अर्थ है कि भीम सिंह मंत्री से सीधे संपर्क स्थापित कर सकता है।

शेर सिंह के पास स्वतंत्र पार्टी के उम्मीदवार का साथ देने के अलावा और कोई चारा नहीं था। पार्टी का उम्मीदवार जागीरदार था। गाँव में चुनाव-प्रचार करने के दौरान शेर सिंह लोगों से यही कहता था कि जागीरदार गाँव में स्कूल का निर्माण कराएगा और गाँव के विकास के लिए अपनी जेब से पैसा लगाएगा। खैर, संक्षेप में, देवीसर गाँव में विधानसभा चुनाव चाचा-भतीजे की खेमेबाजी में बदल गया था।

आनंद चक्रवती की पुस्तक *ए विलेज इन चोमू असेंबली कॉन्सटीट्एंसी इन राजस्थान* पर आधारित।

...भारत में जिस तरह की प्रवृत्तियाँ जारी हैं, उनमें एक सुव्यवस्थित समाज रचना को बनाए रखने का काम नागरिक सरकार के हाथों से जाता रहेगा और सेना ही फिर कानून-व्यवस्था बनाए रखने का एकमात्र विकल्प होगी... भारत को लोकतांत्रिक ढाँचे के भीतर विकसित करने का महान प्रयोग असफल हो चुका है...

नेविए मैक्सवेल ने उपर्युक्त बातें अपने लेख *'इंडियाज़ डिसइंटीग्रेटिंग डेमोक्रेसी'* में कही थीं। यह लेख 'लंदन टाइम्स' में प्रकाशित (1967) हुआ था।

गैर-कांग्रेसवाद

यह सारी स्थिति देश की दलगत राजनीति से अलग-थलग नहीं रह सकती थी। विपक्षी दल जनविरोध की अगुवाई कर रहे थे और सरकार पर दबाव डाल रहे थे। कांग्रेस की विरोधी पार्टियों ने महसूस किया कि उसके वोट बँट जाने के कारण ही कांग्रेस सत्तासीन है। जो दल अपने कार्यक्रम अथवा विचारधाराओं के धरातल पर एक-दूसरे से एकदम अलग थे, वे सभी दल एकजुट हुए और उन्होंने कुछ राज्यों में एक कांग्रेस विरोधी मोर्चा बनाया तथा अन्य राज्यों में सीटों के मामले में चुनावी तालमेल किया। इन दलों को लगा कि इंदिरा गाँधी की अनुभवहीनता और कांग्रेस की अंदरूनी उठापटक से उन्हें कांग्रेस को सत्ता से हटाने का एक अवसर हाथ लगा है। समाजवादी नेता राममनोहर लोहिया ने इस रणनीति को 'गैर-कांग्रेसवाद' का नाम दिया। उन्होंने 'गैर-कांग्रेसवाद' के पक्ष में सैद्धांतिक तर्क देते हुए कहा कि कांग्रेस का शासन अलोकतांत्रिक और गरीब लोगों के हितों के खिलाफ़ है इसलिए गैर-कांग्रेसी दलों का एक साथ आना जरूरी है, ताकि गरीबों के हक में लोकतंत्र को वापस लाया जा सके।

सी. नटराजन अन्नादुरई (1909-1969) : 1967 से मद्रास (तमिलनाडु) के मुख्यमंत्री; चर्चित पत्रकार, लेखक एवं वक्ता; मद्रास राज्य में जस्टिस पार्टी से संबद्ध; बाद में द्रविड़ कषगम (1934) में शामिल; 1949 में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम का बतौर राजनीतिक पार्टी गठन; द्रविड़ संस्कृति के समर्थक, हिंदी का विरोध एवं हिंदी विरोधी आंदोलन का नेतृत्व; राज्यों की व्यापक स्वायत्तता के समर्थक।

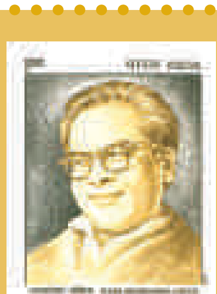

राममनोहर लोहिया (1910-1967): समाजवादी नेता एवं विचारक; स्वतंत्रता-सेनानी एवं कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य; मूल पार्टी में विभाजन के बाद सोशलिस्ट पार्टी एवं बाद में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के नेता; 1963 से 1967 तक लोकसभा सांसद, 'मैनकाइंड' एवं 'जन' के संस्थापक संपादक, गैर-यूरोपीय समाजवादी सिद्धांत के विकास में मौलिक योगदान; विचारधारा का संयोजन; गैर-कांग्रेसवाद के रणनीतिकार, पिछड़े वर्गों को आरक्षण की वकालत और अंग्रेज़ी विरोध के अलावा ऐसे राजनीतिक नेता के रूप में चर्चित, जिन्होंने नेहरू के खिलाफ़ मोर्चा खोला।

चुनाव का जनादेश

व्यापक जन-असंतोष और राजनीतिक दलों के ध्रुवीकरण के इसी माहौल में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के लिए 1967 के फरवरी माह में चौथे आम चुनाव हुए। कांग्रेस पहली बार नेहरू के बिना मतदाताओं का सामना कर रही थी।

चुनाव के परिणामों से कांग्रेस को राष्ट्रीय और प्रांतीय स्तर पर गहरा धक्का लगा। तत्कालीन अनेक राजनीतिक पर्यवेक्षकों ने चुनाव परिणामों को 'राजनीतिक भूकंप' की संज्ञा दी। कांग्रेस को जैसे-तैसे लोकसभा में बहुमत तो मिल गया था, लेकिन उसको प्राप्त मतों के प्रतिशत तथा सीटों की संख्या में भारी गिरावट आई थी। अब से पहले कांग्रेस को कभी न तो इतने कम वोट मिले थे और न ही इतनी कम सीटें मिली थीं। इंदिरा गाँधी के मंत्रिमंडल के आधे मंत्री चुनाव हार गए थे। तमिलनाडु से कामराज, महाराष्ट्र से एस.के. पाटिल, पश्चिम बंगाल से अतुल्य घोष और बिहार से के.बी. सहाय जैसे राजनीतिक दिग्गजों को मुँह की खानी पड़ी थी।

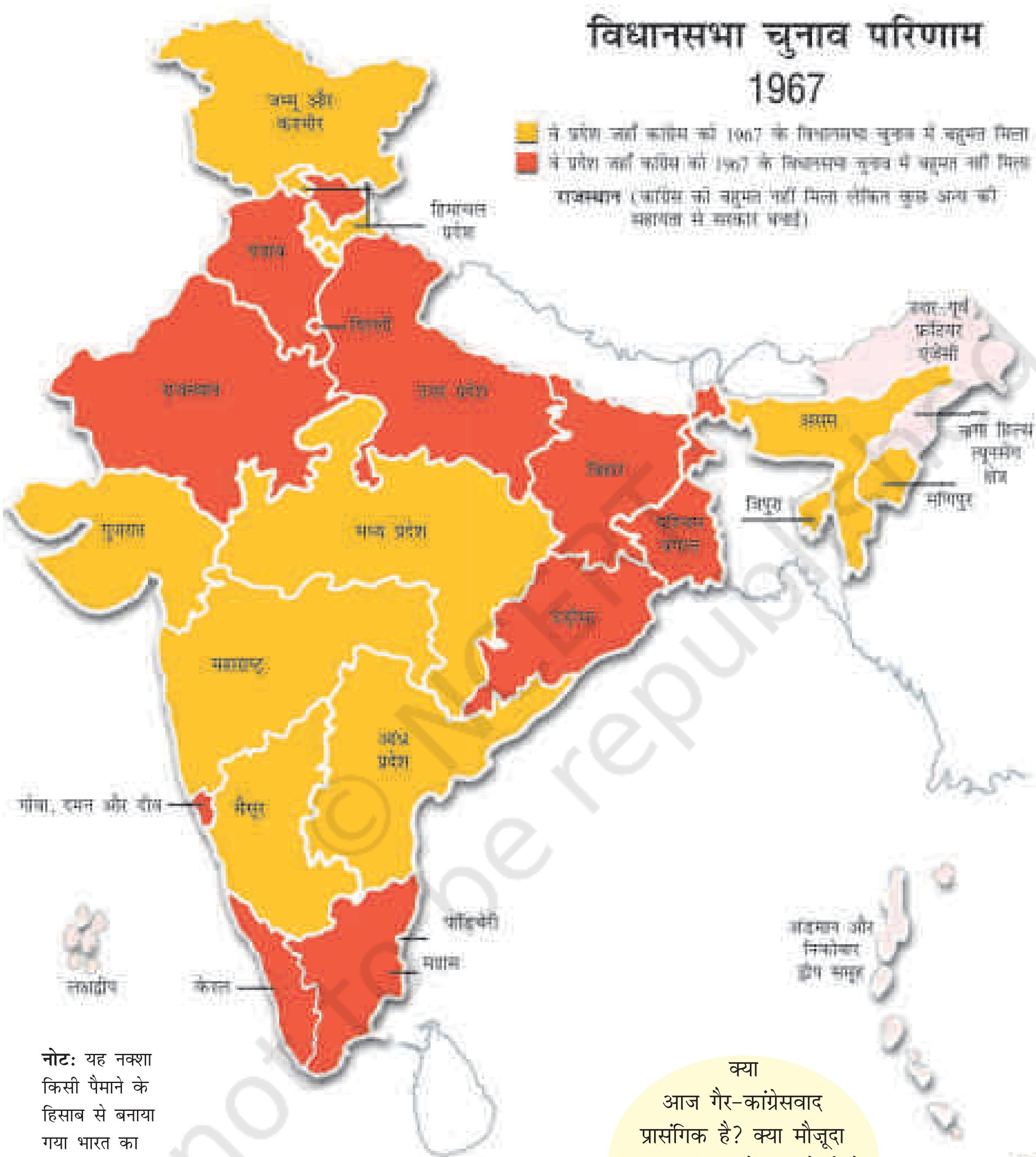

नोट: यह नक्शा किसी पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

राजनीतिक बदलाव की यह नाटकीय स्थिति आपको राज्यों में और ज़्यादा स्पष्ट नज़र आएगी। कांग्रेस को सात राज्यों में बहुमत नहीं मिला। दो अन्य राज्यों में दलबदल के कारण यह पार्टी सरकार नहीं बना सकी। जिन 9 राज्यों में कांग्रेस के हाथ से सत्ता निकल गई थी, वे देश के किसी एक भाग में कायम राज्य नहीं थे। ये राज्य पूरे देश के अलग-अलग हिस्सों में थे। कांग्रेस पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, मद्रास और केरल में सरकार नहीं बना सकी। मद्रास प्रांत (अब इसे तमिलनाडु कहा जाता है) में एक क्षेत्रीय पार्टी द्रविड़ मुनेत्र कषगम पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता पाने में कामयाब रही। द्रविड़ मुनेत्र कषगम (डीएमके) हिंदी-विरोधी आंदोलन का नेतृत्व करके सत्ता में आई थी। यहाँ के छात्र हिंदी को राजभाषा के रूप में केंद्र द्वारा अपने ऊपर थोपने का विरोध कर रहे थे और डीएमके ने उनके इस विरोध को नेतृत्व प्रदान किया था। चुनावी इतिहास में यह पहली घटना थी जब किसी गैर-कांग्रेसी दल को किसी राज्य में पूर्ण बहुमत मिला। अन्य आठ राज्यों में विभिन्न गैर-कांग्रेसी दलों की गठबंधन सरकार बनी। उस समय आमतौर पर कहा जाता था कि दिल्ली से हावड़ा जाने के लिए ट्रेन पर बैठो, तो यह ट्रेन अपने पूरे रास्ते में एक भी कांग्रेस-शासित राज्य से होकर नहीं गुज़रेगी। लोग कांग्रेस को सत्तासीन देखने के अभ्यस्त थे और उनके लिए यह एक विचित्र अनुभव था। तो क्या मान लिया जाए कि कांग्रेस का दबदबा खत्म हो गया?

गठबंधन

1967 के चुनावों से गठबंधन की परिघटना सामने आयी। चूँकि किसी पार्टी को बहुमत नहीं मिला था, इसलिए अनेक गैर-कांग्रेसी पार्टियों ने एकजुट होकर संयुक्त विधायक दल बनाया और गैर-कांग्रेसी सरकारों को समर्थन दिया। इसी कारण इन सरकारों को संयुक्त विधायक दल की सरकार कहा गया। अधिकतर मामलों में ऐसी सरकार के घटक दल विचारधारा के लिहाज से एक-दूसरे से भिन्न थे। मिसाल के लिए बिहार में बनी संयुक्त विधायक दल की सरकार में दो समाजवादी पार्टियाँ–एसएसपी और पीएसपी–शामिल थीं। इनके साथ इस सरकार में वामपंथी–सीपीआई और दक्षिणपंथी जनसंघ–भी शामिल थे। पंजाब में बनी संयुक्त विधायक दल की सरकार को 'पॉपुलर यूनाइटेड फ्रंट' की सरकार कहा गया। इसमें उस वक्त के दो परस्पर प्रतिस्पर्धी अकाली दल–संत ग्रुप और मास्टर ग्रुप शामिल थे। इनके साथ सरकार में दोनों साम्यवादी दल सीपीआई और सीपीआई (एम), एसएसपी, रिपब्लिकन पार्टी और भारतीय जनसंघ भी शामिल थे।

साभार: कुट्टी

1974 में गैर-साम्यवादी दलों का एक संयुक्त मोर्चा बनाने की कोशिशों पर कार्टूनिस्ट का नज़रिया।

दल-बदल

1967 के चुनावों की एक खास बात दल-बदल भी है। इसने राज्यों में सरकारों के बनने-बिगड़ने में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। कोई जनप्रतिनिधि किसी खास दल के चुनाव चिह्न को लेकर चुनाव लड़े और जीत जाए और चुनाव जीतने के बाद इस दल को छोड़कर किसी दूसरे दल में शामिल हो जाए, तो इसे दल-बदल कहते हैं। 1967 के आम चुनावों के बाद कांग्रेस को छोड़ने वाले विधायकों ने तीन राज्यों–हरियाणा, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश–में गैर-कांग्रेसी सरकारों को बहाल करने में अहम भूमिका निभायी। इस दौर में राजनीतिक निष्ठा की इस अदल-बदल से 'आया राम-गया राम' का जुमला मशहूर हुआ।

'आया राम-गया राम'

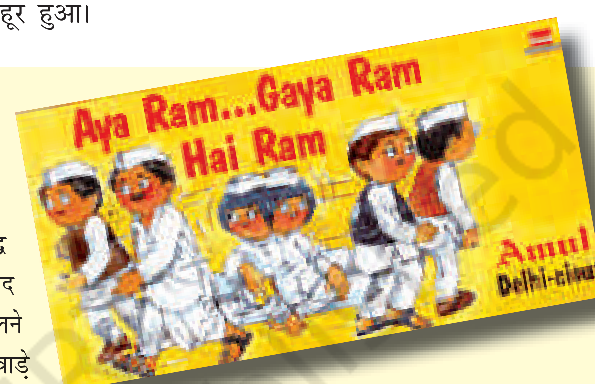

विधायकों द्वारा तुरंत-फुरंत पार्टी छोड़कर दूसरी-तीसरी पार्टी में शामिल होने की घटना से भारत के राजनीतिक शब्दकोश में 'आया राम-गया राम' का जुमला दाखिल हुआ। इस जुमले की प्रसिद्धि के साथ एक खास घटना जुड़ी हुई है। 1967 के चुनावों के बाद हरियाणा के एक विधायक–गया लाल ने राजनीतिक निष्ठा बदलने का जैसे एक कीर्तिमान ही स्थापित कर दिया था। उन्होंने एक पखवाड़े के अंदर तीन दफा अपनी पार्टी बदली। पहले वे कांग्रेस से यूनाइटेड फ्रंट में गए, फिर कांग्रेस में लौटे और कांग्रेस में लौटने के 9 घंटों के अंदर दोबारा यूनाइटेड फ्रंट में चले गए। कहा जाता है कि जब गया लाल ने यूनाइटेड फ्रंट छोड़कर कांग्रेस में आने की मंशा ज़ाहिर की तो कांग्रेस के नेता राव वीरेन्द्र सिंह ने उन्हें लेकर चंडीगढ़ में प्रेस के सामने घोषणा की –"गया राम था अब आया राम है।" गया लाल की इस हड़बड़ी को 'आया राम-गया राम' के जुमले में हमेशा के लिए दर्ज़ कर लिया गया। उनकी इस हड़बड़ी को लेकर बहुत-से चुटकुले और कार्टून बने। बाद के समय में दल-बदल रोकने के लिए संविधान में संशोधन किया गया।

कांग्रेस में विभाजन

हमने देखा कि 1967 के चुनावों के बाद केंद्र में कांग्रेस की सत्ता कायम रही, लेकिन उसे पहले जितना बहुमत हासिल नहीं था। साथ ही अनेक राज्यों में इस पार्टी के हाथ से सत्ता जाती रही। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि चुनाव के नतीजों ने साबित कर दिया था कि कांग्रेस को चुनावों में हराया जा सकता है। बहरहाल, अब भी कांग्रेस का कोई विकल्प नहीं था। राज्यों में बनी अधिकतर गैर-कांग्रेसी गठबंधन की सरकारें ज़्यादा दिनों तक नहीं टिक पाईं। इन सरकारों ने बहुमत खोया और उन्हें या तो नए सिरे से गठबंधन बनाना पड़ा अथवा राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा।

इंदिरा बनाम सिंडिकेट

इंदिरा गाँधी को असली चुनौती विपक्ष से नहीं बल्कि खुद अपनी पार्टी के भीतर से मिली। उन्हें 'सिंडिकेट' से निपटना पड़ा। 'सिंडिकेट' कांग्रेस

के. कामराज (1903-1975) : स्वतंत्रता-सेनानी और कांग्रेस के नेता; मद्रास (तमिलनाडु) के मुख्यमंत्री रहे; मद्रास प्रांत में शिक्षा का प्रसार करने और स्कूली बच्चों को 'दोपहर का भोजन' देने की योजना लागू करने के लिए प्रसिद्ध; 1963 में उन्होंने प्रस्ताव रखा कि सभी वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं को इस्तीफ़ा दे देना चाहिए, ताकि अपेक्षाकृत युवा पार्टी कार्यकर्ता कमान सँभाल सकें। यह प्रस्ताव 'कामराज योजना' के नाम से मशहूर हुआ। आप कांग्रेस अध्यक्ष भी रहे।

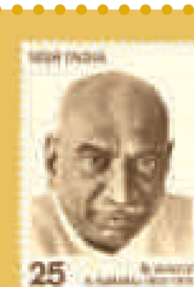

कांग्रेस 'सिंडिकेट'

कांग्रेसी नेताओं के एक समूह को अनौपचारिक तौर पर 'सिंडिकेट' के नाम से इंगित किया जाता था। इस समूह के नेताओं का पार्टी के संगठन पर नियंत्रण था। 'सिंडिकेट' के अगुवा मद्रास प्रांत के भूतपूर्व मुख्यमंत्री और फिर कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष रह चुके के. कामराज थे। इसमें प्रांतों के ताकतवर नेता जैसे बंबई सिटी (अब मुंबई) के एस.के. पाटिल, मैसूर (अब कर्नाटक) के एस. निजलिंगप्पा, आंध्र प्रदेश के एन. संजीव रेड्डी और पश्चिम बंगाल के अतुल्य घोष शामिल थे। लालबहादुर शास्त्री और उसके बाद इंदिरा गाँधी, दोनों ही सिंडिकेट की सहायता से प्रधानमंत्री के पद पर आरूढ़ हुए थे। इंदिरा गाँधी के पहले मंत्रिपरिषद् में इस समूह की निर्णायक भूमिका रही। इसने तब नीतियों के निर्माण और क्रियान्वयन में भी अहम भूमिका निभायी थी। कांग्रेस के विभाजित होने के बाद सिंडीकेट के नेताओं और उनके प्रति निष्ठावान कांग्रेसी कांग्रेस (ओ) में ही रहे। चूँकि इंदिरा गाँधी की कांग्रेस (आर) ही लोकप्रियता की कसौटी पर सफल रही, इसलिए भारतीय राजनीति के ये बड़े और ताकतवर नेता 1971 के बाद प्रभावहीन हो गए।

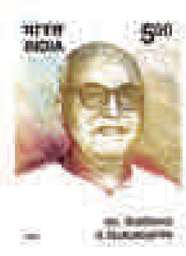

एस. निजलिंगप्पा (1902–2000) : वरिष्ठ कांग्रेस नेता; संविधान सभा के सदस्य; लोकसभा के सदस्य; तत्कालीन मैसूर प्रांत (अब कर्नाटक) के मुख्यमंत्री; आधुनिक कर्नाटक के निर्माता के रूप में प्रसिद्ध; 1968–71 के दौरान कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष।

के भीतर ताकतवर और प्रभावशाली नेताओं का एक समूह था। 'सिंडिकेट' ने इंदिरा गाँधी को प्रधानमंत्री बनवाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। उसी ने इंदिरा गाँधी का कांग्रेस संसदीय दल के नेता के रूप में चुना जाना सुनिश्चित किया था। सिंडिकेट के नेताओं को उम्मीद थी कि इंदिरा गाँधी उनकी सलाहों पर अमल करेंगी। बहरहाल, इंदिरा गाँधी ने सरकार और पार्टी के भीतर खुद का मुकाम बनाना शुरू किया। उन्होंने अपने सलाहकारों और विश्वस्तों के समूह में पार्टी से बाहर के लोगों को रखा। धीरे-धीरे और बड़ी सावधानी से उन्होंने सिंडिकेट को हाशिए पर ला खड़ा किया।

कर्पूरी ठाकुर (1924–1988) : दिसंबर 1970 और जून 1971 तथा जून 1977 और अप्रैल 1979 के दौरान बिहार के मुख्यमंत्री; स्वतंत्रता सेनानी एवं समाजवादी नेता; मज़दूर एवं किसान आंदोलनों में सक्रिय; लोहिया के प्रबल समर्थक; जेपी द्वारा चलाए गए आंदोलन में भागीदारी; मुख्यमंत्री के रूप में अपने दूसरे कार्यकाल के दौरान बिहार में पिछड़ों के लिए आरक्षण लागू करने वाले के रूप में पहचान; अंग्रेज़ी भाषा के इस्तेमाल के प्रबल विरोधी।

इस तरह इंदिरा गाँधी ने दो चुनौतियों का सामना किया। उन्हें 'सिंडिकेट' के प्रभाव से स्वतंत्र अपना मुकाम बनाने की ज़रूरत थी। कांग्रेस ने 1967 के चुनाव में जो ज़मीन खोयी थी उसे भी उन्हें हासिल करना था। इंदिरा गाँधी ने बड़ी साहसिक रणनीति अपनायी। उन्होंने एक साधारण से सत्ता-संघर्ष को विचारधारात्मक संघर्ष में बदल दिया। उन्होंने सरकार की नीतियों को वामपंथी रंग देने के लिए कई कदम उठाए। 1967 की मई में कांग्रेस कार्यसमिति ने उनके प्रभाव से दस-सूत्री कार्यक्रम अपनाया। इस कार्यक्रम में बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण, आम बीमा के राष्ट्रीयकरण, शहरी संपदा और आय के परिसीमन, खाद्यान्न का सरकारी वितरण, भूमि सुधार तथा ग्रामीण गरीबों को

© NCERT not to be republished

आवासीय भूखंड देने के प्रावधान शामिल थे। हालाँकि सिंडिकेट के नेताओं ने औपचारिक तौर पर वामपंथी खेमे के इस कार्यक्रम को स्वीकृति दे दी, लेकिन इसे लेकर उनके मन में गहरे संदेह थे।

राष्ट्रपति पद का चुनाव, 1969

सिंडिकेट और इंदिरा गाँधी के बीच की गुटबाज़ी 1969 में राष्ट्रपति पद के चुनाव के समय खुलकर सामने आ गई। तत्कालीन राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन की मृत्यु के कारण उस साल राष्ट्रपति का पद खाली था। इंदिरा गाँधी की असहमति के बावजूद उस साल सिंडिकेट ने तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष एन. संजीव रेड्डी को कांग्रेस पार्टी की तरफ़ से राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के रूप में खड़ा करवाने में सफलता पाई। एन. संजीव रेड्डी से इंदिरा गाँधी की बहुत दिनों से राजनीतिक अनबन चली आ रही थी। ऐसे में इंदिरा गाँधी ने भी हार नहीं मानी। उन्होंने तत्कालीन उपराष्ट्रपति वी.वी. गिरि को बढ़ावा दिया कि वे एक स्वतंत्र उम्मीदवार के रूप में राष्ट्रपति पद के लिए अपना नामांकन भरें। इंदिरा गाँधी ने

वी.वी. गिरि (1894-1980) :

1969 से 1974 तक भारत के राष्ट्रपति; कांग्रेस नेता एवं आंध्र प्रदेश के मज़दूर नेता; सिलोन (श्रीलंका) में भारतीय उच्चायुक्त; केंद्रीय मंत्रिमंडल में श्रम मंत्री, उत्तर प्रदेश, केरल, मैसूर (कर्नाटक) के राज्यपाल; उपराष्ट्रपति (1967 से 1969) एवं राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन के निधन के बाद कार्यकारी राष्ट्रपति; इस्तीफ़ा एवं राष्ट्रपति चुनाव में स्वतंत्र प्रत्याशी; राष्ट्रपति के चुनाव में इंदिरा गाँधी के समर्थन से विजयी।

साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 21 अगस्त 1969

यह कार्टून वी.वी. गिरि की जीत के बाद छपा था। इसमें उन्हें एक विजयी मुक्केबाज़ के रूप में दिखाया गया है। उनके गले में माला लटक रही है। उनका मुकाबला सिंडिकेट के उम्मीदवार से था। कार्टून में सिंडिकेट के प्रतीक के रूप में निजलिंगप्पा को घुटने टेकते दिखाया गया है। क्या आप बता सकते हैं कि इस कार्टून में इंदिरा गाँधी को मुक्केबाज़ी वाला दस्ताना पहने क्यों दिखाया गया है।

© NCERT not to be republished

> *इतिहास... लोकतंत्र की त्रासदी के ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है, जब जनसमर्थन की लहर के बूते अथवा किसी लोकतांत्रिक संगठन के बल पर सत्तासीन हुआ नेता राजनीतिक आत्ममोह का शिकार हो जाता है और चरित्रहीन चाटुकार दरबारियों की बातों में जीने लगता है...*

एस. निजलिंगप्पा
इंदिरा गाँधी को पार्टी से निष्कासित करते हुए एस. निजलिंगप्पा ने उन्हें 11 नवंबर 1969 को एक चिट्ठी लिखी। उपर्युक्त पंक्तियाँ इसी पत्र का अंश हैं।

चौदह अग्रणी बैंकों के राष्ट्रीयकरण और भूतपूर्व राजा-महाराजाओं को प्राप्त विशेषाधिकार यानी 'प्रिवी पर्स' को समाप्त करने जैसी कुछ बड़ी और जनप्रिय नीतियों की घोषणा भी की। उस वक्त मोरारजी देसाई देश के उपप्रधानमंत्री और वित्तमंत्री थे। उपर्युक्त दोनों मुद्दों पर प्रधानमंत्री और उनके बीच गहरे मतभेद उभरे और इसके परिणामस्वरूप मोरारजी ने सरकार से किनारा कर लिया।

गुज़रे वक्त में भी कांग्रेस के भीतर इस तरह के मतभेद उठ चुके थे, लेकिन इस बार मामला कुछ अलग ही था। दोनों गुट चाहते थे कि राष्ट्रपति पद के चुनाव में ताकत को आजमा ही लिया जाए। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष एस. निजलिंगप्पा ने 'व्हिप' जारी किया कि सभी 'कांग्रेसी सांसद और विधायक पार्टी के आधिकारिक उम्मीदवार संजीव रेड्डी को वोट डालें।' इंदिरा गाँधी के समर्थक गुट ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की विशेष बैठक आयोजित करने की याचना की, लेकिन उनकी यह याचना स्वीकार नहीं की गई। वी.वी. गिरि का छुपे तौर पर समर्थन करते हुए प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने खुलेआम अंतरात्मा की आवाज़ पर वोट डालने को कहा। इसका मतलब यह था कि कांग्रेस के सांसद और विधायक अपनी मनमर्ज़ी से किसी भी उम्मीदवार को वोट डाल सकते हैं। आखिरकार राष्ट्रपति पद के चुनाव में वी.वी. गिरि ही विजयी हुए। वे स्वतंत्र उम्मीदवार थे, जबकि एन. संजीव रेड्डी कांग्रेस पार्टी के आधिकारिक उम्मीदवार थे।

कांग्रेस पार्टी के आधिकारिक उम्मीदवार की हार से पार्टी का टूटना तय हो गया। कांग्रेस अध्यक्ष ने प्रधानमंत्री को अपनी पार्टी से निष्कासित कर दिया। पार्टी से निष्कासित प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने कहा कि उनकी पार्टी ही असली कांग्रेस है। 1969 के नवंबर तक सिंडिकेट की अगुवाई वाले कांग्रेसी खेमे को कांग्रेस (ऑर्गनाइजेशन) और इंदिरा गाँधी की अगुवाई वाले कांग्रेसी खेमे को कांग्रेस (रिक्विजिनिस्ट) कहा जाने लगा था। इन दोनों दलों को क्रमशः 'पुरानी कांग्रेस' और 'नयी कांग्रेस' भी कहा जाता था। इंदिरा गाँधी ने पार्टी की इस टूट को

'प्रिवी पर्स' की समाप्ति

पहले अध्याय में आपने देसी रियासतों के विलय के बारे में पढ़ा था। देसी रियासतों का विलय भारतीय संघ में करने से पहले सरकार ने यह आश्वासन दिया था कि रियासतों के तत्कालीन शासक परिवार को निश्चित मात्रा में निजी संपदा रखने का अधिकार होगा। साथ ही सरकार की तरफ़ से उन्हें कुछ विशेष भत्ते भी दिए जाएँगे। ये दोनों चीज़ें (यानी शासक की निजी संपदा और भत्ते) इस बात को आधार मानकर तय की जाएँगी कि जिस राज्य का विलय किया जाना है उसका विस्तार, राजस्व और क्षमता कितनी है। इस व्यवस्था को 'प्रिवी पर्स' कहा गया। रियासतों के विलय के समय राजा-महाराजाओं को दी गई इस विशेष सुविधा की कुछ खास आलोचना नहीं हुई थी। उस वक्त देश की एकता, अखंडता का लक्ष्य ही प्रमुख था।

बहरहाल ये वंशानुगत विशेषाधिकार भारतीय संविधान में वर्णित समानता और सामाजिक-आर्थिक न्याय के सिद्धांतों से मेल नहीं खाते थे। नेहरू ने कई दफे इस व्यवस्था को लेकर अपना असंतोष जताया था। 1967 के चुनावों के बाद इंदिरा गाँधी ने 'प्रिवी पर्स' को खत्म करने की माँग का समर्थन किया। उनकी राय थी कि सरकार को 'प्रिवी पर्स' की व्यवस्था समाप्त कर देनी चाहिए। मोरारजी देसाई प्रिवी पर्स की समाप्ति को नैतिक रूप से गलत मानते थे। उनका कहना था कि यह 'रियासतों के साथ विश्वासघात' के बराबर होगा।

प्रिवी पर्स की व्यवस्था को खत्म करने के लिए सरकार ने 1970 में संविधान में संशोधन के प्रयास किए, लेकिन राज्यसभा में यह मंज़ूरी नहीं पा सका। इसके बाद सरकार ने एक अध्यादेश जारी किया, लेकिन इसे सर्वोच्च न्यायालय ने निरस्त कर दिया। इंदिरा गाँधी ने इसे 1971 के चुनावों में एक बड़ा मुद्दा बनाया और इस मुद्दे पर उन्हें जन समर्थन भी खूब मिला। 1971 में मिली भारी जीत के बाद संविधान में संशोधन हुआ और इस तरह प्रिवी पर्स की समाप्ति की राह में मौजूद कानूनी अड़चनें खत्म हो गईं।

not to be republished © NCERT

THE HINDUSTAN TIMES

PM INSISTS ON FREE VOTE

Congress splits on historic day

No-confidence move against Nijalingappa

States trend shows no major change

साभार: विजयन, शंकर्स वीकली

20 जुलाई 1969

1969 में कांग्रेस पार्टी में नेतृत्व के लिए प्रतिद्वंद्विता पर कार्टूनिस्ट का नज़रिया।

विचारधाराओं की लड़ाई के रूप में पेश किया। उन्होंने इसे 'समाजवादी' और 'पुरातनपंथी' तथा गरीबों के हिमायती और अमीरों के तरफ़दार के बीच की लड़ाई करार दिया।

1971 का चुनाव और कांग्रेस का पुनर्स्थापन

कांग्रेस की टूट से इंदिरा गाँधी की सरकार अल्पमत में आ गई। बहरहाल, डीएमके और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी समेत कुछ अन्य दलों से प्राप्त मुद्दा आधारित समर्थन के बल पर इंदिरा गाँधी की सरकार सत्ता में बनी रही। इस अरसे के दौरान सरकार ने सचेत रूप से अपनी छवि को समाजवादी रंग में पेश किया। इसी दौर में इंदिरा गाँधी ने भूमि सुधार के मौजूदा कानूनों के क्रियान्वयन के लिए ज़बरदस्त अभियान चलाया। उन्होंने भू-परिसीमन के कुछ और कानून भी बनवाए। दूसरे राजनीतिक दलों पर अपनी निर्भरता समाप्त करने, संसद में अपनी पार्टी की स्थिति मज़बूत करने और अपने कार्यक्रमों के पक्ष में जनादेश हासिल करने की गरज से इंदिरा गाँधी की सरकार ने 1970 के दिसंबर में लोकसभा भंग करने की सिफ़ारिश की। यह भी एक आश्चर्यजनक और साहसिक कदम था। लोकसभा के लिए पाँचवें आम चुनाव 1971 के फ़रवरी माह में हुए।

मुकाबला

चुनावी मुकाबला कांग्रेस (आर) के विपरीत जान पड़ रहा था। आखिर नयी कांग्रेस एक जर्जर होती हुई पार्टी का हिस्सा भर थी। हर किसी को विश्वास था कि कांग्रेस पार्टी की असली सांगठनिक ताकत कांग्रेस (ओ) के नियंत्रण में है। इसके अतिरिक्त, सभी बड़ी गैर-साम्यवादी और गैर-कांग्रेसी विपक्षी पार्टियों ने एक चुनावी गठबंधन बना लिया था। इसे 'ग्रैंड अलायंस' कहा गया। इससे इंदिरा गाँधी के लिए स्थिति और कठिन हो गई। एसएसपी, पीएसपी, भारतीय जनसंघ, स्वतंत्र पार्टी और भारतीय क्रांतिदल, चुनाव में एक छतरी के नीचे आ गए। शासक दल ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के साथ गठजोड़ किया।

'गरीबी हटाओ' का नारा तो अब से लगभग चालीस साल पहले दिया गया था। क्या यह नारा महज चुनावी छलावा था?

इसके बावजूद नयी कांग्रेस के साथ एक ऐसी बात थी, जिसका उसके बड़े विपक्षियों के पास अभाव था। नयी कांग्रेस के पास एक मुद्दा था; एक अजेंडा और कार्यक्रम था। 'ग्रैंड अलायंस' के पास कोई सुसंगत राजनीतिक कार्यक्रम नहीं था। इंदिरा गाँधी ने देश भर में घूम-घूम कर कहा कि विपक्षी गठबंधन के पास बस एक ही कार्यक्रम है : इंदिरा हटाओ। इसके विपरीत उन्होंने लोगों के सामने एक सकारात्मक कार्यक्रम रखा और इसे अपने मशहूर नारे 'गरीबी हटाओ' के ज़रिए एक शक्ल प्रदान किया। इंदिरा गाँधी ने सार्वजनिक क्षेत्र की संवृद्धि, ग्रामीण भू-स्वामित्व और शहरी संपदा के परिसीमन, आय और अवसरों की असमानता की समाप्ति तथा 'प्रिवी पर्स' की समाप्ति पर अपने चुनाव अभियान में ज़ोर दिया। 'गरीबी हटाओ' के नारे से इंदिरा गाँधी ने वंचित तबकों खासकर भूमिहीन किसान, दलित और आदिवासी, अल्पसंख्यक, महिला और बेरोज़गार नौजवानों के बीच अपने समर्थन का आधार तैयार करने की कोशिश की। 'गरीबी हटाओ' का नारा और इससे जुड़ा हुआ कार्यक्रम इंदिरा गाँधी की राजनीतिक रणनीति थी। इसके सहारे वे अपने लिए देशव्यापी राजनीतिक समर्थन की बुनियाद तैयार करना चाहती थीं।

© NCERT not to be republished

परिणाम और उसके बाद...

1971 के लोकसभा चुनावों के नतीजे उतने ही नाटकीय थे, जितना इन चुनावों को करवाने का फ़ैसला। कांग्रेस (आर) और सीपीआई के गठबंधन को इस बार जितने वोट या सीटें मिलीं, उतनी कांग्रेस पिछले चार आम चुनावों में कभी हासिल न कर सकी थी। इस गठबंधन को लोकसभा की 375 सीटें मिलीं और इसने कुल 48.4 प्रतिशत वोट हासिल किए। अकेले इंदिरा गाँधी की कांग्रेस (आर) ने 352 सीटें और 44 प्रतिशत वोट हासिल किए थे। अब ज़रा इस तसवीर की तुलना कांग्रेस (ओ) के उजाड़ से करें: इस पार्टी में बड़े-बड़े महारथी थे, लेकिन इंदिरा गाँधी की पार्टी को जितने वोट मिले थे, उसके एक-चौथाई वोट ही इसकी झोली में आए। इस पार्टी को महज़ 16 सीटें मिलीं। अपनी भारी-भरकम जीत के साथ इंदिरा गाँधी की अगुवाई वाली कांग्रेस ने अपने दावे को साबित कर दिया कि वही 'असली कांग्रेस' है और उसे भारतीय राजनीति में फिर से प्रभुत्व के स्थान पर पुनर्स्थापित किया। विपक्षी 'ग्रैंड अलायंस' धराशायी हो गया था। इस 'महाजोट' को 40 से भी कम सीटें मिली थीं।

साभार: आर के लक्ष्मण द टाइम्स ऑफ इंडिया

'द ग्रैंड फिनिश' नामक कार्टून में 1971 के आम चुनाव के परिणामों पर टिप्पणी की गई है। पराजित खिलाड़ियों के रूप में उस समय के प्रमुख विपक्षी नेताओं को दिखाया गया है।

साभार आर.के. लक्ष्मण, द टाइम्स ऑफ़ इंडिया

1971 के आमचुनाव की जीत में अनेक चुनौतियाँ और समस्याएँ भी छुपी थीं।

1971 के लोकसभा चुनावों के तुरंत बाद पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्लादेश) में एक बड़ा राजनीतिक और सैन्य संकट उठ खड़ा हुआ। चौथे अध्याय में आप पढ़ चुके हैं कि 1971 के चुनावों के बाद पूर्वी पाकिस्तान में संकट पैदा हुआ और भारत-पाक के बीच युद्ध छिड़ गया। इसके परिणामस्वरूप बांग्लादेश बना। इन घटनाओं से इंदिरा गाँधी की लोकप्रियता में चार चाँद लग गए। विपक्ष के नेताओं तक ने उसके राज्यकौशल की प्रशंसा की। 1972 के राज्य विधानसभा के चुनावों में उनकी पार्टी को व्यापक सफलता मिली। उन्हें गरीबों और वंचितों के रक्षक और एक मज़बूत राष्ट्रवादी नेता के रूप में देखा गया। पार्टी के अंदर अथवा बाहर उसके विरोध की कोई गुंजाइश न बची।

कांग्रेस लोकसभा के चुनावों में जीती थी और राज्य स्तर के चुनावों में भी। इन दो लगातार जीतों के साथ कांग्रेस का दबदबा एक बार फिर कायम हुआ। कांग्रेस अब लगभग सभी राज्यों में सत्ता में थी। समाज के विभिन्न वर्गों में यह लोकप्रिय भी थी। महज चार साल की अवधि में इंदिरा गाँधी ने अपने नेतृत्व और कांग्रेस पार्टी के प्रभुत्व के सामने खड़ी चुनौतियों को धूल चटा दी थी।

साभार: कुट्टी

मुख्यमंत्री चुनने की इंदिरा गाँधी की शैली पर एक कार्टूनिस्ट की टिप्पणी

कांग्रेस प्रणाली का पुनर्स्थापन?

बहरहाल कांग्रेस प्रणाली के पुनर्स्थापन का क्या मतलब निकलता है? इंदिरा गाँधी ने जो कुछ किया, वह पुरानी कांग्रेस को पुनर्जीवित करने का काम नहीं था। कई मामलों में यह पार्टी इंदिरा गाँधी के हाथों नयी तर्ज़ पर बनी थी। इस पार्टी को लोकप्रियता के लिहाज से वही स्थान प्राप्त था, जो उसे शुरुआती दौर में हासिल था, लेकिन यह अलग किस्म की पार्टी थी। यह पार्टी पूर्णतया अपने सर्वोच्च नेता की लोकप्रियता पर आश्रित थी। इस पार्टी का सांगठनिक ढाँचा भी अपेक्षाकृत कमज़ोर था। इस कांग्रेस पार्टी के भीतर कई गुट नहीं थे, यानी अब वह विभिन्न मतों और हितों को एक साथ लेकर चलने वाली पार्टी नहीं थी। इस पार्टी ने चुनाव जीते, लेकिन इस जीत के लिए पार्टी कुछ सामाजिक वर्गों जैसे गरीब, महिला, दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यकों पर ज़्यादा निर्भर थी। जो कांग्रेस उभरकर सामने आई, वह एकदम नयी कांग्रेस थी। इंदिरा गाँधी ने कांग्रेस प्रणाली को पुनर्स्थापित ज़रूर किया, लेकिन कांग्रेस-प्रणाली की प्रकृति को बदलकर।

कांग्रेस प्रणाली के भीतर हर तनाव और संघर्ष को पचा लेने की क्षमता थी। कांग्रेस प्रणाली को इसी खासियत के कारण जाना जाता था, लेकिन नयी कांग्रेस ज़्यादा लोकप्रिय होने के बावजूद इस क्षमता से हीन थी। कांग्रेस ने अपनी पकड़ मज़बूत की और इंदिरा गाँधी की राजनीतिक हैसियत अप्रत्याशित रूप से बढ़ी, लेकिन जनता की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति की लोकतांत्रिक ज़मीन छोटी पड़ती गई। विकास और आर्थिक बदहाली के मुद्दों पर जनाक्रोश तथा लामबंदी लगातार बढ़ती रही। अगले अध्याय में आप पढ़ेंगे कि कैसे इन बातों से एक राजनीतिक संकट उठ खड़ा हुआ और जिससे देश के संवैधानिक लोकतंत्र के अस्तित्व पर ही खतरा मँडराने लगा था।

सिने-संसार

ज़ंजीर

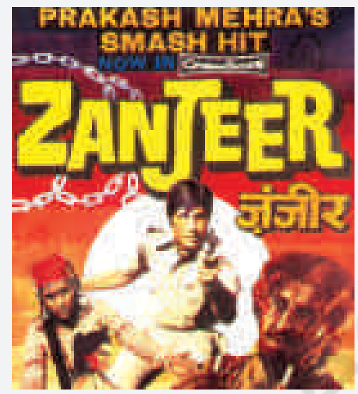

विजय एक नौजवान पुलिस अधिकारी है। वह गुंडागर्दी खत्म करना चाहता है, लेकिन उसे झूठे आरोप लगाकर जेल भेज दिया जाता है। जेल से बाहर आने पर विजय दोषी लोगों से प्रतिशोध लेने की ठानता है। उसे कई संकटों का सामना करना पड़ता है, लेकिन अंततः वह खलनायक और उसके साथियों को सबक सिखाकर ही रहता है। व्यवस्था के भीतर ही कई लोग ऐसे हैं, जो विजय को समाजविरोधी तत्त्वों से लड़ने में मदद पहुँचाते हैं। इस फ़िल्म में नैतिक मूल्यों के पतन और उससे उपजी कुंठा को बहुत प्रभावशाली ढंग से दिखाया गया है। फ़िल्म के नायक विजय का गुस्सा और क्षोभ व्यवस्था की लाचारी को गहराई से चित्रित करता है।

'ज़ंजीर' के साथ सातवें दशक में एक नए तरह के गुस्सैल नौजवान नायक का जन्म हुआ।

वर्ष : 1973
निर्देशक : प्रकाश मेहरा
पटकथा : जावेद अख्तर
अभिनय : अमिताभ बच्चन, अजित, जया भादुड़ी, प्राण

© NCERT not to be republished

प्रश्नावली

1. 1967 के चुनावों के बारे में निम्नलिखित में कौन-कौन से बयान सही हैं:
   (क) कांग्रेस लोकसभा के चुनाव में विजयी रही, लेकिन कई राज्यों में विधानसभा के चुनाव वह हार गई।
   (ख) कांग्रेस लोकसभा के चुनाव भी हारी और विधानसभा के भी।
   (ग) कांग्रेस को लोकसभा में बहुमत नहीं मिला, लेकिन उसने दूसरी पार्टियों के समर्थन से एक गठबंधन सरकार बनाई।
   (घ) कांग्रेस केंद्र में सत्तासीन रही और उसका बहुमत भी बढ़ा।

2. निम्नलिखित का मेल करें :

(क) सिंडिकेट	(i) कोई निर्वाचित जन-प्रतिनिधि जिस पार्टी के टिकट से जीता हो, उस पार्टी को छोड़कर अगर दूसरे दल में चला जाए।
(ख) दल-बदल	(ii) लोगों का ध्यान आकर्षित करने वाला एक मनभावन मुहावरा।
(ग) नारा	(iii) कांग्रेस और इसकी नीतियों के खिलाफ़ अलग-अलग विचारधाराओं की पार्टियों का एकजुट होना।
(घ) गैर-कांग्रेसवाद	(iv) कांग्रेस के भीतर ताकतवर और प्रभावशाली नेताओं का एक समूह।

3. निम्नलिखित नारे से किन नेताओं का संबंध है:
   (क) जय जवान, जय किसान
   (ख) इंदिरा हटाओ!
   (ग) गरीबी हटाओ!

4. 1971 के 'ग्रैंड अलायंस' के बारे में कौन-सा कथन ठीक है?
   (क) इसका गठन गैर-कम्युनिस्ट और गैर-कांग्रेसी दलों ने किया था।
   (ख) इसके पास एक स्पष्ट राजनीतिक तथा विचारधारात्मक कार्यक्रम था।
   (ग) इसका गठन सभी गैर-कांग्रेसी दलों ने एकजुट होकर किया था।

5. किसी राजनीतिक दल को अपने अंदरूनी मतभेदों का समाधान किस तरह करना चाहिए? यहाँ कुछ समाधान दिए गए हैं। प्रत्येक पर विचार कीजिए और उसके सामने उसके फ़ायदों और घाटों को लिखिए।
   (क) पार्टी के अध्यक्ष द्वारा बताए गए मार्ग पर चलना।
   (ख) पार्टी के भीतर बहुमत की राय पर अमल करना।
   (ग) हरेक मामले पर गुप्त मतदान कराना।
   (घ) पार्टी के वरिष्ठ और अनुभवी नेताओं से सलाह करना।

© NCERT not to be republished

6. निम्नलिखित में से किसे/किन्हें 1967 के चुनावों में कांग्रेस की हार के कारण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है? अपने उत्तर की पुष्टि में तर्क दीजिए:
   (क) कांग्रेस पार्टी में करिश्माई नेता का अभाव।
   (ख) कांग्रेस पार्टी के भीतर टूट।
   (ग) क्षेत्रीय, जातीय और सांप्रदायिक समूहों की लामबंदी को बढ़ाना।
   (घ) गैर-कांग्रेसी दलों के बीच एकजुटता।
   (ङ) कांग्रेस पार्टी के अंदर मतभेद।
7. 1970 के दशक में इंदिरा गाँधी की सरकार किन कारणों से लोकप्रिय हुई थी?
8. 1960 के दशक की कांग्रेस पार्टी के संदर्भ में 'सिंडिकेट' का क्या अर्थ है? सिंडिकेट ने कांग्रेस पार्टी में क्या भूमिका निभाई?
9. कांग्रेस पार्टी किन मसलों को लेकर 1969 में टूट की शिकार हुई?
10. निम्नलिखित अनुच्छेद को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें:

   इंदिरा गाँधी ने कांग्रेस को अत्यंत केंद्रीकृत और अलोकतांत्रिक पार्टी संगठन में तब्दील कर दिया, जबकि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस शुरुआती दशकों में एक संघीय, लोकतांत्रिक और विचारधाराओं के समाहार का मंच थी। नयी और लोकलुभावन राजनीति ने राजनीतिक विचारधारा को महज चुनावी विमर्श में बदल दिया। कई नारे उछाले गए, लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि उसी के अनुकूल सरकार की नीतियाँ भी बनानी थीं–1970 के दशक के शुरुआती सालों में अपनी बड़ी चुनावी जीत के जश्न के बीच कांग्रेस एक राजनीतिक संगठन के तौर पर मर गई।

   – सुदीप्त कविराज

   (क) लेखक के अनुसार नेहरू और इंदिरा गाँधी द्वारा अपनाई गई रणनीतियों में क्या अंतर था?
   (ख) लेखक ने क्यों कहा है कि सत्तर के दशक में कांग्रेस 'मर गई'?
   (ग) कांग्रेस पार्टी में आए बदलावों का असर दूसरी पार्टियों पर किस तरह पड़ा?

खुद करें-खुद सीखें

- राजनीतिक दलों द्वारा गढ़े गए नारों की एक सूची बनाएँ।
- क्या आपको लगता है कि चीज़ों के विज्ञापन और राजनीतिक दलों के नारे, घोषणापत्र तथा विज्ञापनों में कोई समानता है?
- मँहगाई राजनीतिक दलों की नीतियों पर क्या प्रभाव डालती है? इस पर चर्चा कीजिए।

© NCERT not to be republished

27 जून, 1975 के 'नई दुनिया' अखबार का संपादकीय भी बाकी दिनों की ही तरह बदस्तूर मौजूद था। बस अंतर यह था कि 'संपादकीय' की जगह खाली छोड़ दी गई थी। संपादकीय को आपातकालीन अधिकारों के अंतर्गत 'सेंसर' कर दिया गया था। कई अन्य अखबारों में भी जगह-जगह रिक्त स्थान छोड़े जाते थे। कई दफे ऐसा आपातकाल के प्रति विरोध जताने के लिए किया जाता था। बाद में खाली जगह छोड़ने पर भी पाबंदी लगा दी गई।

इस अध्याय में...

हम देख चुके हैं कि 1971 के बाद कांग्रेस को नवजीवन मिला लेकिन इस पार्टी में अब पहले वाली बात नहीं रही। कांग्रेस पार्टी अब बदल चुकी थी। 1973 से 1975 के बीच घटी घटनाओं से यह अंतर और भी ज़्यादा स्पष्ट हो गया। इन घटनाओं से भारत की लोकतांत्रिक राजनीति और संविधान निर्देशित सांस्थानिक संतुलन को नयी चुनौतियों ने घेरा। 1973 से 1975 के बीच आए बदलावों की परिणति देश में 'आपातकाल' लागू करने के रूप में हुई। 1975 के जून माह में देश में आपातकाल की घोषणा कर दी गई। आमतौर पर आपातकाल से हमारे मन में युद्ध और आक्रमण अथवा प्राकृतिक आपदा की तसवीर कौंधती है लेकिन अपने देश में आपातकाल की यह घोषणा अंदरूनी गड़बड़ियों की आशंका के मद्देनजर की गई थी। आपातकाल की घोषणा जिस नाटकीय रूप में हुई थी उसी अंदाज़ में इसका खात्मा भी हुआ। आपातकाल की घोषणा के कारण 1977 के लोकसभा चुनावों में कांग्रेस हार गई।

इस अध्याय में हम अपना ध्यान भारतीय लोकतंत्र के इतिहास के इसी निर्णायक दौर पर केंद्रित करेंगे। साथ ही हम कुछ ऐसे सवाल पूछेंगे जो सालों गुज़रने के बाद भी विवादास्पद बने रहे, जैसे–

- आपातकाल क्यों लागू किया गया? क्या ऐसा करना ज़रूरी था?
- आपातकाल लागू करने का व्यावहारिक अर्थ क्या था?
- दलगत राजनीति के लिहाज से आपातकाल के क्या परिणाम हुए?
- आपातकाल से भारतीय लोकतंत्र ने क्या सबक सीखे?

अध्याय 6

लोकतांत्रिक व्यवस्था का संकट

12122CH06

आपातकाल की पृष्ठभूमि

1967 के बाद से भारतीय राजनीति में जो बदलाव आ रहे थे उनके बारे में हम पहले ही पढ़ चुके हैं। इंदिरा गाँधी एक कद्दावर नेता के रूप में उभरी थीं और उनकी लोकप्रियता अपने चरम पर थी। इस दौर में दलगत प्रतिस्पर्धा कहीं ज़्यादा तीखी और ध्रुवीकृत हो चली थी। इस अवधि में न्यायपालिका और सरकार के आपसी रिश्तों में भी तनाव आए। सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार की कई पहलकदमियों को संविधान के विरुद्ध माना। कांग्रेस पार्टी का मानना था कि अदालत का यह रवैया लोकतंत्र के सिद्धांतों और संसद की सर्वोच्चता के विरुद्ध है। कांग्रेस ने यह आरोप भी लगाया कि अदालत एक यथास्थितिवादी संस्था है और यह संस्था गरीबों को लाभ पहुँचाने वाले कल्याण-कार्यक्रमों को लागू करने की राह में रोड़े अटका रही है। कांग्रेस के विपक्ष में जो दल थे, उन्हें लग रहा था कि सरकारी प्राधिकार को निजी प्राधिकार मानकर इस्तेमाल किया जा रहा है और राजनीति हद से ज़्यादा व्यक्तिगत होती जा रही है। कांग्रेस की टूट से इंदिरा गाँधी और उनके विरोधियों के बीच मतभेद गहरे हो गए थे।

आर्थिक संदर्भ

1971 के चुनाव में कांग्रेस ने 'गरीबी हटाओ' का नारा दिया था। बहरहाल 1971-72 के बाद के सालों में भी देश की सामाजिक-आर्थिक दशा में खास सुधार नहीं हुआ। बांग्लादेश के संकट से भारत की अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ पड़ा था। लगभग 80 लाख लोग पूर्वी पाकिस्तान की सीमा पार करके भारत आ गए थे। इसके बाद पाकिस्तान से युद्ध भी करना पड़ा। युद्ध के बाद अमरीका ने भारत को हर तरह की सहायता देना बंद कर दिया। इसी अवधि में अंतर्राष्ट्रीय बाजार में तेल की कीमतों में कई गुना बढ़ोतरी हुई। इससे विभिन्न चीज़ों की कीमतें भी तेज़ी से बढ़ीं। 1973 में चीज़ों की कीमतों में 23 फीसदी और 1974 में 30 फीसदी का इज़ाफ़ा हुआ। इस तीव्र मूल्यवृद्धि से लोगों को भारी कठिनाई हुई।

अच्छा तो यही होता कि 1973 का यह साल जितनी जल्दी हो सके, बीत जाता।

औद्योगिक विकास की दर बहुत कम थी और बेरोज़गारी बहुत बढ़ गई थी। ग्रामीण इलाकों में बेरोज़गारी बेतहाशा बढ़ी थी। खर्च को कम करने के लिए सरकार ने अपने कर्मचारियों के वेतन को रोक लिया। इससे सरकारी कर्मचारियों में बहुत असंतोष पनपा। 1972-73 के वर्ष में मानसून असफल रहा। इससे कृषि की पैदावार में भारी गिरावट आई। खाद्यान्न का उत्पादन 8 प्रतिशत कम हो गया। आर्थिक स्थिति की बदहाली को लेकर पूरे देश में असंतोष का माहौल था। इस स्थिति में गैर-कांग्रेसी पार्टियों ने बड़े कारगर तरीके से जन-विरोध की अगुवाई की। 1960 के दशक से ही छात्रों के बीच विरोध के स्वर उठने लगे थे। ये स्वर इस अवधि में और ज़्यादा

© NCERT not to be republished

प्रबल हो उठे। संसदीय राजनीति में विश्वास न रखने वाले कुछ मार्क्सवादी समूहों की सक्रियता भी इस अवधि में बढ़ी। इन समूहों ने मौजूदा राजनीतिक प्रणाली और पूँजीवादी व्यवस्था को खत्म करने के लिए हथियार उठाया तथा राज्यविरोधी तकनीकों का सहारा लिया। ये समूह मार्क्सवादी-लेनिनवादी (अब माओवादी) अथवा नक्सलवादी के नाम से जाने गए। ऐसे समूह पश्चिम बंगाल में सबसे ज़्यादा सक्रिय थे। पश्चिम बंगाल की सरकार ने इन्हें दबाने के लिए कठोर कदम उठाए।

गरीब जनता पर सचमुच भारी मुसीबत आई होगी। आखिर गरीबी हटाओ के वादे का हुआ क्या?

गुजरात और बिहार के आंदोलन

गुजरात और बिहार दोनों ही राज्यों में कांग्रेस की सरकार थी। यहाँ के छात्र-आंदोलन ने इन दोनों प्रदेशों की राजनीति पर गहरा असर तो डाला ही, राष्ट्रीय स्तर की राजनीति पर भी इसके दूरगामी प्रभाव हुए। 1974 के जनवरी माह में गुजरात के छात्रों ने खाद्यान्न, खाद्य तेल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की बढ़ती हुई कीमत तथा उच्च पदों पर जारी भ्रष्टाचार के खिलाफ़ आंदोलन छेड़ दिया। छात्र-आंदोलन में बड़ी राजनीतिक पार्टियाँ भी शरीक हो गईं और इस आंदोलन ने विकराल रूप धारण कर लिया। ऐसे में गुजरात में राष्ट्रपति शासन लगा दिया गया। विपक्षी दलों ने राज्य की विधानसभा के लिए दोबारा चुनाव कराने की माँग की। कांग्रेस (ओ) के प्रमुख नेता मोरारजी देसाई ने कहा कि अगर राज्य में नए सिरे से चुनाव नहीं करवाए गए तो मैं अनिश्चितकालीन भूख-हड़ताल पर बैठ जाऊँगा। मोरारजी अपने कांग्रेस के दिनों में इंदिरा गाँधी के मुख्य विरोधी रहे थे। विपक्षी दलों द्वारा समर्थित छात्र-आंदोलन के गहरे दबाव में 1975 के जून में विधानसभा के चुनाव हुए। कांग्रेस इस चुनाव में हार गई।

“*सम्पूर्ण क्रांति अब नारा है भावी इतिहास हमारा है!*”

1974 के बिहार आंदोलन का एक नारा

1974 के मार्च माह में बढ़ती हुई कीमतों, खाद्यान्न के अभाव, बेरोज़गारी और भ्रष्टाचार के खिलाफ़ बिहार में छात्रों ने आंदोलन छेड़ दिया। आंदोलन के क्रम में उन्होंने जयप्रकाश नारायण (जेपी) को बुलावा भेजा। जेपी तब सक्रिय राजनीति छोड़ चुके थे और सामाजिक कार्यों में लगे हुए थे। छात्रों ने अपने आंदोलन की अगुवाई के लिए जयप्रकाश नारायण को बुलावा भेजा था। जेपी ने छात्रों का निमंत्रण इस शर्त पर स्वीकार किया कि आंदोलन अहिंसक रहेगा और अपने को सिर्फ़ बिहार तक सीमित नहीं रखेगा। इस प्रकार छात्र-आंदोलन ने एक राजनीतिक चरित्र ग्रहण किया और उसके भीतर राष्ट्रव्यापी अपील आई। जीवन के हर क्षेत्र के लोग अब आंदोलन से आ जुड़े। जयप्रकाश नारायण ने बिहार की कांग्रेस सरकार को बर्खास्त करने की माँग की। उन्होंने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दायरे में 'सम्पूर्ण क्रांति' का आह्वान किया ताकि उन्हीं के शब्दों में 'सच्चे लोकतंत्र' की स्थापना की जा सके। बिहार की सरकार के खिलाफ़ लगातार घेराव, बंद और हड़ताल का एक सिलसिला चल पड़ा। बहरहाल, सरकार ने इस्तीफ़ा देने से इनकार कर दिया।

आंदोलन का प्रभाव राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ना शुरू हुआ। जयप्रकाश नारायण चाहते थे कि यह आंदोलन देश के दूसरे हिस्सों में भी फैले। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चल रहे आंदोलन के साथ ही साथ रेलवे के कर्मचारियों ने भी एक राष्ट्रव्यापी हड़ताल का आह्वान किया। इससे देश के रोज़मर्रा के कामकाज के ठप्प हो

“*इंदिरा इज़ इंडिया, इंडिया इज़ इंदिरा*”

कांग्रेस अध्यक्ष डी.के. बरुआ (1974) ने यह नारा दिया था।

© NCERT not to be republished

नक्सलवादी आंदोलन

पश्चिम बंगाल के पर्वतीय ज़िले दार्जिलिंग के नक्सलबाड़ी पुलिस थाने के इलाके में 1967 में एक किसान विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इस विद्रोह की अगुवाई मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के स्थानीय कॉडर के लोग कर रहे थे। नक्सलबाड़ी पुलिस थाने से शुरू होने वाला यह आंदोलन भारत के कई राज्यों में फैल गया। इस आंदोलन को नक्सलवादी आंदोलन के रूप में जाना जाता है। 1969 में नक्सलवादी सीपीआई (एम) से अलग हो गए और इन्होंने सीपीआई (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) नाम से एक नयी पार्टी चारु मजूमदार के नेतृत्व में बनायी। इस पार्टी की दलील थी कि भारत में लोकतंत्र एक छलावा है। इस पार्टी ने क्रांति करने के लिए गुरिल्ला युद्ध की रणनीति अपनायी।

नक्सलवादी आंदोलन ने धनी भूस्वामियों से बलपूर्वक ज़मीन छीनकर गरीब और भूमिहीन लोगों को दी। इस आंदोलन के समर्थक अपने राजनीतिक लक्ष्यों को हासिल करने के लिए हिंसक साधनों के इस्तेमाल के पक्ष में दलील देते थे। इस वक्त कांग्रेस-शासित पश्चिम बंगाल सरकार ने निरोधक नज़रबंदी समेत कई कड़े कदम उठाए, लेकिन नक्सलवादी आंदोलन रुक न सका। बाद के सालों में यह देश के कई अन्य भागों में फैल गया। नक्सलवादी आंदोलन अब कई दलों और संगठनों में बँट चुका था। इन दलों में से कुछ जैसे सीपीआई (एमएल-लिबरेशन) खुली लोकतांत्रिक राजनीति में भागीदारी करते हैं।

नक्सलवाद की पृष्ठभूमि पर अनेक फिल्में भी बनी हैं। महाश्वेता देवी के उपन्यास पर आधारित 'हजार चौरासी की माँ' ऐसी ही एक फिल्म है।

फिलहाल 9 राज्यों के लगभग 75 जिले नक्सलवादी हिंसा से प्रभावित हैं। इनमें अधिकतर बहुत पिछड़े इलाके हैं और यहाँ आदिवासियों की जनसंख्या ज्यादा है। इन इलाकों में बँटाई या पट्टे पर खेतीबाड़ी करने वाले तथा छोटे किसान उपज में हिस्से, पट्टे की सुनिश्चित अवधि और उचित मज़दूरी जैसे अपने बुनियादी हकों से भी वंचित हैं। जबरिया मज़दूरी, बाहरी लोगों द्वारा संसाधनों का दोहन तथा सूदखोरों द्वारा शोषण भी इन इलाकों में आम बात है। इन स्थितियों से नक्सलवादी आंदोलन में बढ़ोतरी हुई है।

चारु मजूमदार (1918-1972): कम्युनिस्ट क्रांतिकारी और नक्सलवादी बगावत के नेता; आज़ादी से पहले तेभागा आंदोलन में भागीदारी; सीपीआई छोड़ी और कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) की स्थापना; किसान विद्रोह के माओवादी पंथ में विश्वास; क्रांतिकारी हिंसा के समर्थक; पुलिस हिरासत में मौत।

सरकार ने नक्सलवादी आंदोलन से निपटने के लिए कड़े कदम उठाए हैं। मानवाधिकार समूहों ने सरकार के इन कदमों की आलोचना करते हुए कहा है कि वह नक्सलवादियों से निपटने के क्रम में संवैधानिक मानकों का उल्लंघन कर रही है। नक्सलवादी हिंसा और नक्सल विरोधी सरकारी कार्रवाई में हज़ारों लोग अपनी जान गँवा चुके हैं।

साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ इंडिया, 16 अप्रैल 1974

लोकनायक जयप्रकाश नारायण (जेपी) (1902-1979) : युवावस्था में मार्क्सवादी; कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी के संस्थापक महासचिव; 1942 के भारत-छोड़ो आंदोलन के नायक; नेहरू के उत्तराधिकारी के रूप में देखे गए; नेहरू मंत्रिमंडल में शामिल होने से इनकार; 1955 के बाद सक्रिय राजनीति छोड़ी; गाँधीवादी बनने के बाद भूदान आंदोलन में सक्रिय; नगा विद्रोहियों से सुलह की बातचीत की; कश्मीर में शांति प्रयास किए; चंबल के डकैतों से आत्मसमर्पण कराया; बिहार आंदोलन के नेता; आपातकाल के विरोध के प्रतीक बन गए थे; जनता पार्टी के गठन के प्रेरणास्रोत।

जाने का खतरा पैदा हो गया। 1975 में जेपी ने जनता के 'संसद-मार्च' का नेतृत्व किया। देश की राजधानी में अब तक इतनी बड़ी रैली नहीं हुई थी। जयप्रकाश नारायण को अब भारतीय जनसंघ, कांग्रेस (ओ), भारतीय लोकदल, सोशलिस्ट पार्टी जैसे गैर-कांग्रेसी दलों का समर्थन मिला। इन दलों ने जेपी को इंदिरा गाँधी के विकल्प के रूप में पेश किया। बहरहाल जेपी के विचारों और उनके द्वारा अपनायी गई जन-प्रतिरोध की रणनीति की आलोचनाएँ भी मुखर हुईं। गुजरात और बिहार, दोनों ही राज्यों के आंदोलन को कांग्रेस विरोधी आंदोलन माना गया। कहा गया कि ये आंदोलन राज्य सरकार के खिलाफ़ नहीं बल्कि इंदिरा गाँधी के नेतृत्व के खिलाफ़ चलाए गए हैं। इंदिरा गाँधी का मानना था कि ये आंदोलन उनके प्रति व्यक्तिगत विरोध से प्रेरित हैं।

© NCERT not to be republished

न्यायपालिका से संघर्ष

न्यायपालिका के साथ इस दौर में सरकार और शासक दल के गहरे मतभेद पैदा हुए। क्या आपको संसद और न्यायपालिका के बीच चले लंबे संघर्ष की चर्चा याद है? इसके बारे में आपने पिछले साल पढ़ा था। इस क्रम में तीन संवैधानिक मसले उठे थे: क्या संसद मौलिक अधिकारों में कटौती कर सकती है? सर्वोच्च न्यायालय का जवाब था कि संसद ऐसा नहीं कर सकती। दूसरा यह कि क्या संसद संविधान में संशोधन करके संपत्ति के अधिकार में काट-छाँट कर सकती है? इस मसले पर भी सर्वोच्च न्यायालय का यही कहना था कि सरकार, संविधान में इस तरह संशोधन नहीं कर सकती कि अधिकारों की कटौती हो जाए। तीसरे, संसद ने यह कहते हुए संविधान में संशोधन किया कि वह नीति-निर्देशक सिद्धांतों को प्रभावकारी बनाने के लिए मौलिक अधिकारों में कमी कर सकती है, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने इस प्रावधान को भी निरस्त कर दिया। इससे सरकार और न्यायपालिका के बीच संबंधों में तनाव आया। आपको याद होगा कि इस संकट की परिणति केशवानंद भारती के मशहूर मुकदमे के रूप में सामने आई। इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने फ़ैसला सुनाया कि संविधान का एक बुनियादी ढाँचा है और संसद इन ढाँचागत विशेषताओं में संशोधन नहीं कर सकती है।

1974 की रेल हड़ताल

यदि रेलगाड़ियों का चलना बंद हो जाए तो क्या होगा? एक या दो दिन नहीं, बल्कि हफ़्ते भर से ज़्यादा समय तक रेलगाड़ियाँ न चलें तो? निश्चित ही बहुत-से लोगों का आना-जाना दूभर हो जाएगा, लेकिन बात यहीं तक सीमित नहीं रहेगी। देश की अर्थव्यवस्था ठप्प हो जाएगी, क्योंकि रेलगाड़ियों के माध्यम से ही देश में एक जगह से दूसरी जगह सामानों की ज़्यादातर ढुलाई होती है। क्या आप जानते हैं कि 1974 में ठीक ऐसा ही वाकया पेश आया था? रेलवे कर्मचारियों के संघर्ष से संबंधित राष्ट्रीय समन्वय समिति ने जॉर्ज फर्नान्डिस के नेतृत्व में रेलवे कर्मचारियों की एक राष्ट्रव्यापी हड़ताल का आह्वान किया। बोनस और सेवा से जुड़ी शर्तों के संबंध में अपनी माँगों को लेकर सरकार पर दबाव बनाने के लिए हड़ताल का यह आह्वान किया गया था। सरकार इन माँगों के खिलाफ़ थी। ऐसे में भारत के इस सबसे बड़े सार्वजनिक उद्यम के कर्मचारी 1974 के मई महीने में हड़ताल पर चले गए। रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल से मज़दूरों के असंतोष को बढ़ावा मिला। इस हड़ताल से मज़दूरों के अधिकार जैसे मसले तो उठे ही, यह सवाल भी उठा कि आवश्यक सेवाओं से जुड़े हुए कर्मचारी अपनी माँगों को लेकर हड़ताल कर सकते हैं या नहीं।

सरकार ने इस हड़ताल को अवैधानिक करार दिया। सरकार ने हड़ताली कर्मचारियों की माँगों को मानने से इनकार कर दिया। उसने इसके कई नेताओं को गिरफ़्तार किया और रेल लाइनों की सुरक्षा में सेना को तैनात कर दिया। ऐसे में 20 दिन के बाद यह हड़ताल बगैर किसी समझौते के वापस ले ली गई।

दो और बातों ने न्यायपालिका और कार्यपालिका के संबंधों में तनाव बढ़ाया। 1973 में केशवानंद भारती के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा फ़ैसला सुनाने के तुरंत बाद भारत के मुख्य न्यायाधीश का पद खाली हुआ। सर्वोच्च न्यायालय के सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश को भारत का मुख्य न्यायाधीश बनाने की परिपाटी चली आ रही थी, लेकिन 1973 में सरकार ने तीन

क्या 'प्रतिबद्ध न्यायपालिका' और 'प्रतिबद्ध नौकरशाही' का मतलब यह है कि न्यायाधीश और सरकारी अधिकारी शासक दल के प्रति निष्ठावान हों?

वरिष्ठ न्यायाधीशों की अनदेखी करके न्यायमूर्ति ए.एन. रे को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया। यह निर्णय राजनीतिक रूप से विवादास्पद बन गया क्योंकि सरकार ने जिन तीन न्यायाधीशों की वरिष्ठता की अनदेखी इस मामले में की थी उन्होंने सरकार के इस कदम के विरुद्ध फ़ैसला दिया। ऐसे में संविधान की व्याख्या और राजनीतिक विचारधाराओं का बड़ी तेज़ी से घालमेल हुआ। जो लोग प्रधानमंत्री के नज़दीकी थे वे एक ऐसी 'प्रतिबद्ध' न्यायपालिका तथा नौकरशाही की ज़रूरत के बारे में बातें करने लगे जो विधायिका और कार्यपालिका की सोच के अनुकूल आचरण करे। इस संघर्ष का चरमबिंदु तब आया जब एक उच्च न्यायालय ने इंदिरा गाँधी के निर्वाचन को अवैध घोषित कर दिया।

आपातकाल की घोषणा

12 जून 1975 के दिन इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश जगमोहन लाल सिन्हा ने एक फ़ैसला सुनाया। इस फ़ैसले में उन्होंने लोकसभा के लिए इंदिरा गाँधी के निर्वाचन को अवैधानिक करार दिया। न्यायमूर्ति ने यह फ़ैसला समाजवादी नेता राजनारायण द्वारा दायर एक चुनाव याचिका के मामले में सुनाया था। राजनारायण, इंदिरा गाँधी के खिलाफ़ 1971 में बतौर उम्मीदवार चुनाव में खड़े हुए थे। याचिका में इंदिरा गाँधी के निर्वाचन को चुनौती देते हुए तर्क दिया गया था कि उन्होंने चुनाव-प्रचार में सरकारी कर्मचारियों की सेवाओं का इस्तेमाल किया था। उच्च न्यायालय के इस फ़ैसले का मतलब यह था कि कानूनन अब इंदिरा गाँधी सांसद नहीं रहीं और अगर अगले छह महीने की अवधि में दोबारा सांसद निर्वाचित नहीं होतीं, तो प्रधानमंत्री के पद पर कायम नहीं रह सकतीं। 24 जून 1975 को सर्वोच्च न्यायालय ने उच्च न्यायालय के इस फ़ैसले पर आंशिक स्थगनादेश सुनाते हुए कहा कि जब तक इस फ़ैसले को लेकर की गई अपील की सुनवाई नहीं होती तब तक इंदिरा गाँधी सांसद बनी रहेंगी; लेकिन वे लोकसभा की कार्रवाई में भाग नहीं ले सकती हैं।

संकट और सरकार का फ़ैसला

एक बड़े राजनीतिक संघर्ष के लिए अब मैदान तैयार हो चुका था। जयप्रकाश नारायण की अगुवाई में विपक्षी दलों ने इंदिरा गाँधी के इस्तीफ़े के लिए दबाव डाला। इन दलों ने 25 जून 1975 को दिल्ली के रामलीला मैदान में एक विशाल प्रदर्शन किया। जयप्रकाश नारायण ने इंदिरा गाँधी से इस्तीफ़े की माँग करते हुए राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह की घोषणा की। जेपी ने सेना, पुलिस और सरकारी कर्मचारियों का आह्वान किया कि वे सरकार के अनैतिक और अवैधानिक आदेशों का पालन न करें। इससे भी सरकारी कामकाज के ठप्प हो जाने का अंदेशा पैदा हुआ। देश का राजनीतिक मिजाज़ अब पहले से कहीं ज़्यादा कांग्रेस के खिलाफ़ हो गया।

यह तो सेना से सरकार के खिलाफ़ बगावत करने को कहने जैसा जान पड़ता है! क्या यह बात लोकतांत्रिक है?

सरकार ने इन घटनाओं के मद्देनजर जवाब में 'आपातकाल' की घोषणा कर दी। 25 जून 1975 के दिन सरकार ने घोषणा की कि देश में गड़बड़ी की आशंका है और इस तर्क के साथ उसने संविधान के अनुच्छेद 352 को लागू कर दिया। इस अनुच्छेद के अंतर्गत प्रावधान किया गया है कि बाहरी अथवा अंदरूनी गड़बड़ी की आशंका होने पर सरकार आपातकाल लागू कर सकती है। सरकार का निर्णय था कि गंभीर संकट की घड़ी आन पड़ी है और इस वजह से आपातकाल की घोषणा ज़रूरी हो गई है। तकनीकी रूप से देखें तो ऐसा करना

साभार : आर.के. लक्ष्मण, द टाइम्स ऑफ इंडिया, 26 जून 1975

यह कार्टून आपातकाल की घोषणा के चंद रोज़ पहले छपा था। इसमें मौजूदा राजनीतिक संकट की आहटों को पढ़ा जा सकता है। कुर्सी को पीछे से सहारा देता हाथ कांग्रेस अध्यक्ष डी.के. बरुआ का है।

सरकार की शक्तियों के दायरे में था क्योंकि हमारे संविधान में सरकार को आपातकाल की स्थिति में विशेष शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

आपातकाल की घोषणा के साथ ही शक्तियों के बँटवारे का संघीय ढाँचा व्यावहारिक तौर पर निष्प्रभावी हो जाता है और सारी शक्तियाँ केंद्र सरकार के हाथ में चली आती हैं। दूसरे, सरकार चाहे तो ऐसी स्थिति में किसी एक अथवा सभी मौलिक अधिकारों पर रोक लगा सकती है अथवा उनमें कटौती कर सकती है। संविधान के प्रावधान में आए शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आपातकाल को वहाँ एक असाधारण स्थिति के रूप में देखा गया है जब सामान्य लोकतांत्रिक राजनीति के कामकाज नहीं किए जा सकते। इसी कारण सरकार को आपातकाल की स्थिति में विशेष शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

25 जून 1975 की रात में प्रधानमंत्री ने राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद से आपातकाल लागू करने की सिफारिश की। राष्ट्रपति ने तुरंत यह उद्घोषणा कर दी। आधी रात के बाद सभी बड़े अखबारों के दफ्तर की बिजली काट दी गई। तड़के सबेरे बड़े पैमाने पर विपक्षी दलों के

© NCERT not to be republished

नईदुनिया
अखबारों पर बंदिश लगी, हटी
देश में तानाशाही रोकने के लंबे संघर्ष हेतु तैयार रहें
श्रीमती गांधी को प्रधान
बने रहना
CHIEF SUBS/SUBS:
Message to Chief Sub, Bombay/Ahmedabad, from Chief Sub, Delhi.
The censor rang up to say that the Prime Minister's interview to the correspondent of the "Daily Telegraph" should be sent to him before publication.
September 28, 1975
To Editor/News Editor/Chief Subs/Subs/Reporters:
No news, comments, rumour or other reports relating to the family planning programme should be published without clearance from the Censor.
Chief Editorial, 7/9/1976
11 दिसंबर 1975
SEA PALACE HOTEL
RANSON PAINTS
THE TIMES OF INDIA
STATE OF EMERGENCY DECLARED
Security in peril, says P.M.
CM warns against call
Several leaders arrested
Rights suspended
Be vigilant, states told
Pre-censorship
CHIEF SUBS/SUBS/CHIEF REPORTER/REPORTERS:
Chief Sub, Delhi, to Chief Sub, Bombay/Ahmedabad:
Phone from censor (Mr. Laxmi Chand) : "Only official version of Indo-Pak talks today to be used. No comments or editorials to be written

नया आपात्काल : जयप्रकाश और कई नेता गिरफ्तार
क्या नहीं हुआ
Emergency ensures YOUR Security— and the NATION'S
WORK MORE TALK LESS
प्रधान मन्त्री का क्रान्तिकारी कार्यक्रम आइए, इसे सफल बनाएं
To our readers
The city edition of Friday and dak editions of Friday and Saturday of the Hindustan Times could not be brought out as no power was available from 12-45 p.m. on Thursday till 7-15 p.m. on Friday. The inconvenience is deeply regretted
THE HINDUSTAN TIMES
MRS GANDHI DEFEATED
Janta Party forges ahead in North
Bansi Lal, Sanjay out
NEW DELHI, March 20
We've always practised Compulsory Sterilisation
The night the
didn't sleep
Cong rout in Delhi total
Nightmare over, says Vajpayee

नेताओं और कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी हुई। 26 जून की सुबह 6 बजे एक विशेष बैठक में मंत्रिमंडल को इन बातों की सूचना दी गई, लेकिन तब तक बहुत कुछ हो चुका था।

परिणाम

सरकार के इस फ़ैसले से विरोध-आंदोलन एकबारगी रुक गया; हड़तालों पर रोक लगा दी गई। अनेक विपक्षी नेताओं को जेल में डाल दिया गया। राजनीतिक माहौल में तनाव भरा एक गहरा सन्नाटा छा गया। आपातकालीन प्रावधानों के अंतर्गत प्राप्त अपनी शक्तियों पर अमल करते हुए सरकार ने प्रेस की आज़ादी पर रोक लगा दी। समाचारपत्रों को कहा गया कि कुछ भी छापने से पहले अनुमति लेना जरूरी है। इसे प्रेस सेंसरशिप के नाम से जाना जाता है। सामाजिक और सांप्रदायिक गड़बड़ी की आशंका के मद्देनजर सरकार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) और जमात-ए-इस्लामी पर प्रतिबंध लगा दिया। धरना, प्रदर्शन और हड़ताल की भी अनुमति नहीं थी। सबसे बड़ी बात यह हुई कि आपातकालीन प्रावधानों के अंतर्गत नागरिकों के विभिन्न मौलिक अधिकार निष्प्रभावी हो गए। उनके पास अब यह अधिकार भी नहीं रहा कि मौलिक अधिकारों की बहाली के लिए अदालत का दरवाज़ा खटखटाएँ।

सरकार ने निवारक नज़रबंदी का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया। इस प्रावधान के अंतर्गत लोगों को गिरफ़्तार इसलिए नहीं किया जाता कि उन्होंने कोई अपराध किया है बल्कि इसके विपरीत, इस प्रावधान के अंतर्गत लोगों को इस आशंका से गिरफ्तार किया जाता है कि वे कोई अपराध कर सकते हैं। सरकार ने आपातकाल के दौरान निवारक नज़रबंदी अधिनियमों का प्रयोग करके बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ कीं। जिन राजनीतिक कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार किया गया। वे बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका का सहारा लेकर अपनी गिरफ्तारी को चुनौती भी नहीं दे सकते थे। गिरफ्तार लोगों अथवा उनके पक्ष से किन्हीं और ने उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय में कई मामले दायर किए, लेकिन सरकार का कहना था कि गिरफ्तार लोगों को गिरफ्तारी का कारण बताना कतई ज़रूरी नहीं है। अनेक उच्च न्यायालयों ने फ़ैसला दिया कि आपातकाल की घोषणा के बावजूद अदालत किसी व्यक्ति द्वारा दायर की गई ऐसी बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका को विचार के लिए स्वीकार कर सकती है जिसमें उसने अपनी गिरफ़्तारी को चुनौती दी हो। 1976 के अप्रैल माह में सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक पीठ ने उच्च न्यायालयों के फ़ैसले को उलट दिया और सरकार की दलील मान ली। इसका आशय यह था कि सरकार आपातकाल के दौरान नागरिक से जीवन और आज़ादी का अधिकार वापस ले सकती है। सर्वोच्च न्यायालय के इस फ़ैसले से नागरिकों के लिए अदालत के दरवाज़े बंद हो गए। इस फ़ैसले को सर्वोच्च न्यायालय के सर्वाधिक विवादास्पद फ़ैसलों में एक माना गया।

आपातकाल की मुखालफत और प्रतिरोध की कई घटनाएँ घटीं। पहली लहर में जो राजनीतिक कार्यकर्ता गिरफ़्तारी से बच गए थे वे 'भूमिगत' हो गए और उन्होंने सरकार के खिलाफ़ मुहिम चलायी। 'इंडियन एक्सप्रेस' और 'स्टेट्समैन' जैसे अखबारों ने प्रेस पर लगी सेंसरशिप का विरोध किया। जिन समाचारों को छापने से रोका जाता था उनकी जगह ये अखबार खाली छोड़ देते थे। 'सेमिनार' और 'मेनस्ट्रीम' जैसी पत्रिकाओं ने सेंसरशिप के आगे घुटने टेकने की जगह बंद होना मुनासिब समझा। सेंसरशिप को धत्ता बताते हुए गुपचुप तरीके से अनेक न्यूज़लेटर और लीफ़लेट्स निकले। पद्मभूषण से सम्मानित कन्नड़ लेखक शिवराम कारंत और पद्मश्री से सम्मानित हिंदी लेखक फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने लोकतंत्र के दमन के

© NCERT not to be republished

विरोध में अपनी-अपनी पदवी लौटा दी। बहरहाल, मुखालफत और प्रतिरोध के इतने प्रकट कदम कुछ ही लोगों ने उठाए।

संसद ने संविधान के सामने कई नयी चुनौतियाँ खड़ी कीं। इंदिरा गाँधी के मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फ़ैसले की पृष्ठभूमि में संविधान में संशोधन हुआ। इस संशोधन के द्वारा प्रावधान किया गया कि प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति पद के निर्वाचन को अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती। आपातकाल के दौरान ही संविधान का 42वाँ संशोधन पारित हुआ। आप पढ़ चुके हैं कि इस संशोधन के जरिए संविधान के अनेक हिस्सों में बदलाव किए गए। 42वें संशोधन के जरिए हुए अनेक बदलावों में एक था–देश की विधायिका के कार्यकाल को 5 से बढ़ाकर 6 साल करना। यह व्यवस्था मात्र आपातकाल की अवधि भर के लिए नहीं की गई थी। इसे आगे के दिनों में भी स्थायी रूप से लागू किया जाना था। इसके अतिरिक्त अब आपातकाल के दौरान चुनाव को एक साल के लिए स्थगित किया जा सकता था। इस तरह देखें तो 1971 के बाद अब चुनाव 1976 के बदले 1978 में करवाए जा सकते थे।

जिन चंद लोगों ने प्रतिरोध किया, उनकी बात छोड़ दें- बाकियों के बारे में सोचें कि उन्होंने क्या किया! क्या कर रहे थे बड़े-बड़े अधिकारी, बुद्धिजीवी, सामाजिक-धार्मिक नेता और नागरिक ...?

आपातकाल के संदर्भ में विवाद

आपातकाल भारतीय राजनीति का सर्वाधिक विवादास्पद प्रकरण है। इसका एक कारण है आपातकाल की घोषणा की ज़रूरत को लेकर विभिन्न दृष्टिकोणों का होना। दूसरा कारण यह है कि सरकार ने संविधान प्रदत्त अधिकारों का इस्तेमाल करके व्यावहारिक तौर पर लोकतांत्रिक कामकाज को ठप्प कर दिया था। आपातकाल के बाद शाह आयोग ने अपनी जाँच में पाया कि इस अवधि में बहुत सारी 'अति' हुई। इसके अतिरिक्त भारत में लोकतंत्र पर अमल के लिहाज़ से आपातकाल से क्या-क्या सबक सीखे जा सकते हैं, इस पर भी अलग-अलग राय मिलती है। आइए, इन पर एक-एक करके नज़र दौड़ाएँ।

क्या 'आपातकाल' ज़रूरी था?

आपातकाल की घोषणा के कारण का उल्लेख करते हुए संविधान में बड़े सादे ढंग से 'अंदरूनी गड़बड़ी' जैसे शब्द का व्यवहार किया गया है। 1975 से पहले कभी भी 'अंदरूनी गड़बड़ी' को आधार बनाकर आपातकाल की घोषणा नही की गई थी। हम पढ़ चुके हैं कि देश के कई हिस्सों में विरोध-आंदोलन चल रहे थे। क्या इसे आपातकाल लागू करने का पर्याप्त कारण माना जा सकता है? सरकार का तर्क था कि भारत में लोकतंत्र है और इसके अनुकूल विपक्षी दलों को चाहिए कि वे निर्वाचित शासक दल को अपनी नीतियों के अनुसार शासन चलाने दें। सरकार का मानना था कि बार-बार का

शाह जाँच आयोग

1977 की मई में जनता पार्टी की सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री जे.सी. शाह की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया। इस आयोग का गठन "25 जून 1975 के दिन घोषित आपातकाल के दौरान की गई कार्रवाई तथा सत्ता के दुरुपयोग, अतिचार और कदाचार के विभिन्न आरोपों के विविध पहलुओं" की जाँच के लिए किया गया था। आयोग ने विभिन्न प्रकार के साक्ष्यों की जाँच की और हज़ारों गवाहों के बयान दर्ज़ किए। गवाहों में इंदिरा गाँधी भी शामिल थीं। वे आयोग के सामने उपस्थित हुईं, लेकिन उन्होंने आयोग के सवालों के जवाब देने से इनकार कर दिया।

भारत सरकार ने आयोग द्वारा प्रस्तुत दो अंतरिम रिपोर्टों और तीसरी तथा अंतिम रिपोर्ट की सिफ़ारिशों, पर्यवेक्षणों और निष्कर्षों को स्वीकार किया। यह रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों में भी विचार के लिए रखी गई।

© NCERT not to be republished

साभार : आर.के. लक्ष्मण, द टाइम्स ऑफ इंडिया

शाह जाँच आयोग के प्रति इंदिरा गाँधी के टकराव भरे रवैये पर कार्टूनिस्ट ने इस तरह की टिप्पणी की। यह कार्टून शाह जाँच आयोग की रिपोर्ट जारी होने के बाद बनाया गया।

"लोकतंत्र के नाम पर खुद लोकतंत्र की राह रोकने की कोशिश की जा रही है। वैधानिक रूप से निर्वाचित सरकार को काम नहीं करने दिया जा रहा। ...आंदोलनों से माहौल सरगर्म है और इसके नतीज़तन हिंसक घटनाएँ हो रही हैं ...एक आदमी तो इस हद तक आगे बढ़ गया है कि वह हमारी सेना को विद्रोह और पुलिस को बग़ावत के लिए उकसा रहा है। विघटनकारी ताकतों का खुला खेल जारी है और सांप्रदायिक उन्माद को हवा दी जा रही है, जिससे हमारी एकता पर खतरा मँडरा रहा है। अगर सचमुच कोई सरकार है, तो वह कैसे हाथ बाँधकर खड़ी रहे और देश की स्थिरता को खतरे में पड़ता देखती रहे? चंद लोगों की कारस्तानी से विशाल आबादी के अधिकारों को खतरा पहुँच रहा है।"

इंदिरा गाँधी
26 जून 1975 को आकाशवाणी से राष्ट्र को संबोधित करते हुए

धरना-प्रदर्शन और सामूहिक कार्रवाई लोकतंत्र के लिए ठीक नहीं है। इंदिरा गाँधी के समर्थक यह भी मानते थे कि लोकतंत्र में सरकार पर निशाना साधने के लिए लगातार गैर-संसदीय राजनीति का सहारा नहीं लिया जा सकता। इससे अस्थिरता पैदा होती है और प्रशासन का ध्यान विकास के कामों से भंग हो जाता है। सारी ताकत कानून-व्यवस्था की बहाली पर लगानी पड़ती है। इंदिरा गाँधी ने शाह आयोग को चिट्ठी में लिखा कि विनाशकारी ताकतें सरकार के प्रगतिशील कार्यक्रमों में अड़ंगे डाल रही थीं और मुझे गैर-संवैधानिक साधनों के बूते सत्ता से बेदखल करना चाहती थीं।

तुर्कमान गेट इलाके में विध्वंस, दिल्ली

आपातकाल के दौरान दिल्ली के गरीब इलाके के निवासियों को बड़े पैमाने पर विस्थापित होना पड़ा। उस वक्त यमुना नदी के पास निर्जन इलाके में झुग्गी-झोपड़ी के बाशिन्दों को जबरदस्ती बसाया गया। इसी नियति का एक शिकार तुर्कमान गेट इलाके की एक बस्ती हुई थी। इस इलाके की झुग्गियों को उजाड़ दिया गया। इलाके के सैकड़ों लोगों की ज़बरन नसबंदी की गई। बहरहाल अनेक लोग नसबंदी करवाने से इसलिए बच सके क्योंकि इन लोगों ने दूसरों को नसबंदी करवाने के लिए रजामंद कर लिया। ऐसे लोगों को बतौर इनाम ज़मीन के टुकड़ों पर मिल्कियत दी गई। इस तरह कुछ लोग अगर सरकार द्वारा प्रायोजित प्रयासों के शिकार हुए तो कुछ लोगों ने कानूनन ज़मीन हासिल करने के लालच में दूसरों को बलि का बकरा बनाया और ऐसा करके खुद को विस्थापित होने से बचा लिया।

स्रोत : शाह जाँच आयोग : अंतरिम रिपोर्ट II

© NCERT not to be republished

खोज-बीन

अपने माता-पिता अथवा परिवार और आस-पड़ोस के अन्य बड़े बुज़ुर्गों से पूछिए कि 1975-77 के आपातकाल के दौरान उन पर क्या गुज़री थी। निम्नलिखित बिंदुओं पर नोट्स तैयार कीजिए:

- ऐसे लोगों के निजी अनुभव जिनका संबंध आपातकाल से हो।
- आपके इलाके में आपातकाल के समर्थन या विरोध में घटी कोई घटना।
- 1977 के चुनाव में ऐसे लोगों की भागीदारी। इन लोगों ने किसे वोट दिया और क्यों?

अपने नोट्स को एक साथ मिलाकर लिखिए और 'आपातकाल के दौरान मेरा गाँव/शहर' शीर्षक से एक सामूहिक रिपोर्ट तैयार कीजिए।

कुछ अन्य दलों, मसलन सीपीआई (इसने आपातकाल के दौरान कांग्रेस को समर्थन देना जारी रखा था) का विश्वास था कि भारत की एकता के विरुद्ध अंतर्राष्ट्रीय साज़िश की जा रही है। सीपीआई का मानना था कि ऐसी सूरत में विरोध पर एक हद तक प्रतिबंध लगाना उचित है। सीपीआई का मानना था कि जेपी ने जिस जन आंदोलन की अगुवाई की, वह मुख्यतया मध्यवर्ग का आंदोलन था और यह मध्यवर्ग कांग्रेस की परिवर्तनकामी नीतियों के विरोध में था। आपातकाल के बाद सीपीआई ने महसूस किया कि उसका मूल्यांकन गलत था और आपातकाल का समर्थन करना एक गलती थी।

दूसरी तरफ़, आपातकाल के आलोचकों का तर्क था कि आज़ादी के आंदोलन से लेकर लगातार भारत में जन आंदोलन का एक सिलसिला रहा है। जेपी सहित विपक्ष के अन्य नेताओं का खयाल था कि लोकतंत्र में लोगों को सार्वजनिक तौर पर सरकार के विरोध का अधिकार होना चाहिए। बिहार और गुजरात में चले विरोध-आंदोलन ज़्यादातर समय अहिंसक और शांतिपूर्ण रहे। जिन लोगों को गिरफ्तार किया गया था, उन पर कभी भी राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों में लिप्त रहने का मुकदमा नहीं चला। अधिकतर बंदियों के खिलाफ़ कोई मुकदमा दर्ज़ नहीं हुआ था। देश के अंदरूनी मामलों की देख-रेख का जिम्मा गृह मंत्रालय का होता है। गृह मंत्रालय ने भी कानून व्यवस्था की बाबत कोई चिंता नहीं जतायी थी। अगर कुछ आंदोलन अपनी हद से बाहर जा रहे थे, तो सरकार के पास अपनी रोज़मर्रा की अमल में आने वाली इतनी शक्तियाँ थीं कि वह ऐसे आंदोलनों को हद में ला सकती थी। लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली को ठप्प करके 'आपातकाल' लागू करने जैसे अतिचारी कदम उठाने की ज़रूरत कतई न थी। दरअसल खतरा देश की एकता और अखंडता को नहीं, बल्कि शासक दल और स्वयं प्रधानमंत्री को था। आलोचक कहते हैं कि देश को बचाने के लिए बनाए गए संवैधानिक प्रावधान का दुरुपयोग इंदिरा गाँधी ने निजी ताकत को बचाने के लिए किया।

आपातकाल के दौरान क्या-क्या हुआ?

आपातकाल का वास्तविक क्रियान्वयन भी अपने-आप में विवाद का एक मुद्दा रहा है। क्या सरकार ने अपनी आपातकालीन शक्तियों का दुरुपयोग किया? क्या इस दौरान सत्ता का दुरुपयोग हुआ और उसके बूते ज़्यादतियाँ की गईं? सरकार ने कहा कि वह आपातकाल के ज़रिए कानून व्यवस्था को बहाल करना चाहती थी, कार्यकुशलता बढ़ाना चाहती थी और गरीबों के हित के कार्यक्रम लागू करना चाहती थी। इस उद्देश्य से सरकार ने एक बीस-सूत्री कार्यक्रम

© NCERT not to be republished

की घोषणा की और इसे लागू करने का अपना दृढ़ संकल्प दोहराया। बीस-सूत्री कार्यक्रम में भूमि-सुधार, भू-पुनर्वितरण, खेतिहर मज़दूरों के पारिश्रमिक पर पुनर्विचार, प्रबंधन में कामगारों की भागीदारी, बंधुआ मज़दूरी की समाप्ति, आदि मसले शामिल थे। आपातकाल की घोषणा के बाद, शुरुआती महीनों में मध्यवर्ग इस बात से बड़ा खुश था कि विरोध-आंदोलन समाप्त हो गया और सरकारी कर्मचारियों पर अनुशासन लागू हुआ। गरीब और ग्रामीण जनता को भी उम्मीद थी कि सरकार जिन कल्याण कार्यक्रमों को लागू करने के वायदे कर रही है, उन्हें अब कारगर तरीके से लागू किया जाएगा। समाज के विभिन्न वर्गों की अलग-अलग अपेक्षाएँ थीं और इस कारण आपातकाल को लेकर उनके दृष्टिकोण भी अलग-अलग थे।

नहीं, अभी नहीं! अभी तुम अपने पैरों पर खड़ा होने लायक नहीं हुए हो!

साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया

आपातकाल के आलोचकों ने ध्यान दिलाया है कि सरकार के ज़्यादातर वायदे पूरे नहीं हुए। आलोचकों का कहना है कि सरकार अपने वायदों की ओट लेकर ज़्यादतियों से लोगों का ध्यान हटाना चाहती थी। आलोचकों ने निवारक नज़रबंदी के बड़े पैमाने के इस्तेमाल पर भी सवाल उठाए। हम पढ़ चुके हैं कि आपातकाल के दौरान अनेक प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया था। दरअसल, कुल 676 नेताओं की गिरफ्तारी हुई थी। शाह आयोग का आकलन था कि निवारक नज़रबंदी के कानूनों के तहत लगभग एक लाख ग्यारह हज़ार लोगों को गिरफ़्तार किया गया। प्रेस पर कई तरह की पाबंदी लगाई गई। इसमें कई पाबंदियाँ गैरकानूनी थीं। शाह आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि दिल्ली बिजली आपूर्ति निगम के महाप्रबंधक को दिल्ली के लेफ्टिनेंट-गवर्नर के दफ्तर से 26 जून 1975 की रात 2 बजे मौखिक आदेश मिला कि सभी अखबारों की बिजली आपूर्ति काट दी जाए। अखबारों को बिजली आपूर्ति दो-तीन दिन बाद फिर बहाल की गई, लेकिन तब तक सेंसरशिप का पूरा ढाँचा खड़ा किया जा चुका था।

राजन की पुलिस हिरासत में मौत

कालीकट इंजीनियरिंग कॉलेज (केरल) के अंतिम वर्ष के छात्र पी. राजन को 1 मार्च 1976 के दिन एक अन्य छात्र जोसेफ चाली के साथ छात्रावास से उठा लिया गया। राजन के पिता टी.वी. इचार वारियर ने अपने बेटे की तलाश में बहुत भागदौड़ की। वे विधायकों से मिले, संबद्ध अधिकारियों को अर्जी दी और तत्कालीन गृहमंत्री के. करुणाकरण से भी मदद की गुहार लगाई। चूँकि आपातकाल की घोषणा हो चुकी थी; इसलिए नागरिक अधिकारों से जुड़े हुए मसलों को अदालत में नहीं उठाया जा सकता था। आपातकाल की समाप्ति के बाद वारियर ने अर्नाकुलम स्थित केरल उच्च न्यायालय में बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका दायर की। गवाहों के बयान से यह बात स्पष्ट हुई कि छात्रावास से उठाकर राजन को अगले दिन कालीकट के टूरिस्ट बँगले में ले जाया गया। इस जगह पर पुलिस ने उसे यातना दी। अगली सुनवाई में केरल सरकार ने उच्च न्यायालय को बताया कि 'गैरकानूनी पुलिस हिरासत' के दौरान पुलिस द्वारा लगातार यातना देने के कारण राजन की मौत हो गई। केरल उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने फ़ैसला सुनाया कि करुणाकरण ने अदालत से झूठ बोला था। के. करुणाकरण उस समय तक केरल के मुख्यमंत्री बन चुके थे। उन्हें अदालत के फ़ैसले के कारण अपने पद से इस्तीफ़ा देना पड़ा।

इसके अलावा कुछ और भी गंभीर आरोप ऐसे लोगों को लेकर लगे थे जो किसी आधिकारिक पद पर नहीं थे, लेकिन सरकारी ताकत का इन लोगों ने इस्तेमाल किया था। प्रधानमंत्री के छोटे बेटे संजय गाँधी उस वक्त किसी आधिकारिक पद पर नहीं थे। फिर भी, प्रशासन पर उनका असर था और आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने सरकारी कामकाज में दखल दिया। दिल्ली में झुग्गी बस्तियों को हटाने तथा ज़बरन नसबंदी करने की मुहिम में उनकी भूमिका को लेकर बड़े विवाद उठे।

राजनीतिक कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी और प्रेस पर लगी पाबंदी के अतिरिक्त, आपातकाल का बुरा असर आमलोगों को भी भुगतना पड़ा। आपातकाल के दौरान पुलिस हिरासत में मौत और यातना की घटनाएँ घटीं। गरीब लोगों को मनमाने ढंग से एक जगह से उजाड़कर दूसरी जगह बसाने की भी घटनाएँ हुईं। जनसंख्या नियंत्रण के अति उत्साह में लोगों को अनिवार्य रूप से नसबंदी के लिए मजबूर किया गया। इन उदाहरणों से समझा जा सकता है कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया के ठप्प पड़ने पर लोगों पर क्या गुज़रती है।

आपातकाल के सबक

आपातकाल से एकबारगी भारतीय लोकतंत्र की ताकत और कमजोरियाँ उजागर हो गईं। हालाँकि बहुत-से पर्यवेक्षक मानते हैं कि आपातकाल के दौरान भारत लोकतांत्रिक नहीं रह गया था, लेकिन यह भी ध्यान देने की बात है कि थोड़े ही दिनों के अंदर कामकाज फिर से लोकतांत्रिक ढर्रे पर लौट आया। इस तरह आपातकाल का एक सबक तो यही है कि भारत से लोकतंत्र को विदा कर पाना बहुत कठिन है।

"*... death of D. E. M. O'Cracy, mourned by his wife T. Ruth, his son L. I. Bertie, and his daughters Faith, Hope and Justice.*"

1975 में आपातकाल की घोषणा के चंद रोज बाद टाइम्स ऑफ़ इंडिया में यह विज्ञापन 'अज्ञात' नाम से छपा था। गौर करें कि इसमें लोकतंत्र पर मंडराते खतरे की तरफ़ ध्यान खींचने के लिए किस तरह भाषा का कल्पनाशील प्रयोग किया गया है और सेंसरशिप से बचने के लिए कैसे अपने संदेश को विज्ञापन के रूप में छपवाने का नायाब तरीका ढूँढ़ा गया है।

© NCERT not to be republished

> *आज भारत की आज़ादी का दिन है... भारत के लोकतंत्र का दीपक बुझने न पाए।*

फ्री जेपी कैम्पेन
यह विज्ञापन *द टाइम्स* (लंदन) में 15 अगस्त 1975 को छपवाया गया था।

दूसरे, आपातकाल से संविधान में वर्णित आपातकाल के प्रावधानों के कुछ अर्थगत उलझाव भी प्रकट हुए, जिन्हें बाद में सुधार लिया गया। अब 'अंदरूनी' आपातकाल सिर्फ़ 'सशस्त्र विद्रोह' की स्थिति में लगाया जा सकता है। इसके लिए यह भी ज़रूरी है कि आपातकाल की घोषणा की सलाह मंत्रिमंडल राष्ट्रपति को लिखित में दे।

तीसरे, आपातकाल से हर कोई नागरिक अधिकारों के प्रति ज़्यादा सचेत हुआ। आपातकाल की समाप्ति के बाद अदालतों ने व्यक्ति के नागरिक अधिकारों की रक्षा में सक्रिय भूमिका निभाई। न्यायपालिका आपातकाल के वक्त नागरिक अधिकारों की कारगर तरीके से रक्षा नहीं कर पाई थी। इसे महसूस करके अब वह नागरिक अधिकारों की रक्षा में तत्पर हो गई। आपातकाल के बाद नागरिक अधिकारों के कई संगठन वजूद में आए।

बहरहाल, आपातकाल के संकटपूर्ण वर्षों ने कई ऐसे सवाल छोड़े हैं जिन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। इस अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कि लोकतांत्रिक सरकार के रोज़मर्रा के कामकाज और विभिन्न दलों और समूहों के निरंतर जारी राजनीतिक विरोध के बीच तनाव की स्थिति बनती है। ऐसे में दोनों के बीच एक सधा हुआ संतुलन क्या हो सकता है? क्या नागरिकों को विरोध की कार्रवाई में शामिल होने की पूरी आज़ादी होनी चाहिए अथवा उन्हें इसका कोई अधिकार ही नहीं होना चाहिए। ऐसे विरोध की सीमा क्या मानी जाए?

दूसरे, आपातकाल का वास्तविक क्रियान्वयन पुलिस और प्रशासन के ज़रिए हुआ। ये संस्थाएँ स्वतंत्र होकर काम नहीं कर पाईं। इन्हें शासक दल ने अपना राजनीतिक औज़ार बनाकर इस्तेमाल किया। शाह कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार पुलिस और प्रशासन राजनीतिक दबाव की चपेट में आ गए थे। यह समस्या आपातकाल के बाद भी खत्म नहीं हुई।

आपातकाल के बाद की राजनीति

जैसे ही आपातकाल खत्म हुआ और लोकसभा के चुनावों की घोषणा हुई, वैसे ही आपातकाल का सबसे ज़रूरी और कीमती सबक राजव्यवस्था ने सीख लिया। 1977 के चुनाव एक तरह से आपातकाल के अनुभवों के बारे में जनमत-संग्रह थे। उत्तर भारत में तो खासतौर पर क्योंकि यहाँ आपातकाल का असर सबसे ज़्यादा महसूस किया गया था। विपक्ष ने 'लोकतंत्र बचाओ' के नारे पर चुनाव लड़ा। जनादेश निर्णायक तौर पर आपातकाल के विरुद्ध था। सबक एकदम साफ़ था और कई राज्यों के विधानसभा चुनावों में भी स्थिति यही रही। जिन सरकारों को जनता ने लोकतंत्र-विरोधी माना उसे मतदाता के रूप में उसने भारी दंड दिया। इस अर्थ में देखें तो 1975-77 के अनुभवों की एक परिणति भारतीय लोकतंत्र की बुनियाद को पुख्ता बनाने में हुई।

लोकसभा के चुनाव–1977

18 महीने के आपातकाल के बाद 1977 के जनवरी माह में सरकार ने चुनाव कराने का फ़ैसला किया। इसी के मुताबिक सभी नेताओं और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को जेल से रिहा कर दिया गया। 1977 के मार्च में चुनाव हुए। ऐसे में विपक्ष को चुनावी तैयारी का बड़ा कम समय

मिला, लेकिन राजनीतिक बदलाव की गति बड़ी तेज़ थी। आपातकाल लागू होने के पहले ही बड़ी विपक्षी पार्टियाँ एक-दूसरे के नज़दीक आ रही थीं। चुनाव के ऐन पहले इन पार्टियों ने एकजुट होकर जनता पार्टी नाम से एक नया दल बनाया। नयी पार्टी ने जयप्रकाश नारायण का नेतृत्व स्वीकार किया। कांग्रेस के कुछ नेता भी, जो आपातकाल के खिलाफ़ थे, इस पार्टी में शामिल हुए। कांग्रेस के कुछ अन्य नेताओं ने जगजीवन राम के नेतृत्व में एक नयी पार्टी बनाई। इस पार्टी का नाम 'कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी' था और बाद में यह पार्टी भी जनता पार्टी में शामिल हो गई।

1977 के चुनावों को जनता पार्टी ने आपातकाल के ऊपर जनमत संग्रह का रूप दिया। इस पार्टी ने चुनाव-प्रचार में शासन के अलोकतांत्रिक चरित्र और आपातकाल के दौरान की गई ज़्यादतियों पर ज़ोर दिया। हज़ारों लोगों की गिरफ्तारी और प्रेस की सेंसरशिप की पृष्ठभूमि में जनमत कांग्रेस के विरुद्ध था। जनता पार्टी के गठन के कारण यह भी सुनिश्चित हो गया कि गैर-कांग्रेसी वोट एक ही जगह पड़ेंगे। बात बिलकुल साफ़ थी कि कांग्रेस के लिए अब बड़ी मुश्किल आ पड़ी थी।

मोरारजी देसाई (1896-1995) : स्वतंत्रता सेनानी, गाँधीवादी नेता; खादी, प्राकृतिक चिकित्सा और निग्रह के प्रतिपादक; बॉम्बे प्रांत के मुख्यमंत्री; 1967-1969 के बीच उप-प्रधानमंत्री; पार्टी में टूट के बाद कांग्रेस (ओ) में शामिल; 1977-1979 तक एक गैर-कांग्रेसी दल की तरफ़ से प्रधानमंत्री रहे।

रे बाबा! इस आम आदमी से बच के रहना। अब वह अपने साथ कोई बदतमीज़ी बर्दाश्त नहीं कर सकता है।

साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 29 मार्च 1977

देखिए कि एक कार्टूनिस्ट ने 1977 के चुनावों में हारने और जीतने वालों को किस तरह देखा है! आम आदमी के साथ खड़े हुए लोगों में जगजीवन राम, मोरारजी देसाई, चरण सिंह और अटलबिहारी वाजपेयी को दिखाया गया है।

© NCERT not to be republished

लेकिन चुनाव के अंतिम नतीजों ने सबको चौंका दिया। आज़ादी के बाद पहली बार ऐसा हुआ कि कांग्रेस लोकसभा का चुनाव हार गई। कांग्रेस को लोकसभा की मात्र 154 सीटें मिली थीं। उसे 35 प्रतिशत से भी कम वोट हासिल हुए। जनता पार्टी और उसके साथी दलों को लोकसभा की कुल 542 सीटों में से 330 सीटें मिलीं। खुद जनता पार्टी अकेले 295 सीटों पर जीत गई थी और उसे स्पष्ट बहुमत मिला था। उत्तर भारत में चुनावी माहौल कांग्रेस के एकदम खिलाफ़ था। कांग्रेस बिहार, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा और पंजाब में एक भी सीट न पा सकी। राजस्थान और मध्य प्रदेश में उसे महज एक-एक सीट मिली। इंदिरा गाँधी रायबरेली से और उनके पुत्र संजय गाँधी अमेठी से चुनाव हार गए।

बहरहाल अगर आप चुनावी नतीजों के नक्शे पर नज़र दौड़ाएँ, तो पाएँगे कि कांग्रेस देश में हर जगह चुनाव नहीं हारी थी। महाराष्ट्र, गुजरात और उड़ीसा में उसने कई सीटों पर अपना कब्ज़ा बरकरार रखा था और दक्षिण भारत के राज्यों में तो एक तरह से उसकी चुनावी विजय का चक्का बेरोक-टोक चला था। इसके कई कारण रहे। पहली बात तो यह थी कि आपातकाल का प्रभाव हर राज्य पर एकसमान नहीं पड़ा था। लोगों को ज़बरन उजाड़ने और विस्थापित करने अथवा ज़बरन नसबंदी करने का काम ज़्यादातर उत्तर भारत के राज्यों में हुआ था, लेकिन इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उत्तर भारत में राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता की प्रकृति में दूरगामी बदलाव आए थे। उत्तर भारत का मध्यवर्ग कांग्रेस से दूर जाने लगा था

1977 में बनी गैर-कांग्रेसी सरकार का शपथ ग्रहण समारोह। चित्र में जयप्रकाश नारायण, जे. बी. कृपलानी, मोरारजी देसाई और अटलबिहारी वाजपेयी बैठे हुए नज़र आ रहे हैं।

लोकसभा चुनाव परिणाम
1977

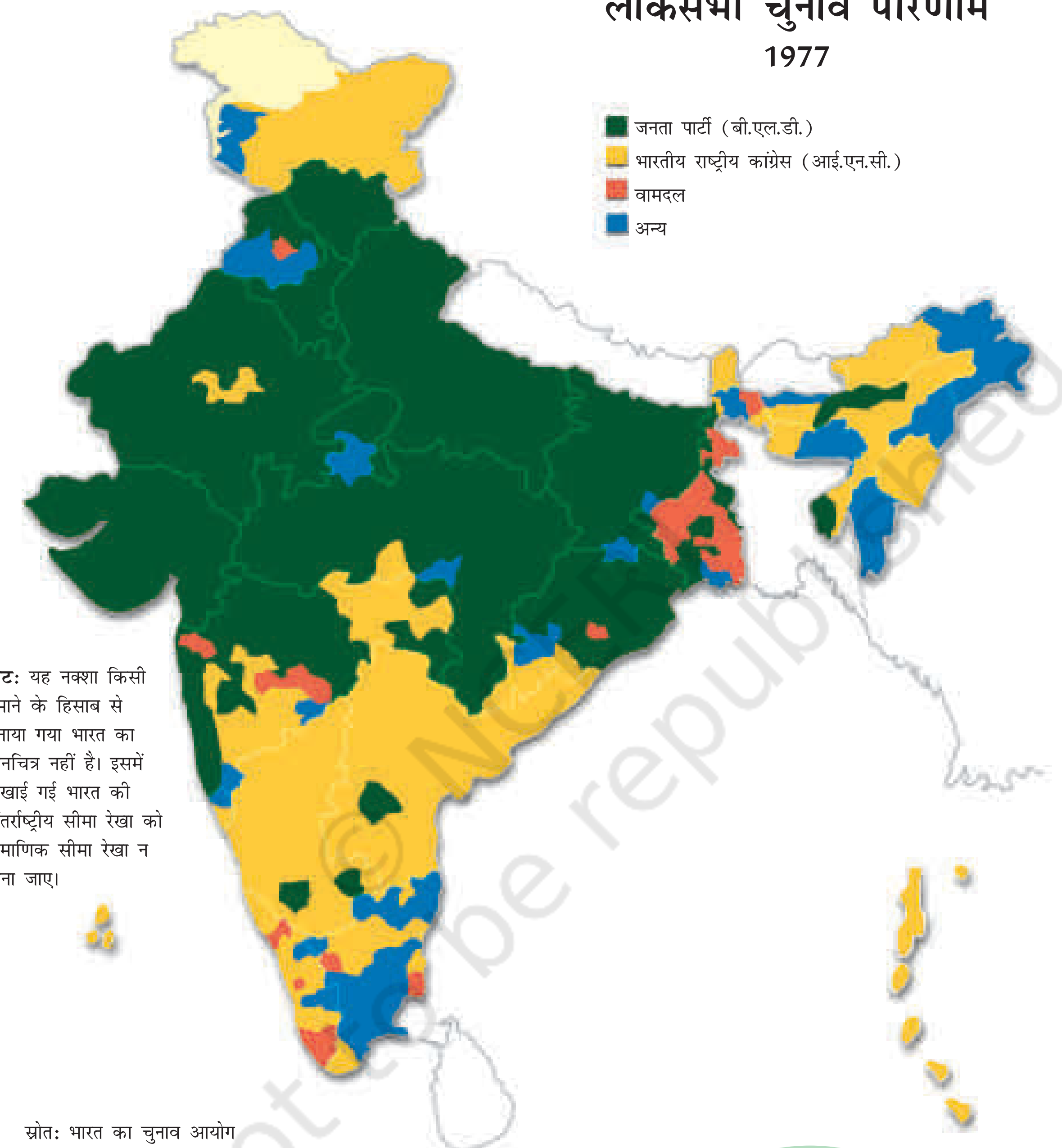

नोट: यह नक्शा किसी पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

स्रोत: भारत का चुनाव आयोग

© NCERT not to be republished

इस मानचित्र में उन जगहों को चिह्नित करें, जहाँ

- कांग्रेस हारी
- कांग्रेस बुरी तरह पराजित हुई
- ऐसे राज्य जहाँ कांग्रेस और उसके साथी दलों को भारी विजय मिली।

अगर उत्तर और दक्षिण के राज्यों में मतदाताओं ने इतने अलग ढर्रे पर मतदान किया, तो हम कैसे कहें कि 1977 के चुनावों का जनादेश क्या था?

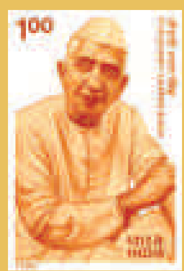

चौधरी चरण सिंह (1902–1987) : जुलाई 1979 से जनवरी 1980 के बीच भारत के प्रधानमंत्री; स्वतंत्रता सेनानी; उत्तर प्रदेश की राजनीति में सक्रिय; ग्रामीण एवं कृषि विकास के समर्थक; कांग्रेस छोड़ी और 1967 में भारतीय क्रांति दल का गठन; उत्तर प्रदेश में दो बार मुख्यमंत्री; बाद में 1977 में जनता पार्टी के संस्थापको में से एक, उप-प्रधानमंत्री और गृहमंत्री (1977–79); लोकदल के संस्थापक।

साभार: अतनु राय/इंडिया टुडे

साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 13 नवंबर 1979

साभार: आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया

मैं समझ गया! आपातकाल एक तरह से तानाशाही निरोधक टीका था। इसमें दर्द हुआ और बुखार भी आया, लेकिन अंततः हमारे लोकतंत्र के भीतर क्षमता बढ़ी।

जनता पार्टी की गुटबाजी पर बहुत-से कार्टून बने। उसकी कुछ बानगी यहाँ आप भी देखें। ये कार्टून अंग्रेज़ी भाषा के अखबार और पत्रिकाओं में छपे।

और मध्यवर्ग के कई तबके जनता पार्टी को एक मंच के रूप में पाकर इससे आ जुड़े। इस अर्थ में देखें, तो 1977 के चुनाव सिर्फ़ आपातकाल की कथा नहीं कहते हैं, बल्कि इसके आगे की भी कुछ बातों का संकेत करते हैं।

जनता सरकार

1977 के चुनावों के बाद बनी जनता पार्टी की सरकार में कोई खास तालमेल नहीं था। चुनाव के बाद नेताओं के बीच प्रधानमंत्री के पद के लिए होड़ मची। इस होड़ में मोरारजी देसाई, चरण सिंह और जगजीवन राम शामिल थे। मोरारजी देसाई 1966-67 से ही इंदिरा गाँधी के प्रतिद्वंद्वी थे। चरण सिंह, भारतीय लोकदल के प्रमुख और उत्तर प्रदेश के किसान नेता थे। जगजीवन राम को कांग्रेसी सरकारों में मंत्री पद पर रहने का विशाल अनुभव था। बहरहाल मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री बने, लेकिन इससे जनता पार्टी के भीतर सत्ता की खींचतान खत्म न हुई।

आपातकाल का विरोध जनता पार्टी को कुछ ही दिनों के लिए एकजुट रख सका। इस पार्टी के आलोचकों ने कहा कि जनता पार्टी के पास किसी दिशा, नेतृत्व अथवा एक साझे कार्यक्रम का अभाव था। जनता पार्टी की सरकार कांग्रेस द्वारा अपनाई गई नीतियों में कोई बुनियादी बदलाव नहीं ला सकी। जनता पार्टी बिखर गई और मोरारजी देसाई के नेतृत्व वाली सरकार ने 18 माह में ही अपना बहुमत खो दिया। कांग्रेस पार्टी के समर्थन पर दूसरी सरकार चरण सिंह के नेतृत्व में बनी। लेकिन बाद में कांग्रेस पार्टी ने समर्थन वापस लेने का फ़ैसला किया। इस वज़ह से चरण सिंह की सरकार मात्र चार महीने तक सत्ता में रही। 1980 के जनवरी में लोकसभा के लिए नए सिरे से चुनाव हुए। इस चुनाव में जनता पार्टी बुरी तरह परास्त हुई। जनता पार्टी को उत्तर भारत में करारी शिकस्त मिली, जबकि 1977 के चुनाव में उत्तर भारत में इस पार्टी को ज़बरदस्त सफलता मिली थी। इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी ने 1980 के चुनाव में एक बार फिर 1971 के चुनावों वाली कहानी दुहराते हुए भारी सफलता हासिल की। कांग्रेस पार्टी को 353 सीटें मिलीं और वह सत्ता में आई। 1977-79 के चुनावों ने लोकतांत्रिक राजनीति का एक और सबक सिखाया—सरकार अगर अस्थिर हो और उसके भीतर कलह हो, तो मतदाता ऐसी सरकार को कड़ा दंड देते हैं।

जगजीवन राम
(1908-1986) : स्वतंत्रता सेनानी एवं बिहार के कांग्रेसी नेता; 1977-79 के बीच भारत के उप-प्रधानमंत्री; संविधान सभा के सदस्य; 1952 से मृत्युपर्यंत सांसद; स्वतंत्र भारत के पहले मंत्रिमंडल में श्रम मंत्री; 1952 से 1977 के बीच अनेक मंत्रालयों की जिम्मेदारी; विद्वान और कुशल प्रशासक।

विरासत

लेकिन क्या 1980 के चुनाव में सिर्फ़ इंदिरा गाँधी की वापसी हुई थी? क्या मामला इतना भर था? 1977 और 1980 के चुनावों के बीच दलगत प्रणाली में नाटकीय बदलाव आए। 1969 के बाद से कांग्रेस का सबको समाहित करके चलने वाला स्वभाव बदलना शुरू हुआ। 1969 से पहले तक कांग्रेस विविध विचारधारात्मक गति-मति के नेताओं और कार्यकर्ताओं को एक में समेटकर चलती थी। अपने बदले हुए स्वभाव में कांग्रेस ने स्वयं को विशेष विचारधारा से जोड़ा। उसने अपने को देश की एकमात्र समाजवादी और ग़रीबों की हिमायती पार्टी बताना शुरू किया। इस तरह 1970 के दशक के शुरुआती सालों से कांग्रेस की सफलता इस बात पर निर्भर रही कि वह गहरे सामाजिक और विचारधारात्मक विभाजन के आधार पर लोगों को अपनी तरफ़ कितना खींच पाती है। इसके साथ-साथ

© NCERT not to be republished

साभारः इंडिया टुडे

साभारः आर.के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ़ इंडिया

यह कार्टून 1980 के चुनावों के बाद छपा था।

यह पार्टी अब एक नेता यानी इंदिरा गाँधी की लोकप्रियता पर भी निर्भर हुई। कांग्रेस की प्रकृति में आए बदलावों के मद्देनजर अन्य विपक्षी दल 'गैर-कांग्रेसवाद' की राजनीति की तरफ़ मुड़े। विपक्ष के नेताओं को अब यह बात साफ़-साफ़ नज़र आने लगी कि चुनावों में गैर-कांग्रेसी वोट बिखरने नहीं चाहिए। इस चीज़ ने 1977 के चुनावों में एक बड़ी भूमिका निभाई।

अप्रत्यक्ष रूप से 1977 के बाद पिछड़े वर्गों की भलाई का मुद्दा भारतीय राजनीति पर हावी होना शुरू हुआ। हमने ऊपर गौर किया था कि 1977 के चुनाव-परिणामों पर पिछड़ी जातियों के मतदान का असर पड़ा था, खासकर उत्तर भारत में। लोकसभा के चुनावों के बाद, 1977 में कई राज्यों में विधानसभा के भी चुनाव हुए। इसमें भी उत्तर भारत के राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं। इन सरकारों के बनने में पिछड़ी जाति के नेताओं ने महत्त्वपूर्ण

© NCERT not to be republished

भूमिका निभाई। बिहार में 'अन्य पिछड़ी जातियों' के आरक्षण के सवाल पर बहुत शोर मचा। इसके बाद केंद्र की जनता पार्टी की सरकार ने मंडल आयोग नियुक्त किया। इस आयोग और पिछड़ी जातियों की राजनीति की भूमिका के बारे में ज़्यादा विस्तार से आप अंतिम अध्याय में पढ़ेंगे। आपातकाल के बाद हुए चुनावों ने दलीय व्यवस्था के भीतर इस बदलाव की प्रक्रिया शुरू कर दी।

आपातकाल और इसके आसपास की अवधि को हम संवैधानिक संकट की अवधि के रूप में भी देख सकते हैं। संसद और न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र को लेकर छिड़ा संवैधानिक संघर्ष भी आपातकाल के मूल में था। दूसरी तरफ़ यह राजनीतिक संकट का भी दौर था। सत्ताधारी पार्टी के पास पूर्ण बहुमत था। फिर भी, इसके नेतृत्व ने लोकतंत्र को ठप्प करने का फ़ैसला किया। भारतीय संविधान के निर्माताओं को विश्वास था कि सभी राजनीतिक दल लोकतांत्रिक मानकों का पालन करेंगे। उन्हें यह भी विश्वास था कि आपातकाल की स्थिति में भी सरकार अपनी असाधारण शक्तियों का इस्तेमाल विधि के शासन के दायरे में रहते हुए ही करेगी। इसी उम्मीद में सरकार को आपातकाल से जुड़े प्रावधानों के अंतर्गत व्यापक और चहुँमुखी शक्तियाँ दे दी गईं। इन शक्तियों का आपातकाल के दौरान दुरुपयोग हुआ। यह राजनीतिक संकट तत्कालीन संवैधानिक संकट से कहीं ज़्यादा संगीन था।

इस दौर में एक और महत्वपूर्ण मसला संसदीय लोकतंत्र में जन आंदोलन की भूमिका और उसकी सीमा को लेकर उठा। स्पष्ट ही इस दौर में संस्था आधारित लोकतंत्र और स्वत:स्फूर्त जन-भागीदारी पर आधारित लोकतंत्र में तनाव नज़र आया। इस तनाव का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि हमारी दलीय प्रणाली जनता की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त कर पाने में सक्षम साबित नहीं हुई। आगे के दो अध्यायों में हम इस तनाव की कुछ अभिव्यक्तियों को समझने की कोशिश करेंगे। इन अध्यायों में हम विशेष रूप से जन आंदोलन और क्षेत्रीय पहचान से जुड़ी बहसों के बारे में पढ़ेंगे।

सिने-संसार

हजारों ख्वाहिशें ऐसी

सिद्धार्थ, विक्रम और गीता मेधावी और सामाजिक सरोकार वाले छात्र हैं। दिल्ली में अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद तीनों अलग-अलग राह पर निकल पड़ते हैं। सिद्धार्थ सामाजिक बदलाव के लिए क्रांतिकारी विचारधारा का हिमायती है। विक्रम की दलील ज़िंदगी में कामयाबी हासिल करने की है, चाहे इसके लिए जो भी कीमत चुकानी पड़े। अपनी जिंदगी के मकसद को हासिल करने निकले इन लोगों के सुख-दुख के इर्द-गिर्द यह कहानी चलती है।

फ़िल्म की पृष्ठभूमि सत्तर के दशक की है। इस फ़िल्म के युवा चरित्र उस दौर की अपेक्षाओं और आदर्शवाद की उपज हैं। सिद्धांत क्रांति के अपने मकसद में सफल नहीं होता है, लेकिन वह गरीबों के दुख-दर्द इस तरह अपना चुका है कि उसे क्रांति की जगह ऐसे लोगों की हालत में थोड़ी बेहतरी ला पाना भी अच्छा लगने लगता है। दूसरी तरफ़, विक्रम एक आमफहम राजनीतिक तिकड़मबाज बन जाता है। लेकिन अपने इस काम को लेकर उसका मन कचोटता रहता है।

वर्ष : 2005
निर्देशक : सुधीर मिश्र
पटकथा : रुचि नारायण, शिव कुमार, सुब्रह्मण्यम
अभिनय : के.के. मेनन, शाइनी आहूजा, चित्रांगदा सिंह

प्रश्नावली

1. बताएँ कि आपातकाल के बारे में निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत–
   (क) आपातकाल की घोषणा 1975 में इंदिरा गाँधी ने की।
   (ख) आपातकाल में सभी मौलिक अधिकार निष्क्रिय हो गए।
   (ग) बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति के मद्देनज़र आपातकाल की घोषणा की गई थी।
   (घ) आपातकाल के दौरान विपक्ष के अनेक नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया।
   (ङ) सी.पी.आई. ने आपातकाल की घोषणा का समर्थन किया।

2. निम्नलिखित में से कौन-सा आपातकाल की घोषणा के संदर्भ से मेल नहीं खाता है:
   (क) 'संपूर्ण क्रांति' का आह्वान
   (ख) 1974 की रेल-हड़ताल
   (ग) नक्सलवादी आंदोलन
   (घ) इलाहाबाद उच्च न्यायालय का फ़ैसला
   (ङ) शाह आयोग की रिपोर्ट के निष्कर्ष

3. निम्नलिखित में मेल बैठाएँ

(क) संपूर्ण क्रांति	(i) इंदिरा गाँधी
(ख) गरीबी हटाओ	(ii) जयप्रकाश नारायण
(ग) छात्र आंदोलन	(iii) बिहार आंदोलन
(घ) रेल हड़ताल	(iv) जॉर्ज फर्नांडिस

4. किन कारणों से 1980 में मध्यावधि चुनाव करवाने पड़े?
5. जनता पार्टी ने 1977 में शाह आयोग को नियुक्त किया था। इस आयोग की नियुक्ति क्यों की गई थी और इसके क्या निष्कर्ष थे?
6. 1975 में राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा करते हुए सरकार ने इसके क्या कारण बताए थे?
7. 1977 के चुनावों के बाद पहली दफा केंद्र में विपक्षी दल की सरकार बनी। ऐसा किन कारणों से संभव हुआ?
8. हमारी राजव्यवस्था के निम्नलिखित पक्ष पर आपातकाल का क्या असर हुआ?
   - नागरिक अधिकारों की दशा और नागरिकों पर इसका असर
   - कार्यपालिका और न्यायपालिका के संबंध
   - जनसंचार माध्यमों के कामकाज

© NCERT not to be republished

- पुलिस और नौकरशाही की कार्रवाइयाँ

9. भारत की दलीय प्रणाली पर आपातकाल का किस तरह असर हुआ? अपने उत्तर की पुष्टि उदाहरणों से करें।

10. निम्नलिखित अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें–

1977 के चुनावों के दौरान भारतीय लोकतंत्र, दो-दलीय व्यवस्था के जितना नज़दीक आ गया था उतना पहले कभी नहीं आया। बहरहाल अगले कुछ सालों में मामला पूरी तरह बदल गया। हारने के तुरंत बाद कांग्रेस दो टुकड़ों में बँट गई..... जनता पार्टी में भी बड़ी अफरा-तफरी मची.........डेविड बटलर, अशोक लाहिड़ी और प्रणव रॉय

– पार्था चटर्जी

(क) किन वज़हों से 1977 में भारत की राजनीति दो-दलीय प्रणाली के समान जान पड़ रही थी?

(ख) 1977 में दो से ज़्यादा पार्टियाँ अस्तित्व में थीं। इसके बावजूद लेखकगण इस दौर को दो-दलीय प्रणाली के नज़दीक क्यों बता रहे हैं?

(ग) कांग्रेस और जनता पार्टी में किन कारणों से टूट पैदा हुई?

© NCERT not to be republished

साभार: भवान सिंह

इस पृष्ठ तथा अगले पृष्ठों पर दिए गए चित्रों में चिपको आंदोलन के सहभागियों एवं नेताओं को दर्शाया गया है। यह आंदोलन देश के पर्यावरणीय आंदोलनों में अहम स्थान रखता है।

इस अध्याय में...

आज़ादी के तीन दशक बाद लोगों का धीरज टूटने लगा था। जनता की बेचैनी कई रूपों में अभिव्यक्त हुई। पिछले अध्याय में हम चुनावी भूचाल और राजनीतिक संकट के बारे में पढ़ ही चुके हैं। बहरहाल, जन-असंतोष की अभिव्यक्ति सिर्फ़ इसी रूप में ही नहीं हुई। 1970 के दशक में विभिन्न सामाजिक वर्गों, जैसे–महिला, छात्र, दलित और किसानों को लग रहा था कि लोकतांत्रिक राजनीति उनकी ज़रूरत और माँगों पर ध्यान नहीं दे रही है। इसके चलते ये समूह अपनी आवाज़ बुलंद करने के लिए विभिन्न सामाजिक संगठनों के झंडे के नीचे एकजुट हुए। इन आवाज़ों से जन आंदोलन का ज्वार उमड़ा और भारतीय राजनीति में नए सामाजिक आंदोलन सक्रिय हुए।

इस अध्याय में हम 1970 के दशक के बाद के जन आंदोलनों की विकास-यात्रा को परखने की कोशिश करेंगे। इस चर्चा से हम समझ सकेंगे कि :

- जन आंदोलन क्या हैं?
- भारतीय समाज के किन तबकों को इन आंदोलनों ने लामबंद किया है?
- हमारे लोकतांत्रिक ढाँचे में ये जन आंदोलन क्या भूमिका निभाते हैं?

© NCERT not to be republished

अध्याय 7

जन आंदोलनों का उदय

जन आंदोलनों की प्रकृति

इस अध्याय के शुरुआती चित्र पर ध्यान दीजिए। आप इसमें क्या देख रहे हैं? गाँव की महिलाओं ने सचमुच पेड़ों को अपनी बाँहों में बाँध रखा है। क्या ये लोग कोई खेल खेल रहे हैं या, ये लोग कोई पर्व-त्योहार मना रहे हैं? दरअसल चित्र में नज़र आ रहे लोग ऐसा कुछ नहीं कर रहे हैं। यहाँ जो तसवीर दी गई है उसमें सामूहिक कार्रवाई की एक असाधारण घटना को दर्ज़ किया गया है। यह घटना 1973 में घटी जब मौजूदा उत्तराखंड के एक गाँव के स्त्री-पुरुष एकजुट हुए और जंगलों की व्यावसायिक कटाई का विरोध किया। सरकार ने जंगलों की कटाई के लिए अनुमति दी थी। गाँव के लोगों ने अपने विरोध को जताने के लिए एक नयी तरकीब अपनायी। इन लोगों ने पेड़ों को अपनी बाँहों में घेर लिया ताकि उन्हें कटने से बचाया जा सके। यह विरोध आगामी दिनों में भारत के पर्यावरण आंदोलन के रूप में परिणत हुआ और 'चिपको-आंदोलन' के नाम से विश्वप्रसिद्ध हुआ।

चिपको आंदोलन

इस आंदोलन की शुरुआत उत्तराखंड के दो-तीन गाँवों से हुई थी। इसके पीछे एक कहानी है। गाँव वालों ने वन विभाग से कहा कि खेती-बाड़ी के औज़ार बनाने के लिए हमें अंगू के पेड़ काटने की अनुमति दी जाए। वन विभाग ने अनुमति देने से इनकार कर दिया। बहरहाल, विभाग ने खेल-सामग्री के एक विनिर्माता को ज़मीन का यही टुकड़ा व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए आबंटित कर दिया। इससे गाँव वालों में रोष पैदा हुआ और उन्होंने सरकार के इस कदम का विरोध किया। यह विरोध बड़ी जल्दी उत्तराखंड के अन्य इलाकों में भी फैल गया। क्षेत्र की पारिस्थितिकी और आर्थिक शोषण के कहीं बड़े सवाल उठने लगे। गाँववासियों ने माँग की कि

साभार: अनुपम मिश्र

यहाँ दिए गए दो चित्र चिपको आंदोलन में संघर्ष के दिनों के साक्षी हैं। ग़ौर कीजिए कि इस आंदोलन में महिलाओं ने पूरी दृढ़ता के साथ भाग लिया था और इस आंदोलन को एक नयी दिशा दी थी।

© NCERT not to be republished

जंगल की कटाई का कोई भी ठेका बाहरी व्यक्ति को नहीं दिया जाना चाहिए और स्थानीय लोगों का जल, जंगल, जमीन जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर कारगर नियंत्रण होना चाहिए। लोग चाहते थे कि सरकार लघु-उद्योगों के लिए कम कीमत की सामग्री उपलब्ध कराए और इस क्षेत्र के पारिस्थितिकी संतुलन को नुकसान पहुँचाए बगैर यहाँ का विकास सुनिश्चित करे। आंदोलन ने भूमिहीन वन कर्मचारियों का आर्थिक मुद्दा भी उठाया और न्यूनतम मज़दूरी की गारंटी की माँग की।

चिपको आंदोलन में महिलाओं ने सक्रिय भागीदारी की। यह आंदोलन का एकदम नया पहलू था। इलाके में सक्रिय जंगल कटाई के ठेकेदार यहाँ के पुरुषों को शराब की आपूर्त्ति का भी व्यवसाय करते थे। महिलाओं ने शराबखोरी की लत के खिलाफ़ भी लगातार आवाज़ उठायी। इससे आंदोलन का दायरा विस्तृत हुआ और उसमें कुछ और सामाजिक मसले आ जुड़े। आखिरकार इस आंदोलन को सफलता मिली और सरकार ने पंद्रह सालों के लिए हिमालयी क्षेत्र में पेड़ों की कटाई पर रोक लगा दी ताकि इस अवधि में क्षेत्र का वनाच्छादन फिर से ठीक अवस्था में आ जाए। बहरहाल, बात इस आंदोलन की सफलता की तो है ही, साथ ही हमें यह भी याद रखना होगा कि यह आंदोलन सत्तर के दशक और उसके बाद के सालों में देश के विभिन्न भागों में उठे अनेक जन आंदोलनों का प्रतीक बन गया। इस अध्याय में हम ऐसे ही कुछ आंदोलनों के बारे में पढ़ेंगे।

दल-आधारित आंदोलन

जन आंदोलन कभी सामाजिक तो कभी राजनीतिक आंदोलन का रूप ले सकते हैं और अकसर ये आंदोलन दोनों ही रूपों के मेल से बने नज़र आते हैं। उदाहरण के लिए, हम अपने स्वाधीनता आंदोलन को ही लें। यह मुख्य रूप से राजनीतिक आंदोलन था लेकिन हम जानते हैं कि औपनिवेशिक दौर में सामाजिक-आर्थिक मसलों पर भी विचार मंथन चला जिससे अनेक स्वतंत्र सामाजिक आंदोलनों का जन्म हुआ, जैसे-जाति प्रथा विरोधी आंदोलन, किसान सभा आंदोलन और मज़दूर संगठनों के आंदोलन। ये आंदोलन बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में अस्तित्व में आए। इन आंदोलनों ने सामाजिक संघर्षों के कुछ अंदरूनी मुद्दे उठाए।

ऐसे कुछ आंदोलन आज़ादी के बाद के दौर में भी चलते रहे। मुंबई, कोलकाता और कानपुर जैसे बड़े शहरों के औद्योगिक मज़दूरों के बीच मज़दूर संगठनों के आंदोलन का बड़ा ज़ोर था। सभी बड़ी पार्टियों ने इस तबके के मज़दूरों को लामबंद करने के लिए अपने-अपने मज़दूर संगठन बनाए। आज़ादी के बाद के शुरुआती सालों में आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र के किसान कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में लामबंद हुए। इन्होंने काश्तकारों के बीच ज़मीन के पुनर्वितरण की माँग की। आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल और बिहार के कुछ भागों में किसान तथा खेतिहर मज़दूरों ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में अपना विरोध जारी रखा।

आप मार्क्सवादी-लेनिनवादी समूहों के बारे में पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। इन्हें 'नक्सलवादी' के नाम से जाना गया। किसान और मज़दूरों के आंदोलन का मुख्य ज़ोर आर्थिक अन्याय तथा असमानता के मसले पर रहा। ऐसे आंदोलनों ने औपचारिक रूप से चुनावों में भाग तो नहीं लिया लेकिन राजनीतिक दलों से इनका नज़दीकी रिश्ता कायम हुआ। इन आंदोलनों में शरीक कई व्यक्ति और संगठन राजनीतिक दलों से सक्रिय रूप से जुड़े। ऐसे जुड़ावों से दलगत राजनीति में विभिन्न सामाजिक तबकों की बेहतर नुमाइंदगी सुनिश्चित हुई।

© NCERT not to be republished

राजनीतिक दलों से स्वतंत्र आंदोलन

'सत्तर' और 'अस्सी' के दशक में समाज के कई तबकों का राजनीतिक दलों के आचार-व्यवहार से मोहभंग हुआ। इसका तात्कालिक कारण तो यही था कि जनता पार्टी के रूप में गैर-कांग्रेसवाद का प्रयोग कुछ खास नहीं चल पाया और इसकी असफलता से राजनीतिक अस्थिरता का माहौल भी कायम हुआ था। लेकिन, अगर कारणों की खोज ज़रा दूर तक करें तो पता चलेगा कि सरकार की आर्थिक नीतियों से भी लोगों का मोहभंग हुआ था। देश ने आज़ादी के बाद नियोजित विकास (Planned Development) का मॉडल अपनाया था। इस मॉडल को अपनाने के पीछे दो लक्ष्य थे–आर्थिक संवृद्धि और आय का समतापूर्ण बँटवारा। आप इसके बारे में तीसरे अध्याय में पढ़ चुके हैं। आज़ादी के शुरुआती 20 सालों में अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में उल्लेखनीय संवृद्धि हुई, लेकिन इसके बावजूद गरीबी और असमानता बड़े पैमाने पर बरकरार रही। आर्थिक संवृद्धि के लाभ समाज के हर तबके को समान मात्रा में नहीं मिले। जाति और लिंग पर आधारित सामाजिक असमानताओं ने गरीबी के मसले को और ज़्यादा जटिल तथा धारदार बना दिया। शहरी-औद्योगिक क्षेत्र तथा ग्रामीण कृषि-क्षेत्र के बीच भी एक न पाटी जा सकने वाली फाँक पैदा हुई। समाज के विभिन्न समूहों के बीच अपने साथ हो रहे अन्याय और वंचना का भाव प्रबल हुआ।

राजनीतिक धरातल पर सक्रिय कई समूहों का विश्वास लोकतांत्रिक संस्थाओं और चुनावी राजनीति से उठ गया। ये समूह दलगत राजनीति से अलग हुए और अपने विरोध को स्वर देने के लिए इन्होंने आवाम को लामबंद करना शुरू किया। इस काम में छात्र तथा समाज के विभिन्न तबकों के राजनीतिक कार्यकर्ता आगे आए और दलित तथा आदिवासी जैसे हाशिए पर धकेल दिए गए समूहों को लामबंद करना शुरू किया। मध्यवर्ग के युवा कार्यकर्ताओं ने गाँव के गरीब लोगों के बीच रचनात्मक कार्यक्रम तथा सेवा संगठन चलाए। इन संगठनों के सामाजिक कार्यों की प्रकृति स्वयंसेवी थी इसलिए इन संगठनों को स्वयंसेवी संगठन या स्वयंसेवी क्षेत्र के संगठन कहा गया।

ऐसे स्वयंसेवी संगठनों ने अपने को दलगत राजनीति से दूर रखा। स्थानीय अथवा क्षेत्रीय स्तर पर ये संगठन न तो चुनाव लड़े और न ही इन्होंने किसी एक राजनीतिक दल को अपना समर्थन दिया। ऐसे अधिकांश संगठन राजनीति में विश्वास करते थे और उसमें भागीदारी भी करना चाहते थे, लेकिन इन्होंने राजनीतिक भागीदारी के लिए राजनीतिक दलों को नहीं चुना। इसी कारण इन संगठनों को 'स्वतंत्र राजनीतिक संगठन' कहा जाता है। इन संगठनों का मानना था कि स्थानीय मसलों के समाधान में स्थानीय नागरिकों की सीधी और सक्रिय भागीदारी राजनीतिक दलों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा कारगर होगी। इन संगठनों का विश्वास था कि लोगों की सीधी भागीदारी से लोकतांत्रिक सरकार की प्रकृति में सुधार आएगा।

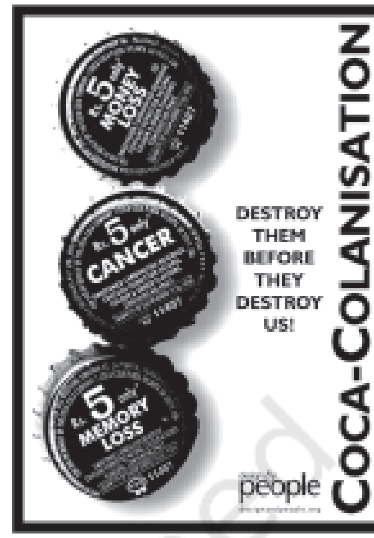

साभार: डिज़ाइन एंड पीपल

जन आंदोलनों में अकसर अपने सरोकारों को ज़ाहिर करने के लिए पोस्टरों का इस्तेमाल होता है। बहुधा ये पोस्टर बड़े कल्पनाशील और सुंदर ढंग से बने होते हैं। यहाँ ऐसे ही कुछ पोस्टरों की एक बानगी दी गई है। देखें (ऊपर से नीचे क्रमवार) पहला पोस्टर कोका कोला संयंत्र के विरोध में बनाया गया; दूसरा पोस्टर एक राजमार्ग के निर्माण के प्रति विरोध जताने के लिए तैयार किया गया है। तीसरा पोस्टर पेरियार नदी को बचाने के एक अभियान से संबंधित है।

© NCERT not to be republished

नामदेव ढसाल

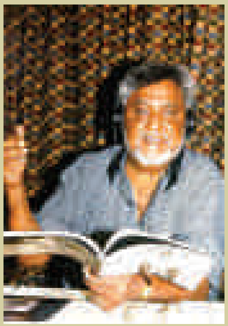

सदियों तक सफर किया उन लोगों ने/सूरज की तरफ़ पीठ किए
लेकिन अब, हमें कहना है 'ना'/अंधेरे की इस पथयात्रा से।
हाँ! हमारे पुरखे-अँधेरे को ढोते-ढोते झुक गए
लेकिन अब, हमें उतारना है बोझ उनकी पीठ से।
इस अनुपम नगर के लिए ही बिखरा था हमारा लहू
और बदले में यह मिला-खाने को पत्थर!
लेकिन अब, हमें ढाहनी ही होगी/यह इमारत जो चूम रही आकाश को।
हज़ारों बरस बाद मिला हमें/वह सूरजमुखी आशीषों वाला फ़कीर
अब, हाँ अब! सूरजमुखी की तरह हमें भी/घुमाना ही होगा मुख अपना सूरज की तरफ़।

– नामदेव ढसाल कृत *गोलपीठ* की मराठी कविता का हिंदी अनुवाद

अब भी ऐसे स्वयंसेवी संगठन शहरी और ग्रामीण इलाकों में लगातार सक्रिय हैं। बहरहाल, अब इनकी प्रकृति बदल गई है। बाद के समय में ऐसे अनेक संगठनों का वित्त-पोषण विदेशी एजेंसियों से होने लगा। ऐसी एजेंसियों में अंतर्राष्ट्रीय स्तर की सर्विस-एजेंसियाँ भी शामिल हैं। इन संगठनों को बड़े पैमाने पर अब विदेशी धनराशि प्राप्त होती है जिससे स्थानीय पहल का आदर्श कुछ कमज़ोर हुआ है।

दलित पैंथर्स

मराठी के प्रसिद्ध कवि नामदेव ढसाल की इस कविता को पढ़िए। क्या आप बता सकते हैं कि इस कविता में आए 'अँधेरे की पथयात्रा' और 'सूरजमुखी आशीषों वाला फकीर' के क्या अर्थ हैं? 'अँधेरे की पथयात्रा' से संकेत दलित समुदाय की ओर किया गया है। इस समुदाय ने हमारे समाज में लंबे समय तक क्रूरतापूर्ण जातिगत अन्याय को भुगता है। कवि ने इस समुदाय के मुक्तिदाता डॉ. अंबेडकर को इंगित करने के लिए 'सूरजमुखी आशीषों वाला फ़कीर' पद का प्रयोग किया है। महाराष्ट्र के दलित-कवियों ने सत्तर के दशक में ऐसी अनेक कविताएँ लिखीं। आज़ादी के बीस साल बाद भी दलित समुदाय को पीड़ा के अनुभवों से गुज़रना पड़ रहा था और उनकी इस पीड़ा तथा आक्रोश की अभिव्यक्ति इन कविताओं में हुई। बहरहाल, दलित समुदाय अपने लिए एक सुंदर भविष्य की आशा से भरा हुआ था– एक ऐसा भविष्य जिसे दलित समुदाय स्वयं अपने हाथों से गढ़े। आप सामाजिक-आर्थिक बदलावों को लेकर डॉ. अंबेडकर के स्वप्न और हिंदू जाति-व्यवस्था के ढाँचे से बाहर दलितों को एक गरिमापूर्ण स्थान दिलाने के उनके जुझारू संघर्ष की बातों को जान चुके हैं। ऐसे में आश्चर्य नहीं कि दलित मुक्ति से प्रेरित अधिकांश रचनाओं में डॉ. अंबेडकर का वर्णन एक प्रेरणा-पुरुष के रूप में मिलता है।

क्या दलितों की स्थिति इसके बाद से ज़्यादा बदल गई है? दलितों पर अत्याचार की घटनाओं के बारे में मैं रोज़ाना सुनती हूँ। क्या यह आंदोलन असफल रहा? या, यह पूरे समाज की असफलता है?

उदय

सातवें दशक के शुरुआती सालों से शिक्षित दलितों की पहली पीढ़ी ने अनेक मंचों से अपने हक की आवाज़ उठायी। इनमें ज़्यादातर शहर की झुग्गी-बस्तियों में पलकर बड़े हुए दलित थे। दलित हितों की दावेदारी के इसी क्रम में महाराष्ट्र में 1972 में दलित युवाओं का एक संगठन 'दलित पैंथर्स' बना। आज़ादी के बाद के सालों में दलित समूह मुख्यतया जाति-आधारित असमानता और भौतिक साधनों के मामले में अपने साथ हो रहे अन्याय के खिलाफ़ लड़

रहे थे। वे इस बात को लेकर सचेत थे कि संविधान में जाति-आधारित किसी भी तरह के भेदभाव के विरुद्ध गारंटी दी गई है। आरक्षण के कानून तथा सामाजिक न्याय की ऐसी ही नीतियों का कारगर क्रियान्वयन इनकी प्रमुख माँग थी।

आप जानते हैं कि भारतीय संविधान में छुआछूत की प्रथा को समाप्त कर दिया गया है। सरकार ने इसके अंतर्गत 'साठ' और 'सत्तर' के दशक में कानून बनाए। इसके बावजूद पुराने जमाने में जिन जातियों को अछूत माना गया था, उनके साथ इस नए दौर में भी सामाजिक भेदभाव तथा हिंसा का बरताव कई रूपों में जारी रहा। दलितों की बस्तियाँ मुख्य गाँव से अब भी दूर होती थीं। दलित महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार होते थे। जातिगत प्रतिष्ठा की छोटी-मोटी बात को लेकर दलितों पर सामूहिक ज़ुल्म ढाये जाते थे। दलितों के सामाजिक और आर्थिक उत्पीड़न को रोक पाने में कानून की व्यवस्था नाकाफ़ी साबित हो रही थी। दूसरी तरफ़, दलित जिन राजनीतिक दलों का समर्थन कर रहे थे जैसे-रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया, वे चुनावी राजनीति में सफल नहीं हो पा रही थीं। ये पार्टियाँ हाशिए पर रहती थीं, चुनाव जीतने के लिए इन्हें किसी दूसरी पार्टी के साथ गठजोड़ करना पड़ता था। ये पार्टियाँ लगातार टूट की भी शिकार हुईं। इन वजहों से 'दलित पैंथर्स' ने दलित अधिकारों की दावेदारी करते हुए जन-कार्रवाई का रास्ता अपनाया।

साभार: अनहद एवं एनसीईआरटी

'रंग भेद' यानी 'अलगाव' जातिगत भेदभाव की सरकारी नीति का द्योतक है जो बीसवीं सदी में दक्षिण अफ्रीका में प्रचलित था। इसे यहाँ अप्रत्यक्ष रंग भेद क्यों कहा गया है? क्या इसके कुछ अन्य उदाहरण हैं?

गतिविधि

महाराष्ट्र के विभिन्न इलाकों में दलितों पर बढ़ रहे अत्याचार से लड़ना दलित पैंथर्स की अन्य मुख्य गतिविधि थी। दलित पैंथर्स तथा इसके समधर्मा संगठनों ने दलितों पर हो रहे अत्याचार के मुद्दे पर लगातार विरोध आंदोलन चलाया। इसके परिणामस्वरूप सरकार ने 1989 में एक व्यापक कानून बनाया। इस कानून के अंतर्गत दलित पर अत्याचार करने वाले के लिए कठोर दंड का प्रावधान किया गया। दलित पैंथर्स का बृहत्तर विचारधारात्मक एजेंडा जाति प्रथा को समाप्त करना तथा भूमिहीन गरीब किसान, शहरी औद्योगिक मज़दूर और दलित सहित सारे वंचित वर्गों का एक संगठन खड़ा करना था।

इस आंदोलन से पढ़े-लिखे दलित युवकों को एक मंच मिला जहाँ वे अपनी सर्जनशीलता का उपयोग प्रतिरोध की आवाज़ बनाकर कर सकते थे। इस दौर में अनेक आत्मकथाएँ तथा अन्य साहित्य रचनाएँ प्रकाशित हुईं। इन रचनाओं में दलित लेखकों ने जाति-प्रथा की क्रूरता की ज़बर्दस्त मुखालफ़त की।

भारतीय समाज के सबसे दबे-कुचले तबके के जीवन के अनुभव इन रचनाओं में दर्ज थे। इन रचनाओं से मराठी भाषा के साहित्य में ज़बर्दस्त हिलोर उठी। साहित्य का दायरा अब ज़्यादा विस्तृत हुआ। उसमें समाज के विभिन्न वर्गों की नुमाइंदगी हुई और संस्कृति के धरातल पर एक टकराहट की शुरुआत हुई। आपातकाल के बाद के दौर में दलित पैंथर्स ने चुनावी समझौते किए। उसमें कई विभाजन भी हुए और यह संगठन राजनीतिक पतन का शिकार हुआ। बैकवर्ड एंड माइनॉरिटी एम्पलाईज़ फेडरेशन (बामसेफ) ने दलित पैंथर्स की अवनति से उत्पन्न रिक्त स्थान की पूर्ति की।

भारतीय किसान यूनियन

सत्तर के दशक से भारतीय समाज में कई तरह के असंतोष पैदा हुए। यहाँ तक कि समाज के जिन तबकों को विकास प्रक्रिया में कुछ लाभ हुआ था उनमें भी सरकार और राजनीतिक दलों के प्रति नाराज़गी थी। अस्सी के दशक का कृषक-संघर्ष इसका एक उदाहरण है जब अपेक्षाकृत धनी किसानों ने सरकार की नीतियों का विरोध किया।

उदय

1988 के जनवरी में उत्तर प्रदेश के एक शहर मेरठ में लगभग बीस हज़ार किसान जमा हुए। ये किसान सरकार द्वारा बिजली की दर में की गई बढ़ोतरी का विरोधी कर रहे थे। किसान ज़िला समाहर्ता के दफ्तर के बाहर तीन हफ्तों तक डेरा डाले रहे। इसके बाद इनकी माँग मान ली गई। किसानों का यह बड़ा अनुशासित धरना था और जिन दिनों वे धरने पर बैठे थे उन दिनों आस-पास के गाँवों से उन्हें निरंतर राशन-पानी मिलता रहा। मेरठ के इस धरने को ग्रामीण शक्ति का या कहें कि काश्तकारों की शक्ति का एक बड़ा प्रदर्शन माना गया। धरने पर बैठे किसान, भारतीय किसान यूनियन (बीकेयू) के सदस्य थे। बीकेयू पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा के किसानों का एक संगठन था। यह अस्सी के दशक के किसान आंदोलन के अग्रणी संगठनों में एक था।

साभार: हिंदुस्तान टाइम्स

पंजाब में भारतीय किसान यूनियन की एक रैली

तीसरे अध्याय में आपने पढ़ा था कि सरकार ने जब 'हरित क्रांति' की नीति अपनाई तो 1960 के दशक के अंतिम सालों से हरियाणा, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसानों को फ़ायदा होना शुरू हो गया। इसके बाद के सालों से इन इलाकों में गन्ना और गेहूँ मुख्य नगदी फ़सल बने। 1980 के दशक के उत्तरार्ध से भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के प्रयास हुए और इस क्रम में नगदी फ़सल के बाज़ार को संकट का सामना करना पड़ा। भारतीय किसान यूनियन ने गन्ने और गेहूँ के सरकारी खरीद मूल्य में बढ़ोतरी करने, कृषि उत्पादों के अंतर्राज्यीय आवाजाही पर लगी पाबंदियाँ हटाने, समुचित दर पर गारंटीशुदा बिजली आपूर्ति करने, किसानों के बक़ाया कर्ज़ माफ करने तथा किसानों के लिए पेंशन का प्रावधान करने की माँग की।

ऐसी माँगें देश के अन्य किसान संगठनों ने भी उठाईं। महाराष्ट्र के शेतकारी संगठन ने किसानों के आंदोलन को 'इंडिया' की ताकतों (यानी शहरी औद्योगिक क्षेत्र) के खिलाफ़ 'भारत' (यानी ग्रामीण कृषि क्षेत्र) का संग्राम करार दिया। आप तीसरे अध्याय में यह बात पढ़ ही चुके हैं कि भारत में अपनाए गए विकास के मॉडल से जुड़े विवादों में कृषि बनाम उद्योग का विवाद प्रमुख था। यही विवाद अस्सी के दशक में एक बार फिर उठा जब उदारीकरण की आर्थिक नीतियों के कारण कृषि क्षेत्र पर खतरे मँडराने लगे थे।

विशेषताएँ

सरकार पर अपनी माँगों को मानने के लिए दबाव डालने के क्रम में बीकेयू ने रैली, धरना, प्रदर्शन और जेल भरो अभियान का सहारा लिया। इन कार्रवाइयों में पश्चिमी उत्तर प्रदेश और उसके आस-पास के इलाके के गाँवों के हज़ारों-हज़ार (कभी-कभी तो एक लाख से भी ज़्यादा) किसानों ने भाग लिया। पूरे अस्सी के दशक भर बीकेयू ने राज्य के अनेक जिला मुख्यालयों पर इन किसानों की विशाल रैली आयोजित की। देश की राजधानी दिल्ली में भी बीकेयू ने रैली का आयोजन किया। इस लामबंदी का एक नया पक्ष यह था कि इसमें किसानों के जातिगत जुड़ाव का इस्तेमाल किया गया था। बीकेयू के अधिकांश सदस्य एक खास समुदाय के थे। इस संगठन ने जातिगत समुदायों को आर्थिक मसले पर एकजुट करने के लिए 'जाति-पंचायत' की परंपरागत संस्था का उपयोग किया। किसी औपचारिक सांगठनिक ढाँचे के अभाव के बावजूद बीकेयू अपने को लंबे समय तक कायम रख सका क्योंकि यह संगठन अपने सदस्यों के जातिगत-वंशगत संपर्क-जाल पर आधारित था। बीकेयू के लिए धनराशि और संसाधन इन्हीं संपर्कतंत्रों से जुटाए जाते थे और इन्हीं के सहारे बीकेयू की गतिविधियाँ भी संचालित होती थीं।

1990 के दशक के शुरुआती सालों तक बीकेयू ने अपने को सभी राजनीतिक दलों से दूर रखा था। यह अपने सदस्यों के संख्या बल के दम पर राजनीति में एक दबाव समूह की तरह सक्रिय था। इस संगठन ने राज्यों में मौजूद अन्य किसान संगठनों को साथ लेकर अपनी कुछ माँगें मनवाने में सफलता पाई। इस अर्थ में किसान आंदोलन अस्सी के दशक में सबसे ज़्यादा सफल सामाजिक आंदोलन था। इस आंदोलन की सफलता के पीछे इसके सदस्यों की राजनीतिक मोल-भाव की क्षमता का हाथ था। यह आंदोलन मुख्य रूप से देश के समृद्ध राज्यों में सक्रिय था। खेती को अपनी जीविका का आधार बनाने वाले अधिकांश भारतीय किसानों के विपरीत बीकेयू

बीकेयूः कृषि को डब्ल्यूटीओ से बाहर रखे सरकार

कार्यालय संवाददाता

मैसूरः 15 फरवरी– भारतीय किसान यूनियन ने चेतावनी दी है कि अगर भारत ने कृषि को विश्व व्यापार संगठन के दायरे से बाहर रखने के लिए ज़रूरी कदम नहीं उठाए तो देश को इसके सामाजिक-आर्थिक परिणाम भुगतने होंगे।

यूनियन के प्रमुख महेन्द्र सिंह टिकैत और इसकी राष्ट्रीय समायोजन समिति के संयोजक एम. युद्धवीर सिंह ने आज यहाँ एक प्रेस-सम्मेलन में चेताया कि अगर भारत विश्व व्यापार संगठन के कायदे-कानूनों को मान लेता है तो यह उसके लिए खतरनाक होगा। विश्व व्यापार संगठन की अगले दौर की बैठक नवंबर में हाँगकाँग में होने वाली है। नेताओं ने कहा कि सरकार पर दबाव डालने के लिए आगामी 17 मार्च को नयी दिल्ली में रैली निकाली जाएगी ताकि सरकार खेती से संबंधित विश्व व्यापार संगठन के कानूनों के आगे घुटने न टेके। रैली में देश के विभिन्न हिस्सों से लगभग पाँच लाख किसानों के आने की उम्मीद है। रैली के बाद बीकेयू पूरे देश में विश्व व्यापार संगठन के खिलाफ़ आंदोलन चलाएगा।

साभारः द हिन्दू, 16 फरवरी 2005

© NCERT not to be republished

नेशनल फिशवर्कर्स फोरम

क्या आप जानते हैं कि मछुआरों की संख्या के लिहाज़ से भारत का विश्व में दूसरा स्थान है? अपने देश के पूर्वी और पश्चिमी, दोनों ही तटीय इलाकों में देसी मछुआरा समुदायों के हज़ारों-हज़ार परिवार मछली मारने के पेशे में संलग्न हैं। सरकार ने जब मशीनीकृत मत्स्य-आखेट और भारतीय समुद्र में बड़े पैमाने पर मत्स्य-दोहन के लिए 'बॉटम ट्राऊलिंग' जैसे प्रौद्योगिकी के उपयोग की अनुमति दी तो मछुआरों के जीवन और आजीविका के आगे संकट आ खड़ा हुआ। पूरे सत्तर और अस्सी के दशक के दौरान मछुआरों के स्थानीय स्तर के संगठन अपनी आजीविका के मसले पर राज्य सरकारों से लड़ते रहे। चूँकि मत्स्य-आखेट राज्य-सूची का विषय है इसलिए मछुआरे ज़्यादातर क्षेत्रीय-स्तर पर ही लामबंद हुए।

1980 के दशक के मध्यवर्ती वर्षों में आर्थिक उदारीकरण की नीति की शुरुआत हुई तो बाध्य होकर मछुआरों के स्थानीय संगठनों ने अपना एक राष्ट्रीय मंच बनाया। इसका नाम 'नेशनल फिशवर्कर्स फोरम' (एन.एफ.एफ.) रखा गया। केरल के मछुआरों ने अपने हमपेशा साथियों को लामबंद करने की मुख्य ज़िम्मेवारी सँभाली। इसके अंतर्गत दूसरे राज्यों की हमपेशा महिलाओं को भी अपने साथ लामबंद करने का जिम्मा शामिल था। नेशनल फिशवर्कर्स फोरम ने 1997 में केंद्र सरकार के साथ अपनी पहली कानूनी लड़ाई लड़ी और इसमें उसे सफलता मिली। इस क्रम में इसके कामकाज ने एक ठोस रूप भी ग्रहण किया। एनएफएफ की यह लड़ाई सरकार की एक खास नीति के खिलाफ़ थी। केंद्र सरकार की इस नीति के अंतर्गत व्यावसायिक जहाज़ों को गहरे समुद्र में मछली मारने की इजाज़त दी गई थी। इस नीति के कारण अब बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए भी इस क्षेत्र के दरवाज़े खुल गए थे। पूरे 1990 के दशक में एनएफएफ ने केंद्र सरकार के साथ अनेक कानूनी लड़ाइयाँ लड़ीं और सार्वजनिक संघर्ष किया। इस मंच ने उन लोगों के हितों की रक्षा के प्रयास किए जो अपने जीवनयापन के लिए मछली मारने के पेशे से जुड़े थे न कि उनके, जो इस क्षेत्र में महज लाभ के लिए निवेश करते हैं। सन् 2002 के जुलाई में एनएफएफ ने एक राष्ट्रव्यापी हड़ताल का आह्वान किया। हड़ताल का यह आह्वान विदेशी कंपनियों को सरकार द्वारा मछली मारने के लाइसेंस जारी करने के विरोध में किया गया था। एनएफएफ ने पारिस्थितिकी की रक्षा और मछुआरों के जीवन को बचाने के लिए विश्वभर के समधर्मा संगठनों के साथ हाथ मिलाया है।

जैसे संगठनों के सदस्य बाज़ार के लिए नगदी फ़सल उपजाते थे। बीकेयू के समान राज्यों के अन्य किसान संगठनों ने अपने सदस्य उन समुदायों के बीच से बनाए जिनका क्षेत्र की चुनावी राजनीति में रसूख था। महाराष्ट्र का शेतकारी संगठन और कर्नाटक का रैयत संघ ऐसे किसान संगठनों के जीवंत उदाहरण हैं।

साभार: ज़ुबान

महिलाओं ने शराब माफ़िया को हराया

चित्तूर ज़िले के कलिनारी मंडल स्थित गुंडलुर गाँव की महिलाएँ अपने गाँव में ताड़ी की बिक्री पर पाबंदी लगाने के लिए एकजुट हुईं। उन्होंने अपनी बात गाँव के ताड़ी विक्रेता तक पहुँचाई। महिलाओं ने गाँव में ताड़ी लाने वाली जीप को वापस लौटने पर मज़बूर कर दिया। जब गाँव के ताड़ी-विक्रेता ने ठेकेदार को इसकी सूचना दी तो ठेकेदार ने उसके साथ गुंडों का एक दल भेजा। गाँव की महिलाएँ इससे भी नहीं डरीं। ठेकेदार ने पुलिस को बुलाया लेकिन पुलिस भी पीछे हट गई। एक सप्ताह बाद ताड़ी की बिक्री का विरोध करने वाली महिलाओं पर ठेकेदार के गुंडो ने सरियों और घातक हथियारों से हमला किया। लेकिन गुंडों के हमले के बावजूद महिलाओं की एकजुटता बरकरार रही और अंततः ठेकेदार और उसके गुंडों को हार माननी पड़ी। फिर महिलाओं ने तीन जीप ताड़ी को फेंक दिया।

(29 अक्तूबर, 1992 को *इनाडु* में छपी खबर पर आधारित)

ताड़ी-विरोधी आंदोलन

जब बीकेयू उत्तर में किसानों को लामबंद कर रहा था उसी समय एक अलग तरह का आंदोलन दक्षिणी राज्य आंध्र प्रदेश में आकार ले रहा था। यह महिलाओं का एक स्वतःस्फूर्त आंदोलन था। ये महिलाएँ अपने आस-पड़ोस में मदिरा की बिक्री पर पाबंदी की माँग कर रही थीं।

वर्ष 1992 के सितंबर और अक्तूबर माह में इस तरह की खबरें तेलुगु प्रेस में लगभग रोज़ दिखती थी। गाँव का नाम बदल जाता पर खबर वैसी ही होती। ग्रामीण महिलाओं ने शराब के खिलाफ़ लड़ाई छेड़ रखी थी। यह लड़ाई माफ़िया और सरकार दोनों के खिलाफ़ थी। इस आंदोलन ने ऐसा रूप धारण किया कि इसे राज्य में ताड़ी-विरोधी आंदोलन के रूप में जाना गया।

हमें इस तरह की अच्छी-अच्छी कहानियाँ तो सुनाई जाती हैं लेकिन हमें कभी यह नहीं बताया जाता कि इन कहानियों का अंत कैसा रहा। क्या यह आंदोलन शराबबंदी में सफ़ल हो पाया? या पुरुषों ने एक समय के बाद फिर पीना शुरू कर दिया?

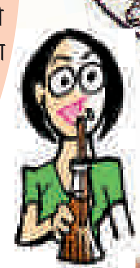

साभार: ज़ुबान

उदय

आंध्र प्रदेश के नेल्लौर ज़िले के एक दूर-दराज के गाँव दुबरगंटा में 1990 के शुरुआती दौर में महिलाओं के बीच प्रौढ़-साक्षरता कार्यक्रम चलाया गया जिसमें महिलाओं ने बड़ी संख्या में पंजीकरण कराया। कक्षाओं में महिलाएँ घर के पुरुषों द्वारा देशी शराब, ताड़ी आदि पीने की शिकायतें करती थीं। ग्रामीणों को शराब की गहरी लत लग चुकी थी। इसके चलते वे शारीरिक और मानसिक रूप से भी कमज़ोर हो गए थे। शराबखोरी से क्षेत्र की ग्रामीण अर्थव्यवस्था बुरी तरह प्रभावित हो रही थी। शराबखोरी के बढ़ने से कर्ज़ का बोझ बढ़ा। पुरुष अपने काम से लगातार गैर-हाज़िर रहने लगे। शराब के ठेकेदार मदिरा व्यापार पर एकाधिकार बनाये रखने के लिए अपराधों में व्यस्त थे। शराबखोरी से सबसे ज़्यादा दिक्कत महिलाओं को हो रही थी। इससे परिवार की अर्थव्यवस्था चरमराने लगी। परिवार में तनाव और मारपीट का माहौल बनने लगा।

साभार: द हिंदू

हैदराबाद (1992) : ताड़ी की बिक्री के विरोध में महिलाओं का विरोध प्रदर्शन।

नेल्लोर में महिलाएँ ताड़ी की बिक्री के खिलाफ़ आगे आईं और उन्होंने शराब की दुकानों को बंद कराने के लिए दबाव बनाना शुरू कर दिया। यह खबर तेज़ी से फैली और करीब 5000 गाँवों की महिलाओं ने आंदोलन में भाग लेना शुरू कर दिया। प्रतिबंध संबंधी एक प्रस्ताव को पास कर इसे ज़िला कलेक्टर को भेजा गया। नेल्लोर ज़िले में ताड़ी की नीलामी 17 बार रद्द हुई। नेल्लोर ज़िले का यह आंदोलन धीरे-धीरे पूरे राज्य में फैल गया।

आंदोलन की कड़ियाँ

ताड़ी-विरोधी आंदोलन का नारा बहुत साधारण था-'ताड़ी की बिक्री बंद करो।' लेकिन इस साधारण नारे ने क्षेत्र के व्यापक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों तथा महिलाओं के जीवन को गहरे प्रभावित किया। ताड़ी व्यवसाय को लेकर अपराध एवं राजनीति के बीच एक गहरा नाता बन गया था। राज्य सरकार को ताड़ी की बिक्री से काफ़ी राजस्व की प्राप्ति होती थी इसलिए वह इस पर प्रतिबंध नहीं लगा रही थी। स्थानीय महिलाओं के समूहों ने इस जटिल मुद्दे को अपने आंदोलन में उठाना शुरू किया। वे घरेलू हिंसा के मुद्दे पर भी खुले तौर पर चर्चा करने लगीं। आंदोलन ने पहली बार महिलाओं को घरेलू हिंसा जैसे निजी मुद्दों पर बोलने का मौका दिया।

इस तरह ताड़ी-विरोधी आंदोलन महिला आंदोलन का एक हिस्सा बन गया। इससे पहले घरेलू हिंसा, दहेज प्रथा, कार्यस्थल एवं सार्वजनिक स्थानों पर यौन-उत्पीड़न के खिलाफ़ काम करने वाले महिला समूह आमतौर पर शहरी मध्यवर्गीय महिलाओं के बीच ही सक्रिय थे और यह बात पूरे देश पर लागू होती थी। महिला समूहों के सतत प्रयास से यह समझदारी विकसित होनी शुरू हुई कि औरतों पर होने वाले अत्याचार और लैंगिक भेदभाव का मामला ख़ासा जटिल है। आठवें दशक के दौरान महिला आंदोलन परिवार के अंदर और उसके बाहर होने वाली यौन हिंसा के मुद्दों पर केंद्रित रहा। इन समूहों ने दहेज प्रथा के खिलाफ़ मुहिम

चलाई और लैंगिक समानता के सिद्धांत पर आधारित व्यक्तिगत एवं संपत्ति कानूनों की माँग की।

इस तरह के अभियानों ने महिलाओं के मुद्दों के प्रति समाज में व्यापक जागरूकता पैदा की। धीरे-धीरे महिला आंदोलन कानूनी सुधारों से हटकर सामाजिक टकराव के मुद्दों पर भी खुले तौर पर बात करने लगा। ऊपर हमने एक ऐसे ही विषय पर बातें की हैं। नवें दशक तक आते-आते महिला आंदोलन समान राजनीतिक प्रतिनिधित्व की बात करने लगा था। आपको ज्ञात ही होगा कि संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के अंतर्गत महिलाओं को स्थानीय राजनीतिक निकायों में आरक्षण दिया गया है। इस व्यवस्था को राज्यों की विधानसभाओं तथा संसद में भी लागू करने की माँग की जा रही है। संसद में इस आशय का एक संशोधन विधेयक भी पेश किया जा चुका है। परंतु विधेयक को अभी तक ज़रूरी समर्थन हासिल नहीं हो पाया है। कुछ गुट जिनमें महिला समूह भी शामिल हैं, प्रस्तुत विधेयक के अंतर्गत दलित और पिछड़े वर्ग की महिलाओं के लिए अलग से आरक्षण की माँग कर रहे हैं।

नर्मदा बचाओ आंदोलन

वे सभी सामाजिक आंदोलन जिनके बारे में हमने अभी तक चर्चा की है, देश में आज़ादी के बाद अपनाए गए आर्थिक विकास के मॉडल पर सवालिया निशान

साभार: इंडिया टुडे

दहेज विरोधी अधिनियम के पक्ष में महिलाओं का प्रदर्शन

सिने-संसार

आक्रोश

भास्कर कुलकर्णी नाम के एक वकील को भीकू लहनिया का मुकदमा लड़ने की ज़िम्मेदारी दी जाती है। आदिवासी भीकू पर अपनी पत्नी की हत्या का आरोप लगाया गया है। भीकू का वकील हत्या के कारणों की तह में जाना चाहता है लेकिन भीकू और उसका परिवार इस मामले में चुप्पी साधे रखते हैं। कुछ समय के बाद वकील पर हमला हो जाता है। इसके बाद एक सामाजिक कार्यकर्ता, भास्कर को हत्या के समूचे प्रकरण के बारे में जानकारी देता है।

लेकिन इसके बाद यह सामाजिक कार्यकर्ता गायब हो जाता है और भीकू के पिता की मृत्यु हो जाती है। भीकू को अपने पिता के दाह संस्कार में शामिल होने की अनुमति दी जाती है। यह वह बिंदु है जहाँ भीकू की चुप्पी टूट जाती है। प्रस्तुत फ़िल्म दलित वर्ग की अमानवीय जीवन परिस्थितियों का मुआयना कराती है और इस तथ्य को बहुत स्पष्टता के साथ सामने लाती है कि वर्चस्वशाली ताकतों का विरोध करना कितना मुश्किल होता है।

वर्ष : 1980
निर्देशक : गोविंद निहलानी
कहानी : विजय तेंदुलकर
पटकथा : सत्यदेव दुबे
अभिनय : नसीरुद्दीन शाह, ओमपुरी, स्मिता पाटिल, नाना पाटेकर, महेश एलकुंचवार

© NCERT not to be republished

लगाते रहे हैं। एक ओर जहाँ चिपको आंदोलन ने इस मॉडल में निहित पर्यावरणीय विनाश के मुद्दे को सामने रखा, वहीं दूसरी ओर, किसानों ने कृषि क्षेत्र की अनदेखी पर रोष प्रकट किया। इसी तरह जहाँ दलित समुदायों की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ उन्हें जन-संघर्षों की ओर ले गईं वहीं ताड़ी-बंदी आंदोलन ने विकास के नकारात्मक पहलुओं की ओर इशारा किया।

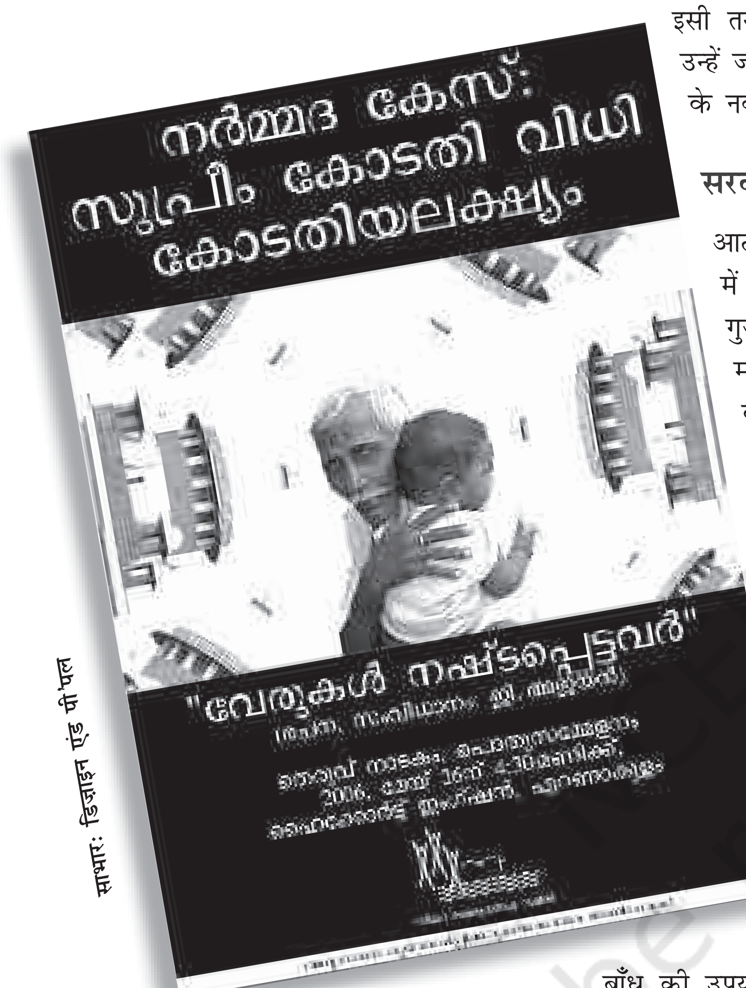

साभार: डिज़ाइन एंड पी पल

नर्मदा बचाओ आंदोलन के समर्थन में जारी किया गया एक पोस्टर

सरदार सरोवर परियोजना

आठवें दशक के प्रारंभ में भारत के मध्य भाग में स्थित नर्मदा घाटी में विकास परियोजना के तहत मध्य प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र से गुज़रने वाली नर्मदा और उसकी सहायक नदियों पर 30 बड़े, 135 मझोले तथा 300 छोटे बाँध बनाने का प्रस्ताव रखा गया। गुजरात के सरदार सरोवर और मध्य प्रदेश के नर्मदा सागर बाँध के रूप में दो सबसे बड़ी और बहु-उद्देश्यीय परियोजनाओं का निर्धारण किया गया। नर्मदा नदी के बचाव में नर्मदा बचाओ आंदोलन चला। इस आंदोलन ने बाँधों के निर्माण का विरोध किया। नर्मदा बचाओ आंदोलन इन बाँधों के निर्माण के साथ-साथ देश में चल रही विकास परियोजनाओं के औचित्य पर भी सवाल उठाता रहा है।

सरदार सरोवर परियोजना के अंतर्गत एक बहु-उद्देश्यीय विशाल बाँध बनाने का प्रस्ताव है। बाँध समर्थकों का कहना है कि इसके निर्माण से गुजरात के एक बहुत बड़े हिस्से सहित तीन पड़ोसी राज्यों में पीने के पानी, सिंचाई और बिजली के उत्पादन की सुविधा मुहैया कराई जा सकेगी तथा कृषि की उपज में गुणात्मक बढ़ोतरी होगी। बाँध की उपयोगिता इस बात से भी जोड़कर देखी जा रही थी कि इससे बाढ़ और सूखे की आपदाओं पर अंकुश लगाया जा सकेगा। प्रस्तावित बाँध के निर्माण से संबंधित राज्यों के 245 गाँव डूब के क्षेत्र में आ रहे थे। अत: प्रभावित गाँवों के करीब ढाई लाख लोगों के पुनर्वास का मुद्दा सबसे पहले स्थानीय कार्यकर्ताओं ने उठाया। इन गतिविधियों को एक आंदोलन की शक्ल 1988-89 के दौरान मिली जब कई स्थानीय स्वयंसेवी संगठनों ने खुद को नर्मदा बचाओ आंदोलन के रूप में गठित किया।

वाद-विवाद और संघर्ष

नर्मदा आंदोलन अपने गठन की शुरुआत से ही सरदार सरोवर परियोजना को विकास परियोजनाओं के बृहत्तर मुद्दों से जोड़कर देखता रहा है। यह आंदोलन विकास के मॉडल और उसके सार्वजनिक औचित्य पर सवाल उठाता रहा है। आंदोलन की एक मुख्य दलील यह रही है कि अब तक की सभी विकास परियोजनाओं पर हुए खर्च का विश्लेषण किया जाए। आंदोलन के अनुसार परियोजनाओं के लागत विश्लेषण में इस बात का जायजा भी लिया जाना चाहिए कि समाज के विभिन्न वर्गों को इन परियोजनाओं का क्या खामियाजा भुगतना पड़ा है!

not to be republished

आंदोलन के नेतृत्व ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि इन परियोजनाओं का लोगों के पर्यावास, आजीविका, संस्कृति तथा पर्यावरण पर बुरा असर पड़ा है।

शुरुआत में आंदोलन ने यह माँग रखी कि परियोजना से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित सभी लोगों का समुचित पुनर्वास किया जाए। आंदोलन के लोगों ने इन महाकाय विकास परियोजनाओं के निर्माण की प्रक्रिया पर भी सवाल उठाए। नर्मदा बचाओ आंदोलन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि ऐसी परियोजनाओं की निर्णय प्रक्रिया में स्थानीय समुदायों की भागीदारी होनी चाहिए और जल, जंगल, ज़मीन जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर उनका प्रभावी नियंत्रण होना चाहिए। आंदोलन ने एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह भी उठाया कि लोकतंत्र में कुछ लोगों के लाभ के लिए अन्य लोगों को नुकसान क्यों उठाना चाहिए? इस तरह के सवालों से जूझते हुए आंदोलन ने अंततः पुनर्वास की माँग से आगे कदम बढ़ाया। अब आंदोलन बड़े बाँधों की खुली मुखालफ़त करता है।

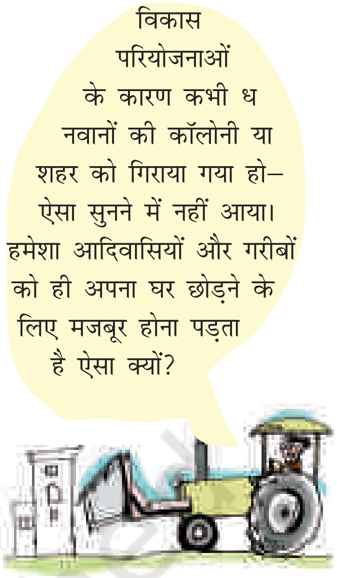

(ऊपर) नर्मदा बचाओ आंदोलन के कार्यकर्ता जलसमाधि लेते हुए (2002)।

(नीचे) नर्मदा बचाओ आंदोलन द्वारा आयोजित एक नाव रैली।

नर्मदा बचाओ आंदोलन के कार्यकर्ताओं का गुजरात जैसे राज्यों में तीव्र विरोध हुआ है। परंतु अब सरकार और न्यायपालिका दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि लोगों को पुनर्वास मिलना चाहिए। सरकार द्वारा 2003 में स्वीकृत राष्ट्रीय पुनर्वास नीति को नर्मदा बचाओ जैसे सामाजिक आंदोलन की उपलब्धि के रूप में देखा जा सकता है। परंतु सफलता के साथ ही नर्मदा बचाओ आंदोलन को बाँध के निर्माण पर रोक लगाने की माँग उठाने पर तीखा विरोध भी झेलना पड़ा है। आलोचकों का कहना है कि आंदोलन का अड़ियल रवैया विकास की प्रक्रिया, पानी की उपलब्धता और आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न कर रहा है। सुप्रीम कोर्ट ने इस मामले में सरकार को बाँध का काम आगे बढ़ाने की हिदायत दी है लेकिन साथ ही उसे यह आदेश भी दिया गया है कि प्रभावित लोगों का पुनर्वास सही ढंग से किया जाए। नर्मदा बचाओ

आंदोलन दो से भी ज़्यादा दशकों तक चला। आंदोलन ने अपनी माँग मुखर करने के लिए हरसंभव लोकतांत्रिक रणनीति का इस्तेमाल किया। आंदोलन ने अपनी बात न्यायपालिका से लेकर अंतर्राष्ट्रीय मंचों तक से उठाई। आंदोलन की समझ को जनता के सामने मुखर करने के लिए नेतृत्व ने सार्वजनिक रैलियों तथा सत्याग्रह जैसे तरीकों का भी प्रयोग किया परंतु विपक्षी दलों सहित मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों के बीच आंदोलन कोई खास जगह नहीं बना पाया। वास्तव में, नर्मदा आंदोलन की विकास रेखा भारतीय राजनीति में सामाजिक आंदोलन और राजनीतिक दलों के बीच निरंतर बढ़ती दूरी को बयान करती है। उल्लेखनीय है कि नवें दशक के अंत तक पहुँचते-पहुँचते नर्मदा बचाओ आंदोलन से कई अन्य स्थानीय समूह और आंदोलन भी आ जुड़े। ये सभी आंदोलन अपने-अपने क्षेत्रों में विकास की बृहत् परियोजनाओं का विरोध करते थे। इस मुकाम तक आते-आते नर्मदा बचाओ आंदोलन देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे समधर्मा आंदोलनों के गठबंधन का अंग बन गया।

जन आंदोलन के सबक

जन आंदोलनों का इतिहास हमें लोकतांत्रिक राजनीति को बेहतर ढंग से समझने में मदद देता है। हमने देखा कि इस तरह के गैर-दलीय आंदोलन अनियमित ढंग से खड़े नहीं हो जाते। उन्हें समस्या के तौर पर नहीं देखा जाना चाहिए। इन आंदोलनों का उद्देश्य दलीय राजनीति की खामियों को दूर करना था। इस रूप में, इन आंदोलनों को देश की लोकतांत्रिक राजनीति के अहम हिस्से के तौर पर देखा जाना चाहिए। सामाजिक आंदोलनों ने समाज के उन नए वर्गों की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं को अभिव्यक्ति दी जो अपनी दिक्कतों को चुनावी राजनीति के जरिए हल नहीं कर पा रहे थे। विभिन्न सामाजिक समूहों के लिए ये आंदोलन अपनी बात रखने का बेहतर माध्यम बनकर उभरे। समाज के गहरे तनावों और जनता के क्षोभ को एक सार्थक दिशा देकर इन आंदोलनों ने एक तरह से लोकतंत्र की रक्षा की है। सक्रिय भागीदारी के नए रूपों के प्रयोग ने भारतीय लोकतंत्र के जनाधार को बढ़ाया है।

क्या आंदोलनों को राजनीति की प्रयोगशाला कहा जा सकता है?आंदोलनों के दौरान नए प्रयोग किए जाते हैं और सफल प्रयोगों को राजनीतिक दल अपना लेते हैं।

इन आंदोलनों के आलोचक अकसर यह दलील देते हैं कि हड़ताल, धरना और रैली जैसी सामूहिक कार्रवाईयों से सरकार के कामकाज पर बुरा असर पड़ता है। उनके अनुसार इस तरह की गतिविधियों से सरकार की निर्णय-प्रक्रिया बाधित होती है तथा रोज़मर्रा की लोकतांत्रिक व्यवस्था भंग होती है। इस तरह की दलीलें एक और गहरे सवाल को जन्म देती हैं और वह सवाल यह है कि जन आंदोलन ऐसी मुखर सामूहिक गतिविधियों का सहारा क्यों लेते हैं? इस अध्याय में हमने देखा कि ये जन आंदोलन जनता की जायज़ माँगों के नुमाइंदा बनकर उभरे हैं और उन्होंने नागरिकों के एक बड़े समूह को अपने साथ जोड़ने में कामयाबी हासिल की है।

हमें यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इन जन आंदोलनों द्वारा लामबंद की जाने वाली जनता सामाजिक और आर्थिक रूप से वंचित तथा अधिकारहीन वर्गों से संबंध रखती है। जन आंदोलनों द्वारा अपनाए गए तौर-तरीकों से ज़ाहिर होता है कि रोज़मर्रा की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में इन वंचित समूहों को अपनी बात कहने का पर्याप्त मौका नहीं मिलता था। इसी कारण ये समूह चुनावी शासन-भूमि से अलग जन-कार्रवाई और लामबंदी की रणनीति अपनाते हैं।

विभिन्न जन आंदोलन अपनी बात को आगे बढ़ाने के लिए अकसर लघु-पत्रिकाएँ प्रकाशित करते हैं।

सूचना के अधिकार का आंदोलन

सूचना के अधिकार का आंदोलन जन आंदोलनों की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। यह आंदोलन सरकार से एक बड़ी माँग को पूरा कराने में सफल रहा है। इस आंदोलन की शुरुआत 1990 में हुई और इसका नेतृत्व किया मज़दूर किसान शक्ति संगठन (एमकेएसएस) ने। राजस्थान में काम कर रहे इस संगठन ने सरकार के सामने यह माँग रखी कि अकाल राहत कार्य और मज़दूरों को दी जाने वाली पगार के रिकॉर्ड का सार्वजनिक खुलासा किया जाए। यह माँग राजस्थान के एक बेहद पिछड़े इलाके–भीम तहसील में सबसे पहले उठाई गई थी। इस मुहिम के तहत ग्रामीणों ने प्रशासन से अपने वेतन और भुगतान के बिल उपलब्ध कराने को कहा। दरअसल, इन लोगों को लग रहा था कि स्कूलों, डिस्पेंसरी, छोटे बाँधों तथा सामुदायिक केंद्रों के निर्माण कार्य के दौरान उन्हें दी गई मज़दूरी में भारी घपला हुआ है। कहने के लिए ये विकास परियोजनाएँ पूरी हो गई थीं लेकिन लोगों का मानना था कि सारे काम में धन की हेराफेरी हुई है। पहले 1994 और उसके बाद 1996 में मज़दूर किसान शक्ति संगठन ने जन-सुनवाई का आयोजन किया और प्रशासन को इस मामले में अपना पक्ष स्पष्ट करने को कहा।

साभार: पंकज पुष्कर

'घोटाला रथयात्रा' मज़दूर किसान शक्ति संगठन द्वारा विकसित लोकनाटक का एक रूप।

आंदोलन के दबाव में सरकार को राजस्थान पंचायती राज अधिनियम में संशोधन करना पड़ा। नए कानून के तहत जनता को पंचायत के दस्तावेज़ों की प्रमाणित प्रतिलिपि प्राप्त करने की अनुमति मिल गई। संशोधन के बाद पंचायतों के लिए बजट, लेखा, खर्च, नीतियों और लाभार्थियों के बारे में सार्वजनिक घोषणा करना अनिवार्य कर दिया गया। अब पंचायतों को इन मदों के बारे में नोटिस बोर्ड या अखबारों में सूचना देनी होती है। 1996 में एमकेएसएस ने दिल्ली में सूचना के अधिकार को लेकर राष्ट्रीय समिति का गठन किया। इस कार्रवाई का लक्ष्य सूचना के अधिकार को राष्ट्रीय अभियान का रूप देना था। इससे पहले, कंज्यूमर एजुकेशन एंड रिसर्च सेंटर (उपभोक्ता शिक्षा एवं अनुसंधान केंद्र), प्रेस काउंसिल तथा शौरी समिति ने सूचना के अधिकार का एक मसौदा तैयार किया था। 2002 में 'सूचना की स्वतंत्रता' नाम का एक विधेयक पारित हुआ था। यह एक कमज़ोर अधिनियम था और इसे अमल में नहीं लाया गया। सन् 2004 में सूचना के अधिकार के विधेयक को सदन में रखा गया। जून 2005 में विधेयक को राष्ट्रपति की मंज़ूरी हासिल हुई।

साभार: सुधीर तैलंग / यूएनडीपी एवं योजना आयोग

खोज-बीन

पिछले 25 वर्षों के दौरान आपके शहर या ज़िले में कौन-सा आंदोलन सक्रिय रहा है? आंदोलन के बारे में निम्नलिखित जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करें।

- आंदोलन कब शुरू हुआ, वह कब तक सक्रिय रहा?
- आंदोलन के प्रमुख नेताओं के नाम बताएँ? इस आंदोलन को किन सामाजिक समूहों का समर्थन प्राप्त था?
- आंदोलन के खास मुद्दे और मुख्य मांगे क्या थीं?
- क्या यह आंदोलन सफल हुआ? आपके क्षेत्र में इस आंदोलन का दूरगामी प्रभाव क्या हुआ?

यह बात हाल की नयी आर्थिक नीतियों के मामले में देखी जा सकती है। आप नौवें अध्याय में पढ़ेंगे कि कमोबेश सभी राजनीतिक दल इन नीतियों को लागू करने के पक्ष में हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हाशिए पर मौजूद जिन सामाजिक समूहों पर आर्थिक नीतियों का दुष्प्रभाव पड़ सकता है उन पर ये राजनीतिक दल ख़ास ध्यान नहीं देंगे और न ही मुख्यधारा की मीडिया उन पर ध्यान देगी। ऐसे में नयी आर्थिक नीतियों का विरोध करना हो तो जन-कार्रवाई का ही रास्ता बचता है। जन आंदोलन यही काम करते हैं। वे राजनीतिक दलों के चालू मुहावरे से अलग अपने मुद्दे उठाते हैं।

आंदोलन का मतलब सिर्फ़ धरना-प्रदर्शन या सामूहिक कार्रवाई नहीं होता। इसके अंतर्गत किसी समस्या से पीड़ित लोगों का धीरे-धीरे एकजुट होना और समान अपेक्षाओं के साथ एक-सी माँग उठाना ज़रूरी है। इसके अतिरिक्त, आंदोलन का एक काम लोगों को अपने अधिकारों को लेकर जागरूक बनाना भी है ताकि लोग यह समझें कि लोकतंत्र की संस्थाओं से वे क्या-क्या उम्मीद कर सकते हैं। भारत के सामाजिक आंदोलन बहुत दिनों से जनता को जागरूक बनाने के इस काम में संलग्न हैं। ऐसे में इन आंदोलनों ने लोकतंत्र को बाधा नहीं पहुँचायी बल्कि उसका विस्तार किया है।

किंतु कुल मिलाकर सार्वजनिक नीतियों पर इन आंदोलनों का असर काफ़ी सीमित रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि समकालीन सामाजिक आंदोलन किसी एक मुद्दे के इर्द-गिर्द ही जनता को लामबंद करते हैं। इस तरह वे समाज के किसी एक वर्ग का ही प्रतिनिधित्व कर पाते हैं। इसी सीमा के चलते सरकार इन आंदोलनों की जायज़ माँगों को ठुकराने का साहस कर पाती है। लोकतांत्रिक राजनीति वंचित वर्गों के व्यापक गठबंधन को लेकर ही चलती है जबकि जन आंदोलनों के नेतृत्व में यह बात संभव नहीं हो पाती। राजनीतिक दलों को जनता के विभिन्न वर्गों के बीच सामंजस्य बैठाना पड़ता है, जबकि जन आंदोलनों का नेतृत्व इस वर्गीय हित के प्रश्न को कायदे से नहीं सँभाल पाता। जान पड़ता है कि राजनीतिक दलों ने समाज के वंचित और अधिकारहीन लोगों के मुद्दों पर ध्यान देना छोड़ दिया है। पर जन आंदोलन का नेतृत्व भी ऐसे मुद्दों को सीमित ढंग से ही उठा पाता है। विगत वर्षों में राजनीतिक दलों और जन आंदोलनों का आपसी संबंध कमज़ोर होता गया है। इससे राजनीति में एक सूनेपन का माहौल पनपा है। हाल के वर्षों में, भारत की राजनीति में यह एक बड़ी समस्या के रूप में उभरा है।

not to be republished © NCERT

प्रश्नावली

1. चिपको आंदोलन के बारे में निम्नलिखित में कौन-कौन से कथन गलत हैं:
   (क) यह पेड़ों की कटाई को रोकने के लिए चला एक पर्यावरण आंदोलन था।
   (ख) इस आंदोलन ने पारिस्थितिकी और आर्थिक शोषण के मामले उठाए।
   (ग) यह महिलाओं द्वारा शुरू किया गया शराब-विरोधी आंदोलन था।
   (घ) इस आंदोलन की माँग थी कि स्थानीय निवासियों का अपने प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण होना चाहिए।

2. नीचे लिखे कुछ कथन गलत हैं। इनकी पहचान करें और ज़रूरी सुधार के साथ उन्हें दुरुस्त करके दोबारा लिखें:
   (क) सामाजिक आंदोलन भारत के लोकतंत्र को हानि पहुँचा रहे हैं।
   (ख) सामाजिक आंदोलनों की मुख्य ताकत विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच व्याप्त उनका जनाधार है।
   (ग) भारत के राजनीतिक दलों ने कई मुद्दों को नहीं उठाया। इसी कारण सामाजिक आंदोलनों का उदय हुआ।

3. उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में (अब उत्तराखंड) 1970 के दशक में किन कारणों से चिपको आंदोलन का जन्म हुआ? इस आंदोलन का क्या प्रभाव पड़ा?

4. भारतीय किसान यूनियन किसानों की दुर्दशा की तरफ़ ध्यान आकर्षित करने वाला अग्रणी संगठन है। नब्बे के दशक में इसने किन मुद्दों को उठाया और इसे कहाँ तक सफलता मिली?

5. आंध्र प्रदेश में चले शराब-विरोधी आंदोलन ने देश का ध्यान कुछ गंभीर मुद्दों की तरफ़ खींचा। ये मुद्दे क्या थे?

6. क्या आप शराब-विरोधी आंदोलन को महिला-आंदोलन का दर्ज़ा देंगे? कारण बताएँ।

7. नर्मदा बचाओ आंदोलन ने नर्मदा घाटी की बाँध परियोजनाओं का विरोध क्यों किया?

8. क्या आंदोलन और विरोध की कार्रवाइयों से देश का लोकतंत्र मज़बूत होता है? अपने उत्तर की पुष्टि में उदाहरण दीजिए।

9. दलित-पैंथर्स ने कौन-से मुद्दे उठाए?

© NCERT not to be republished

10. निम्नलिखित अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें:

...लगभग सभी नए सामाजिक आंदोलन नयी समस्याओं जैसे–पर्यावरण का विनाश, महिलाओं की बदहाली, आदिवासी संस्कृति का नाश और मानवाधिकारों का उल्लंघन... के समाधान को रेखांकित करते हुए उभरे। इनमें से कोई भी अपनेआप में समाजव्यवस्था के मूलगामी बदलाव के सवाल से नहीं जुड़ा था। इस अर्थ में ये आंदोलन अतीत की क्रांतिकारी विचारधाराओं से एकदम अलग हैं। लेकिन, ये आंदोलन बड़ी बुरी तरह बिखरे हुए हैं और यही इनकी कमज़ोरी है... सामाजिक आंदोलनों का एक बड़ा दायरा ऐसी चीज़ों की चपेट में है कि वह एक ठोस तथा एकजुट जन आंदोलन का रूप नहीं ले पाता और न ही वंचितों और गरीबों के लिए प्रासंगिक हो पाता है। ये आंदोलन बिखरे-बिखरे हैं, प्रतिक्रिया के तत्त्वों से भरे हैं, अनियत हैं और बुनियादी सामाजिक बदलाव के लिए इनके पास कोई फ्रेमवर्क नहीं है। 'इस' या 'उस' के विरोध (पश्चिम-विरोधी, पूँजीवाद विरोधी, 'विकास'-विरोधी, आदि) में चलने के कारण इनमें कोई संगति आती हो अथवा दबे-कुचले लोगों और हाशिए के समुदायों के लिए ये प्रासंगिक हो पाते हों–ऐसी बात नहीं।

-रजनी कोठारी

(क) नए सामाजिक आंदोलन और क्रांतिकारी विचारधाराओं में क्या अंतर है?

(ख) लेखक के अनुसार सामाजिक आंदोलनों की सीमाएँ क्या-क्या हैं?

(ग) यदि सामाजिक आंदोलन विशिष्ट मुद्दों को उठाते हैं तो आप उन्हें 'बिखरा' हुआ कहेंगे या मानेंगे कि वे अपने मुद्दे पर कहीं ज़्यादा केंद्रित हैं। अपने उत्तर की पुष्टि में तर्क दीजिए।

खुद करें-खुद सीखें

एक हफ्ते के अखबार की खबरों पर नज़र दौड़ाएँ और ऐसी तीन रिपोर्टों को चुनें जिन्हें आप जन आंदोलन से जुड़ी खबर मानते हों। इन आंदोलनों की मुख्य माँगों का पता करें। पता लगाएँ कि अपनी माँगों की स्वीकृति के लिए इन आंदोलनों ने क्या तरीका अपनाया है और राजनीतिक दलों की इस पर क्या प्रतिक्रिया है?

© NCERT not to be republished

साभार: उत्तराखंड सांस्कृतिक मोर्चा

क्षेत्रीय आकांक्षाओं को अकसर क्षेत्र विशेष की भाषा में अभिव्यक्त किया जाता है और ये आकांक्षाएँ स्थानीय जनता या शासकों को संबोधित की जाती हैं।

यहाँ जो पोस्टर दिखाया गया है, उसे इस संदर्भ में विशेष कहा जाएगा कि उसमें सात भाषाओं का इस्तेमाल किया गया है। स्पष्ट है कि इन भाषाओं के इस्तेमाल का उद्देश्य तमाम भारतीय नागरिकों तक अपनी बात पहुँचाना है। पोस्टर से यह बात साफ ज़ाहिर है कि क्षेत्रीय आकांक्षाओं का राष्ट्रीय भावनाओं से कोई बुनियादी टकराव नहीं है।

इस अध्याय में...

आज़ादी के बाद के पहले दशक में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया चली। हमने इसके बारे में इस किताब के पहले अध्याय में पढ़ा था। लेकिन राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया एक ही बार में पूरी नहीं हो जाती। वक्त गुजरने के साथ नई चुनौतियाँ आईं। कुछ पुरानी समस्याएँ ऐसी थीं कि उनका समाधान पूरी तरह से न हो सका था। लोकतंत्र के रास्ते पर जैसे-जैसे हम बढ़े, वैसे-वैसे अलग-अलग इलाकों के लोगों में स्वायत्तता की भावना पैदा हुई। कभी-कभी स्वायत्तता की आकांक्षा की अभिव्यक्ति भारत के संघीय ढाँचे के हदों को पार करके भी हुई। स्वायत्तता की ऐसी आकांक्षाओं ने कभी-कभार हिंसक रूप लिया और संघर्ष लंबा खिंचा। इन संघर्षों में लोगों ने आक्रामक तेवर अपनाए और बहुधा हथियार भी उठाए।

यह नई चुनौती 1980 के दशक में पूरी ताकत के साथ उभरी थी। इस वक्त तक जनता पार्टी के रूप में गैर-कांग्रेसवाद का प्रयोग अपनी अंतिम साँसें ले चुका था और केंद्र में थोड़ी-बहुत राजनीतिक स्थिरता की स्थिति थी। इस दशक को कुछ बड़े संघर्ष और समझौते के दशक के रूप में याद किया जाएगा। इस दशक में असम, पंजाब, मिज़ोरम और जम्मू-कश्मीर में क्षेत्रीय आकांक्षाओं ने सर उठाया और सरकार को बड़े जतन के साथ समझौते करने पड़े। इस अध्याय में हम इन्हीं मामलों के बारे में पढ़ेंगे ताकि इन सवालों को उठा सकें:

- क्षेत्रीय आकांक्षाओं और उनसे उपजे तनाव को किन कारणों से बल मिलता है?
- भारत सरकार ने ऐसी चुनौतियों और तनावों के प्रति क्या कदम उठाए?
- लोकतांत्रिक अधिकारों और राष्ट्रीय एकता के बीच संतुलन साधने में किस किस्म की कठिनाइयाँ आती हैं?
- लोकतंत्र में विविधताओं के बीच एकता कायम करने के लिहाज से हमें क्या सीख मिलती है?

अध्याय 8

क्षेत्रीय आकांक्षाएँ

12122CH08

क्षेत्र और राष्ट्र

1980 के दशक को स्वायत्तता की माँग के दशक के रूप में भी देखा जा सकता है। इस दौर में देश के कई हिस्सों से स्वायत्तता की माँग उठी और इसने संवैधानिक हदों को भी पार किया। इन आंदोलनों में शामिल लोगों ने अपनी माँग के पक्ष में हथियार उठाए; सरकार ने उनको दबाने के लिए जवाबी कार्रवाई की और इस क्रम में राजनीतिक तथा चुनावी प्रक्रिया अवरुद्ध हुई। आश्चर्य नहीं कि स्वायत्तता की माँग को लेकर चले अधिकतर संघर्ष लंबे समय तक जारी रहे और इन संघर्षों पर विराम लगाने के लिए केंद्र सरकार को सुलह की बातचीत का रास्ता अख्तियार करना पड़ा अथवा स्वायत्तता के आंदोलन की अगुवाई कर रहे समूहों से समझौते करने पड़े। बातचीत की एक लंबी प्रक्रिया के बाद ही दोनों पक्षों के बीच समझौता हो सका। बातचीत का लक्ष्य यह रखा गया कि विवाद के मुद्दों को संविधान के दायरे में रहकर निपटा लिया जाए। बहरहाल, समझौते तक पहुँचने की यह यात्रा बड़ी दुर्गम रही और इसमें जब-तब हिंसा के स्वर उभरे।

भारत सरकार का नज़रिया

राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया और भारत के संविधान के बारे में पढ़ते हुए विविधता के एक बुनियादी सिद्धांत की चर्चा हमारी नजरों से बार-बार गुजरी है : भारत में विभिन्न क्षेत्र और भाषायी समूहों को अपनी संस्कृति बनाए रखने का अधिकार होगा। हमने एकता की भावधारा से बँधे एक ऐसे सामाजिक जीवन के निर्माण का निर्णय लिया था, जिसमें इस समाज को आकार देने वाली तमाम संस्कृतियों की विशिष्टता बनी रहे। भारतीय राष्ट्रवाद ने एकता और विविधता के बीच संतुलन साधने की कोशिश की है। राष्ट्र का मतलब यह नहीं है कि क्षेत्र को नकार दिया जाए। इस अर्थ में भारत का नज़रिया यूरोप के कई देशों से अलग रहा, जहाँ सांस्कृतिक विभिन्नता को राष्ट्र की एकता के लिए खतरे के रूप में देखा गया।

भारत ने विविधता के सवाल पर लोकतांत्रिक दृष्टिकोण अपनाया। लोकतंत्र में क्षेत्रीय आकांक्षाओं की राजनीतिक अभिव्यक्ति की अनुमति है और लोकतंत्र क्षेत्रीयता को राष्ट्र-विरोधी नहीं मानता। इसके अतिरिक्त लोकतांत्रिक राजनीति में इस बात के पूरे अवसर होते हैं कि विभिन्न दल और समूह क्षेत्रीय पहचान, आकांक्षा अथवा किसी खास क्षेत्रीय समस्या को आधार बनाकर लोगों की भावनाओं की नुमाइंदगी करें। इस तरह लोकतांत्रिक राजनीति की प्रक्रिया में क्षेत्रीय आकांक्षाएँ और बलवती होती हैं। साथ ही लोकतांत्रिक राजनीति का एक अर्थ यह भी है कि क्षेत्रीय मुद्दों और समस्याओं पर नीति-निर्माण की प्रक्रिया में समुचित ध्यान दिया जाएगा और उन्हें इसमें भागीदारी दी जाएगी।

© NCERT not to be republished

ऐसी व्यवस्था में कभी-कभी तनाव या परेशानियाँ खड़ी हो सकती हैं। कभी ऐसा भी हो सकता है कि राष्ट्रीय एकता के सरोकार क्षेत्रीय आकांक्षाओं और ज़रूरतों पर भारी पड़ें। कभी ऐसा भी हो सकता है कि कोई क्षेत्रीय सरोकारों के कारण राष्ट्र की वृहत्तर आवश्यकताओं से आँखें मूँद लें। जो राष्ट्र चाहते हैं कि विविधताओं का सम्मान हो साथ ही राष्ट्र की एकता भी बनी रहे, वहाँ क्षेत्रों की ताकत, उनके अधिकार और अलग अस्तित्व के मामले पर राजनीतिक संघर्ष का होना एक आम बात है।

तनाव के दायरे

आपने पहले अध्याय में पढ़ा था कि आज़ादी के तुरंत बाद हमारे देश को विभाजन, विस्थापन, देसी रियासतों के विलय और राज्यों के पुनर्गठन जैसे कठिन मसलों से जूझना पड़ा। देश और विदेश के अनेक पर्यवेक्षकों का अनुमान था कि भारत एकीकृत राष्ट्र के रूप में ज़्यादा दिनों तक टिक नहीं पाएगा। आज़ादी के तुरंत बाद जम्मू-कश्मीर का मसला सामने आया। यह सिर्फ़ भारत और पाकिस्तान के बीच संघर्ष का मामला नहीं था। कश्मीर घाटी के लोगों की राजनीतिक आकांक्षाओं का सवाल भी इससे जुड़ा हुआ था। ठीक इसी तरह पूर्वोत्तर के कुछ भागों में भारत का अंग होने के मसले पर सहमति नहीं थी। पहले नगालैंड में और फिर मिजोरम में भारत से अलग होने की माँग करते हुए जोरदार आंदोलन चले। दक्षिण भारत में भी द्रविड़ आंदोलन से जुड़े कुछ समूहों ने एक समय अलग राष्ट्र की बात उठायी थी।

अलगाव के इन आंदोलनों के अतिरिक्त देश में भाषा के आधार पर राज्यों के गठन की माँग करते हुए जन आंदोलन चले। मौजूदा आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और गुजरात ऐसे ही आंदोलनों वाले राज्य हैं। दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों – खासकर तमिलनाडु में हिंदी को राजभाषा बनाने के खिलाफ़ विरोध-आंदोलन चला। 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध से पंजाबी-भाषी लोगों ने अपने लिए एक अलग राज्य बनाने की आवाज़ उठानी शुरू कर दी। उनकी माँग आखिरकार मान ली गई और 1966 में पंजाब और हरियाणा नाम से राज्य बनाए गए। बाद में छत्तीसगढ़, उत्तराखंड और झारखंड का गठन हुआ। कहा जा सकता है कि विविधता की चुनौती से निपटने के लिए देश की अंदरूनी सीमा रेखाओं का पुनर्निर्धारण किया गया।

बहरहाल, इन प्रयासों का मतलब यह नहीं था कि हर परेशानी का हमेशा के लिए हल निकल आया। कश्मीर और नगालैंड जैसे कुछ क्षेत्रों में चुनौतियाँ इतनी विकट और जटिल थीं कि राष्ट्र-निर्माण के पहले दौर में इनका समाधान नहीं किया जा सका। इसके अतिरिक्त पंजाब, असम और मिजोरम में नई चुनौतियाँ उभरीं। आइए, हम इन मामलों पर तनिक विस्तार से बात करें और इसके साथ-साथ राष्ट्र-निर्माण के क्रम में पेश आई कुछ पुरानी कठिनाइयों और उनके उदाहरणों को याद करने की कोशिश करें। ऐसे मामलों में मिली सफलता या विफलता सिर्फ़ अतीत के अध्ययन के लिए एक जरूरी प्रस्थान-बिंदु नहीं बल्कि भारत के भविष्य को समझने के लिए भी एक ज़रूरी सबक है।

© NCERT not to be republished

जम्मू एवं कश्मीर

नोटः यह नक्शा किसी पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतरराष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

आपने जम्मू एवं कश्मीर में जारी हिंसा के बारे में सुना होगा। इसके परिणामस्वरूप अनेक लोगों की जान गई और कई परिवारों का विस्थापन हुआ। 'कश्मीर मुद्दा' भारत और पाकिस्तान के बीच एक बड़ा मुद्दा रहा है। लेकिन इस राज्य की राजनीतिक स्थिति के बहुत से आयाम हैं।

जम्मू एवं कश्मीर में तीन राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र शामिल हैं – जम्मू, कश्मीर और लद्दाख। कश्मीर घाटी को कश्मीर के दिल के रूप में देखा जाता है। कश्मीरी बोली बोलने वाले ज्यादातर लोग मुस्लिम हैं। बहरहाल, कश्मीरी-भाषी लोगों में अल्पसंख्यक हिंदू भी शामिल हैं। जम्मू क्षेत्र पहाड़ी तलहटी एवं मैदानी इलाके का मिश्रण है जहाँ हिंदू, मुस्लिम और सिख यानी कई धर्म और भाषाओं के लोग रहते हैं। लद्दाख पर्वतीय इलाका है, जहाँ बौद्ध एवं मुस्लिमों की आबादी है, लेकिन यह आबादी बहुत कम है।

'कश्मीर मुद्दा' भारत और पाकिस्तान के बीच सिर्फ़ विवाद भर नहीं है। इस मुद्दे के कुछ बाहरी तो कुछ भीतरी पहलू हैं। इसमें कश्मीरी पहचान का सवाल जिसे कश्मीरियत के रूप में जाना जाता है, शामिल है। इसके साथ ही साथ जम्मू-कश्मीर की राजनीतिक स्वायत्तता का मसला भी इसी से जुड़ा हुआ है।

समस्या की जड़ें

1947 से पहले जम्मू एवं कश्मीर में राजशाही थी। इसके हिंदू शासक हरि सिंह भारत में शामिल होना नहीं चाहते थे और उन्होंने अपने स्वतंत्र राज्य के लिए भारत और पाकिस्तान के साथ समझौता करने की कोशिश की। पाकिस्तानी नेता सोचते थे कि कश्मीर, पाकिस्तान से संबद्ध है, क्योंकि राज्य की ज़्यादातर आबादी मुस्लिम है। बहरहाल यहाँ के लोग स्थिति को अलग नज़रिए से देखते थे। वे अपने को कश्मीरी सबसे पहले, कुछ और बाद में मानते थे। राज्य में नेशनल कांफ्रेंस के शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में जन आंदोलन चला। शेख अब्दुल्ला चाहते थे कि महाराजा पद छोड़ें, लेकिन वे पाकिस्तान में शामिल होने के खिलाफ़ थे। नेशनल कांफ्रेंस एक धर्मनिरपेक्ष संगठन था और इसका कांग्रेस के साथ काफ़ी समय तक गठबंधन रहा। राष्ट्रीय राजनीति के कई प्रमुख नेता शेख अब्दुल्ला के मित्र थे। इनमें नेहरू भी शामिल हैं।

अक्टूबर 1947 में पाकिस्तान ने कबायली घुसपैठियों को अपनी तरफ़ से कश्मीर पर कब्ज़ा करने भेजा। ऐसे में कश्मीर के महाराजा भारतीय सेना से मदद माँगने को मज़बूर हुए। भारत ने सैन्य मदद उपलब्ध कराई और कश्मीर घाटी से घुसपैठियों को खदेड़ा। इससे पहले

© NCERT not to be republished

ई. वी. रामास्वामी नायकर (1879-1973) : पेरियार के नाम से प्रसिद्ध; ऊनीश्वरवाद के प्रबल समर्थक; जाति-विरोधी आंदोलन एवं द्रविड़ अस्मिता के उद्‌भावक; राजनीतिक जीवन की शुरुआत कांग्रेस कार्यकर्ता के रूप में; आत्मसम्मान आंदोलन के जनक (1925); ब्राह्मण विरोधी आंदोलन का नेतृत्व; जस्टिस पार्टी के कार्यकर्ता और द्रविड़ कषगम की स्थापना; हिंदी और उत्तर भारतीय वर्चस्व का विरोध; 'उत्तर भारतीय लोग एवं ब्राह्मण द्रविड़ों से अलग आर्य हैं' इस मत का प्रतिपादन किया।

द्रविड़ आंदोलन

'उत्तर हर दिन बढ़ता जाए, दक्षिण दिन-दिन घटता जाए'

यह द्रविड़ आंदोलन के एक बेहद लोकप्रिय नारे का हिंदी रूपांतर है। यह आंदोलन भारत के क्षेत्रीय आंदोलनों में सबसे ताकतवर आंदोलन था। भारतीय राजनीति में यह आंदोलन क्षेत्रीयतावादी भावनाओं की सर्वप्रथम और सबसे प्रबल अभिव्यक्ति था। हालाँकि आंदोलन के नेतृवर्ग के एक हिस्से की आकांक्षा एक स्वतंत्र द्रविड़ राष्ट्र बनाने की थी, पर आंदोलन ने कभी सशस्त्र संघर्ष की राह नहीं अपनायी। नेतृत्व ने अपनी माँग आगे बढ़ाने के लिए सार्वजनिक बहसों और चुनावी मंच का ही इस्तेमाल किया। द्रविड़ आंदोलन की बागडोर तमिल समाज सुधारक ई.वी. रामास्वामी नायकर 'पेरियार' के हाथों में थी। इस आंदोलन से एक राजनीतिक संगठन-'द्रविड़ कषगम' का सूत्रपात हुआ। यह संगठन ब्राह्मणों के वर्चस्व का विरोध करता था तथा उत्तरी भारत के राजनीतिक, आर्थिक और साँस्कृतिक प्रभुत्व को नकारते हुए क्षेत्रीय गौरव की प्रतिष्ठा पर जोर देता था। प्रारंभ में, द्रविड़ आंदोलन समग्र दक्षिण भारतीय संदर्भ में अपनी बात रखता था लेकिन अन्य दक्षिणी राज्यों से समर्थन न मिलने के कारण यह आंदोलन धीरे-धीरे तमिलनाडु तक ही सिमट कर रह गया।

बाद में द्रविड़ कषगम दो धड़ों में बंट गया और आंदोलन की समूची राजनीतिक विरासत द्रविड़ मुनेत्र कषगम के पाले में केंद्रित हो गई। 1953-54 के दौरान डीएमके ने तीन-सूत्री आंदोलन के साथ राजनीति में कदम रखा। आंदोलन की तीन माँगें थी : पहली, कल्लाकुडी नामक रेलवे स्टेशन का नया नाम-डालमियापुरम निरस्त किया जाए और स्टेशन का मूल नाम बहाल किया जाए। संगठन की यह माँग उत्तर भारतीय आर्थिक प्रतीकों के प्रति उसके विरोध को प्रकट करती थी।

साभार : द हिंदू

तमिलनाडु में हिंदी विरोधी आंदोलन, 1965

HINDI PROTAGONISTS ALLEGE BID TO REVERSE POLICY

"The Times of India" News Service

NEW DELHI, December 2.

A STORM broke out in the Lok Sabha today during question-hour when protagonists of Hindi contested the Government's right to refer the question of medium of instruction to the Education Commission after Parliament had set its seal of approval on the Government's language policy.

Despite the Education Minister, Mr. M. C. Chagla's assurance that there had been no change in the language policy and that the findings of the commission were not binding on the Government, excitement ran high and a spate of points of order ... the Government's policy which was quite correct. His remark that the findings of the Commission were not binding on the Government or his Ministry was greeted with loud cries: "Then why appoint a commission".

The furore started when Mr. Prakash Vir Shastri asked whether the reference to the Commission meant that the Minister did not agree with the Government's policy? Would it not also mean that Parliament, which had endorsed the policy, was being bypassed?

GOVT. POLICY

Other questions were also on similar lines. Mr. Bhagwat Jha Azad said that he had appointed a Commission before Parliament and it would be open to the House to take whatever attitude it liked on them.

Earlier, answering questions on the report of the Sampurnanand Committee, Mr. Chagla said that he had been consistently taking the position that regional languages should become the media of instruction in universities. But they should go slow in the matter. This was also the recommendation of the National Integration Committee.

He said that Gujarat was the only State which had introduced English from Standard VIII. Most other States had introduced it from Standard V. One or two States were starting English from Standard III.

दूसरी माँग इस बात को लेकर थी कि स्कूली पाठ्यक्रम में तमिल संस्कृति के इतिहास को ज़्यादा महत्त्व दिया जाए। संगठन की तीसरी माँग राज्य सरकार के शिल्पकर्म शिक्षा कार्यक्रम को लेकर थी। संगठन के अनुसार यह नीति समाज में ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण को बढ़ावा देती थी। डीएमके हिंदी को राजभाषा का दर्ज़ा देने के भी खिलाफ़ थी। 1965 के हिंदी विरोधी आंदोलन की सफलता ने डीएमके को जनता के बीच और भी लोकप्रिय बना दिया।

राजनीतिक आंदोलनों के एक लंबे सिलसिले के बाद डीएमके को 1967 के विधानसभा चुनावों में बड़ी सफलता हाथ लगी। तब से लेकर आज तक तमिलनाडु की राजनीति में द्रविड़ दलों का वर्चस्व कायम है। डीएमके के संथापक सी. अन्नादुरै की मृत्यु के बाद दल में दोफाड़ हो गया। इसमें एक दल मूल नाम यानी डीएमके को लेकर आगे चला जबकि दूसरा दल खुद को आल इंडिया अन्ना द्रमुक कहने लगा। यह दल स्वयं को द्रविड़ विरासत का असली हकदार बताता था। तमिलनाडु की राजनीति में ये दोनों दल चार दशकों से दबदबा बनाए हुए हैं। इनमें से एक न एक दल 1996 से केंद्र में सत्तारूढ़ गठबंधन का हिस्सा रहा है। 1990 के दशक में एमडीएमके (मरुमलर्ची द्रविड़ मुनेत्र कषगम), पीएमके (पट्टाली मक्कल कच्ची), डीएमडीके (देसिया मुरपोक्कू द्रविड़ कषगम) जैसे कई अन्य दल अस्तित्व में आए। तमिलनाडु की राजनीति में इन सभी दलों ने क्षेत्रीय गौरव के मुद्दे को किसी न किसी रूप में जिंदा रखा है। एक समय क्षेत्रीय राजनीति को भारतीय राष्ट्र के लिए खतरा माना जाता था। लेकिन तमिलनाडु की राजनीति क्षेत्रवाद और राष्ट्रवाद के बीच सहकारिता की भावना का अच्छा उदाहरण पेश करती है।

The Hindustan Times

LARGEST CIRCULATION IN NORTHERN, NORTH-WESTERN AND CENTRAL INDIA

KASHMIR ACCEDES TO INDIA

PLEBISCITE SOON ON RULER'S DECISION

Troops And Arms Flown To Srinagar

SHEIKH ABDULLA TO FORM INTERIM GOVT.

UNION TROOPS RUSHED FOR PROTECTION OF STATE

साभार हिंदुस्तान टाइम्स

शेख मोहम्मद अब्दुल्ला (1905–1982) : जम्मू एवं कश्मीर के नेता; जम्मू-कश्मीर की स्वायत्तता एवं धर्मनिरपेक्षता के समर्थक; राजशाही के खिलाफ़ जन आंदोलन का नेतृत्व; धर्मनिरपेक्षता के आधार पर पाकिस्तान का विरोध; नेशनल कांफ्रेंस के नेता; भारत में विलय के बाद जम्मू-कश्मीर के प्रधानमंत्री (1947); भारत सरकार द्वारा बर्खास्तगी और कारावास (1953–1964); पुनः कारावास (1965–1968); 1974 में इंदिरा गाँधी के साथ समझौता, राज्य के मुख्यमंत्री पद पर आरूढ़।

भारत सरकार ने महाराजा से भारत संघ में विलय के दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर करा लिए। इस पर भी सहमति जताई गई कि स्थिति सामान्य होने पर जम्मू-कश्मीर की नियति का फ़ैसला जनमत सर्वेक्षण के द्वारा होगा। मार्च 1948 में शेख अब्दुल्ला जम्मू-कश्मीर राज्य के प्रधानमंत्री बने (राज्य में सरकार के मुखिया को तब प्रधानमंत्री कहा जाता था)। भारत, जम्मू एवं कश्मीर की स्वायत्तता को बनाए रखने पर सहमत हो गया। इसे संविधान में धारा 370 का प्रावधान करके संवैधानिक दर्जा दिया गया।

बाहरी और आंतरिक विवाद

उस समय से जम्मू एवं कश्मीर की राजनीति हमेशा विवादग्रस्त एवं संघर्षयुक्त रही। इसके बाहरी एवं आंतरिक दोनों कारण हैं। कश्मीर समस्या का एक कारण पाकिस्तान का रवैया है। उसने हमेशा यह दावा किया है कि कश्मीर घाटी पाकिस्तान का हिस्सा होना चाहिए। आप पढ़ चुके हैं कि 1947 में इस राज्य में पाकिस्तान ने कबायली हमला करवाया था। इसके परिणामस्वरूप राज्य का एक हिस्सा पाकिस्तानी नियंत्रण में आ गया। भारत ने दावा किया कि यह क्षेत्र का अवैध अधिग्रहण है। पाकिस्तान ने इस क्षेत्र को 'आज़ाद कश्मीर' कहा। 1947 के बाद कश्मीर भारत और पाकिस्तान के बीच संघर्ष का एक बड़ा मुद्दा रहा है।

आंतरिक रूप से देखें तो भारतीय संघ में कश्मीर की हैसियत को लेकर विवाद रहा है। आप जानते हैं कि कश्मीर को संविधान में धारा 370 के तहत विशेष दर्ज़ा दिया गया है। धारा 370 एवं 371 के तहत किए गए विशेष प्रावधानों के बारे में आपने पिछले वर्ष 'भारतीय संविधान : सिद्धांत और व्यवहार' में पढ़ा होगा। धारा 370 के तहत जम्मू एवं कश्मीर को भारत के अन्य राज्यों के मुकाबले ज्यादा स्वायत्तता दी गई है। राज्य का अपना संविधान है। भारतीय संविधान की सारी व्यवस्थाएँ इस राज्य में लागू नहीं होती। संसद द्वारा पारित कानून राज्य में उसकी सहमति के बाद ही लागू हो सकते हैं।

इस विशेष स्थिति से दो विरोधी प्रतिक्रियाएँ सामने आईं। लोगों का एक समूह मानता है कि इस राज्य को धारा 370 के तहत विशेष दर्जा देने से यह भारत के साथ पूरी तरह नहीं जुड़ पाया है। यह समूह मानता है कि धारा 370 को समाप्त कर देना चाहिए और जम्मू-कश्मीर को अन्य राज्यों की तरह ही होना चाहिए।

दूसरा वर्ग (इसमें ज्यादातर कश्मीरी हैं) विश्वास करता है कि इतनी भर स्वायत्तता पर्याप्त नहीं है। कश्मीरियों के एक वर्ग ने तीन प्रमुख शिकायतें उठायी हैं। पहली यह कि भारत सरकार ने वायदा किया था कि कबायली घुसपैठियों से निपटने के बाद जब स्थिति सामान्य हो जाएगी तो भारत संघ में विलय के मुद्दे पर जनमत-संग्रह कराया जाएगा। इसे पूरा नहीं किया गया। दूसरी, धारा 370 के तहत दिया गया विशेष दर्ज़ा पूरी तरह से अमल में नहीं लाया गया। इससे स्वायत्तता की बहाली अथवा राज्य को ज्यादा स्वायत्तता देने की माँग उठी। तीसरी शिकायत यह की जाती है कि भारत के बाकी हिस्सों में जिस तरह लोकतंत्र पर अमल होता है उस तरह का संस्थागत लोकतांत्रिक बरताव जम्मू-कश्मीर में नहीं होता।

राजनीति : 1948 के बाद से

प्रधानमंत्री का पद संभालने के बाद शेख अब्दुल्ला ने भूमि-सुधार की बड़ी मुहिम चलायी। उन्होंने इसके साथ-साथ जन-कल्याण की कुछ नीतियाँ भी लागू

सिने-संसार

रोज़ा

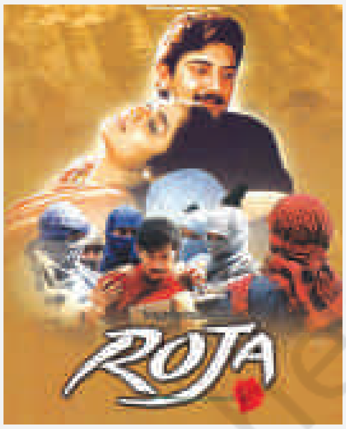

इस तमिल फिल्म में एक नवोढ़ा पत्नी के दुख और साहस की कहानी बयान की गयी है। रोज़ा के पति का उग्रवादी अपहरण कर लेते हैं। वह खुफिया संदेशों को पढ़ने में माहिर है। उसे कश्मीर में तैनात किया गया है जहाँ उसका काम दुश्मन के खुफिया संदेशों को पढ़ना है। पति-पत्नी में जैसे ही दाम्पत्य का प्रेम बढ़ने लगता है वैसे ही पति का अपहरण हो जाता है। अपहरणकर्त्ताओं की माँग है कि रोज़ा के पति ऋषि को तभी छोड़ा जाएगा जब जेल में बंद उनके सरगना को छोड़ दिया जाए।

रोज़ा का संसार ढहने लगता है। वह अधिकारियों और राजनेताओं के दरवाज़े खटखटाते हुए दर-दर भटकती है। यह फिल्म भारत-पाकिस्तान विवाद की पृष्ठभूमि में बनी थी इस वजह से लोगों में यह बड़ी लोकप्रिय हुई। इस फिल्म को हिंदी सहित अन्य भाषाओं में भी रूपांतरित किया गया।

वर्ष : 1992
निर्देशक : मणिरत्नम्
पटकथा : मणिरत्नम्
अभिनय (हिंदी): मधु, अरविन्द स्वामी, पंकज कपूर, जनगराज।

© NCERT not to be republished

कीं। इन सबसे यहाँ की जनता को फायदा हुआ। बहरहाल, कश्मीर की हैसियत को लेकर शेख अब्दुल्ला के विचार केंद्र सरकार से मेल नहीं खाते थे। इससे दोनों के बीच मतभेद पैदा हुए। 1953 में शेख अब्दुल्ला को बर्खास्त कर दिया गया। कई सालों तक उन्हें नज़रबंद रखा गया। शेख अब्दुल्ला के बाद जो नेता सत्तासीन हुए वे शेख की तरह लोकप्रिय नहीं थे। केंद्र के समर्थन के दम पर ही वे राज्य में शासन चला सके। राज्य में हुए विभिन्न चुनावों में धांधली और गड़बड़ी के गंभीर आरोप लगे।

तो नेहरू ने अपने एक अज़ीज दोस्त को इतने लंबे समय तक जेल में डाले रखा! उन्हें यह सब कैसा लगा होगा?

1953 से लेकर 1974 के बीच अधिकांश समय इस राज्य की राजनीति पर कांग्रेस का असर रहा। कमज़ोर हो चुकी नेशनल कांफ्रेंस (शेख अब्दुल्ला के बिना) कांग्रेस के समर्थन से राज्य में कुछ समय तक सत्तासीन रही लेकिन बाद में वह कांग्रेस में मिल गई। इस तरह राज्य की सत्ता सीधे कांग्रेस के नियंत्रण में आ गई। इस बीच शेख अब्दुल्ला और भारत सरकार के बीच सुलह की कोशिश जारी रही। आखिरकार 1974 में इंदिरा गाँधी के साथ शेख अब्दुल्ला ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए और वे राज्य के मुख्यमंत्री बने। उन्होंने नेशनल कांफ्रेंस को फिर से खड़ा किया और 1977 के राज्य विधानसभा के चुनाव में बहुमत से निर्वाचित हुए। सन् 1982 में शेख अब्दुल्ला की मृत्यु हो गई और नेशनल कांफ्रेंस के नेतृत्व की कमान उनके पुत्र फारुख अब्दुल्ला ने संभाली। फारुख अब्दुल्ला भी मुख्यमंत्री बने। बहरहाल, राज्यपाल ने जल्दी ही उन्हें बर्खास्त कर दिया और नेशनल कांफ्रेंस से एक टूटे हुए गुट ने थोड़े समय के लिए राज्य की सत्ता संभाली।

The Times of India

SHEIKH ABDULLAH ARRESTED

CHARGES OF CORRUPTION AND MALADMINISTRATION

Bakshi Ghulam Mohammed Sworn In As Prime Minister

POLICE OPEN FIRE ON VIOLENT DEMONSTRATORS

Grave Threat To Freedom

CALM U.S. RECEPTION TO H-BOMB CLAIM

Serious Consideration Of M. Malenkov's Speech

SOBER SATISFACTION IN DELHI

"Timely Action By The Sadar-i-Riyasat"

साभार: टाइम्स ऑफ इंडिया

केंद्र सरकार के हस्तक्षेप से फारुख अब्दुल्ला की सरकार को बर्खास्त किया गया था। इससे कश्मीर में नाराज़गी के भाव पैदा हुए। शेख अब्दुल्ला और इंदिरा गाँधी के बीच हुए समझौते से राज्य के लोगों का लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर विश्वास जमा था। फारूख अब्दुल्ला की सरकार की बर्खास्तगी से इस विश्वास को धक्का लगा। 1986 में नेशनल कांफ्रेंस ने केंद्र में सत्तासीन कांग्रेस पार्टी के साथ चुनावी गठबंधन किया। इससे भी लोगों को लगा कि केंद्र राज्य की राजनीति में हस्तक्षेप कर रहा है।

http://govande.sulekha.com

कश्मीर में शांति

विद्रोही तेवर और उसके बाद

इसी माहौल में 1987 के विधानसभा चुनाव हुए। आधिकारिक नतीजे बता रहे थे कि नेशनल कांफ्रेंस और कांग्रेस के गठबंधन को भारी जीत मिली है। फारूख अब्दुल्ला मुख्यमंत्री बने। बहरहाल, लोग-बाग यह मान रहे थे कि चुनाव में धाँधली हुई है और चुनाव परिणाम जनता की पसंद की नुमाइंदगी नहीं कर रहे। 1980 के दशक से ही यहाँ के लोगों में प्रशासनिक अक्षमता को लेकर रोष पनप रहा था। लोगों के मन का गुस्सा यह सोचकर और भड़का कि केंद्र के इशारे पर लोकतांत्रिक प्रक्रिया के साथ हेरा-फ़ेरी की जा रही है। इन सब बातों से कश्मीर में राजनीतिक संकट उठ खड़ा हुआ। इस संकट ने राज्य में जारी उग्रवाद के बीच गंभीर रूप धारण किया।

1989 तक यह राज्य उग्रवादी आंदोलन की गिरफ्त में आ चुका था। इस आंदोलन में लोगों को अलग कश्मीर राष्ट्र के नाम पर लामबंद किया जा रहा था। उग्रवादियों को पाकिस्तान ने नैतिक, भौतिक और सैन्य सहायता दी। कई सालों तक इस राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू रहा। राज्य पर सेना को नियंत्रण रखना पड़ा। 1990 से बाद के समय में इस राज्य के लोगों को उग्रवादियों और सेना की हिंसा भुगतनी पड़ी। 1996 में एक बार फिर इस राज्य में विधानसभा के चुनाव हुए। फारुख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कांफ्रेंस की सरकार बनी और उसने जम्मू-कश्मीर के लिए क्षेत्रीय स्वायत्तता की माँग की। जम्मू-कश्मीर में 2002 के चुनाव बड़े निष्पक्ष ढंग से हुए। नेशनल कांफ्रेंस को बहुमत नहीं मिल पाया। इस चुनाव में पीपुल्स डेमोक्रेटिक अलायंस (पीडीपी) और कांग्रेस की गठबंधन सरकार सत्ता में आई।

"*अपने निर्वाचित नेता की बर्खास्तगी (1984 में) की इस दूसरी घटना के बाद अब कश्मीरियों का यकीन पुख्ता हो जाएगा कि भारत कभी भी उन्हें खुद पर शासन नहीं करने देगा।*"

बी.के. नेहरू
फारुख अब्दुल्ला की सरकार को बर्खास्त करने से पहले।

अलगाववाद और उसके बाद

1989 से जम्मू-कश्मीर में अलगाववादी राजनीति ने सर उठाया था। इसने कई रूप लिए और इस राजनीति की कई धाराएँ हैं। अलगाववादियों का एक तबका कश्मीर को अलग राष्ट्र बनाना चाहता है यानी एक ऐसा कश्मीर जो न पाकिस्तान का हिस्सा हो और न भारत का। कुछ अलगाववादी समूह चाहते हैं कि कश्मीर का विलय पाकिस्तान में हो जाए। अलगाववादी राजनीति की एक तीसरी धारा भी है। इस धारा के समर्थक चाहते हैं कि कश्मीर भारत संघ का ही हिस्सा रहे लेकिन उसे और स्वायत्तता दी जाय। स्वायत्तता की बात जम्मू और लद्दाख के लोगों को अलग-अलग ढंग से लुभाती है। इस क्षेत्र के लोगों की एक आम शिकायत उपेक्षा भरे बरताव और पिछड़ेपन को लेकर है। इस वजह से पूरे राज्य की स्वायत्तता की माँग जितनी प्रबल है उतनी ही प्रबल माँग इस राज्य के विभिन्न भागों में अपनी-अपनी स्वायत्तता को लेकर है।

© NCERT not to be republished

शुरुआती सालों में उग्रवाद को लोगों का कुछ समर्थन हासिल था लेकिन अब यहाँ के लोग शांति की कामना कर रहे हैं। केंद्र ने विभिन्न अलगाववादी समूहों से बातचीत शुरू कर दी है। अलग राष्ट्र की माँग की जगह अब अलगाववादी समूह अपनी बातचीत में भारत संघ के साथ कश्मीर के रिश्ते को पुनर्परिभाषित करने पर ज़ोर दे रहे हैं।

जम्मू-कश्मीर बहुलवादी समाज और राजनीति का एक जीवन्त उदाहरण है। यहाँ धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषायी, जातीय और जनजातीय यानी हर तरह की विभिन्नताएँ हैं। साथ ही, राजनीतिक आकांक्षाएँ भी एक-सी नहीं हैं। एक तरफ इस राज्य में विभिन्नताएँ और इसी के अनुकूल अलग-अलग राजनीतिक आकांक्षाएँ हैं तो दूसरी तरफ संघर्ष और तनाव की स्थितियाँ भी बदस्तूर कायम हैं। लेकिन, इन सबके बीच राज्य की बहुलतावादी धर्मनिरपेक्ष संस्कृति अधिकांशतया अक्षुण्ण बनी हुई है।

पंजाब

1980 के दशक में पंजाब में भी बड़े बदलाव आए। इस प्रांत की सामाजिक बुनावट विभाजन के समय पहली बार बदली थी। बाद में इसके कुछ हिस्सों से हरियाणा और हिमाचल प्रदेश नामक राज्य बनाए गए। इससे भी पंजाब की सामाजिक संरचना बदली। हालाँकि 1950 के दशक में देश के शेष हिस्से को भाषायी आधार पर पुनर्गठित किया गया था लेकिन पंजाब को 1966 तक इंतज़ार करना पड़ा। इस साल पंजाबी-भाषी प्रांत का निर्माण हुआ। सिखों की राजनीतिक शाखा के रूप में 1920 के दशक में अकाली दल का गठन हुआ था। अकाली दल ने 'पंजाबी सूबा' के गठन का आंदोलन चलाया। पंजाबी-भाषी सूबे में सिख बहुसंख्यक हो गए।

मास्टर तारा सिंह (1885-1967) : प्रमुख सिख धार्मिक एवं राजनीतिक नेता; शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी (एसजीपीसी) के शुरुआती नेताओं में से एक; अकाली आंदोलन के नेता; स्वतंत्रता आंदोलन के समर्थक लेकिन सिर्फ मुस्लिमों के साथ समझौते की कांग्रेस नीति के विरोधी; स्वतंत्रता के बाद अलग पंजाब राज्य के निर्माण के समर्थक।

राजनीतिक संदर्भ

पंजाब सूबे के पुनर्गठन के बाद अकाली दल ने यहाँ 1967 और इसके बाद 1977 में सरकार बनायी। दोनों ही मौके पर गठबंधन सरकार बनी। अकालियों के आगे यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि सूबे के नए सीमांकन के बावजूद उनकी राजनीतिक स्थिति डावांडोल है। पहली बात तो यही कि उनकी सरकार को केंद्र ने कार्यकाल पूरा करने से पहले बर्खास्त कर दिया था। दूसरे, अकाली दल को पंजाब के हिंदुओं के बीच कुछ खास समर्थन हासिल नहीं था। तीसरे, सिख समुदाय भी दूसरे धार्मिक समुदायों की तरह जाति और वर्ग के धरातल पर बँटा हुआ था। कांग्रेस को दलितों के बीच चाहे वे सिख हों या हिंदू—अकालियों से कहीं ज्यादा समर्थन प्राप्त था।

इन्हीं परिस्थितियों के मद्देनज़र 1970 के दशक में अकालियों के एक तबके ने पंजाब के लिए स्वायत्तता की माँग उठायी। 1973 में, आनंदपुर साहिब में हुए एक सम्मेलन में इस आशय का प्रस्ताव पारित हुआ। आनंदपुर साहिब प्रस्ताव में क्षेत्रीय स्वायत्तता की बात उठायी गई थी। प्रस्ताव की माँगों में केंद्र-राज्य संबंधों को पुनर्परिभाषित करने की बात भी शामिल थी। इस प्रस्ताव में सिख 'कौम' (नेशन या समुदाय) की आकांक्षाओं पर ज़ोर देते हुए सिखों के 'बोलबाला' (प्रभुत्व या वर्चस्व) का ऐलान किया गया। यह प्रस्ताव संघवाद को मजबूत करने की अपील करता है। लेकिन इसे एक अलग सिख राष्ट्र की माँग के रूप में भी पढ़ा जा सकता है।

© NCERT not to be republished

आनंदपुर साहिब प्रस्ताव का सिख जन-समुदाय पर बड़ा कम असर पड़ा। कुछ साल बाद जब 1980 में अकाली दल की सरकार बर्खास्त हो गई तो अकाली दल ने पंजाब तथा पड़ोसी राज्यों के बीच पानी के बँटवारे के मुद्दे पर एक आंदोलन चलाया। धार्मिक नेताओं के एक तबके ने स्वायत्त सिख पहचान की बात उठायी। कुछ चरमपंथी तबकों ने भारत से अलग होकर 'खालिस्तान' बनाने की वकालत की।

हिंसा का चक्र

जल्दी ही आंदोलन का नेतृत्व नरमपंथी अकालियों के हाथ से निकलकर चरमपंथी तत्त्वों के हाथ में चला गया और आंदोलन ने सशस्त्र विद्रोह का रूप ले लिया। उग्रवादियों ने अमृतसर स्थित सिखों के तीर्थ स्वर्णमंदिर में अपना मुख्यालय बनाया और स्वर्णमंदिर एक हथियारबंद किले में तब्दील हो गया। 1984 के जून माह में भारत सरकार ने 'ऑपरेशन ब्लू स्टार' चलाया। यह स्वर्णमंदिर में की गई सैन्य कार्रवाई का कूट नाम था। इस सैन्य-अभियान में सरकार ने उग्रवादियों को तो सफ़लतापूर्वक मार भगाया लेकिन सैन्य कार्रवाई से ऐतिहासिक स्वर्णमंदिर को क्षति भी पहुँची। इससे सिखों की भावनाओं को गहरी चोट लगी। भारत और भारत से बाहर बसे अधिकतर सिखों ने सैन्य-अभियान को अपने धर्म-विश्वास पर हमला माना। इन बातों से उग्रवादी और चरमपंथी समूहों को और बल मिला।

कुछ और त्रासद घटनाओं ने पंजाब की समस्या को एक जटिल रास्ते पर ला खड़ा किया। प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी की 31 अक्तूबर 1984 के दिन उनके आवास के बाहर उन्हीं के अंगरक्षकों ने हत्या कर दी। ये अंगरक्षक सिख थे और ऑपरेशन ब्लू स्टार का बदला लेना चाहते थे। एक तरफ पूरा देश इस घटना से शोक-संतप्त था तो दूसरी तरफ दिल्ली सहित उत्तर भारत के कई हिस्सों में सिख समुदाय के विरुद्ध हिंसा भड़क उठी। यह हिंसा कई हफ्तों तक जारी रही। दो हज़ार से ज्यादा की तादाद में सिख, दिल्ली में मारे गए। देश की राजधानी दिल्ली इस हिंसा से सबसे ज्यादा प्रभावित हुई थी। कानपुर, बोकारो और चास जैसे देश के कई जगहों पर सैकड़ों सिख मारे गए। कई सिख-परिवारों में कोई भी पुरुष न बचा। इन परिवारों को गहरा भावनात्मक आघात पहुँचा और आर्थिक हानि उठानी पड़ी। सिखों को सबसे ज्यादा दुख इस बात का था कि सरकार ने स्थिति को सामान्य बनाने के लिए बड़ी देर से कदम उठाए। साथ ही, हिंसा करने वाले लोगों को कारगर तरीके से दंड भी नहीं दिया गया। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने 2005 में संसद में अपने भाषण के दौरान इस रक्तपात पर अफसोस जताया और सिख-विरोधी हिंसा के लिए देश से माफी माँगी।

संत हरचंद सिंह लोंगोवाल (1932-1985) : सिखों के धार्मिक एवं राजनीतिक नेता; छठे दशक के दौरान राजनीतिक जीवन की शुरुआत अकाली नेता के रूप में; 1980 में अकाली दल के अध्यक्ष; अकालियों की प्रमुख माँगों को लेकर प्रधानमंत्री राजीव गाँधी से समझौता; अज्ञात सिख युवक द्वारा हत्या।

नईदुनिया

र्ण मंदिर पर सेना का कब्जा : भिंडरांवाले का पता नहीं

ड़ाई में ५९ सैनिकों सहित ३२५ मरे, अकाल तख्त को क्षति

साभार: नई दुनिया

शांति की ओर

1984 के चुनावों के बाद सत्ता में आने पर नए प्रधानमंत्री

ARMY CONTROLS TEMPLE

250 terrorists and 59 jawans killed

Last bastion of resistance crumbles: 700 arrested

THE TIMES OF

SURRENDER AT GOLDEN TEMPLE

No damage caused to Harmandir Sahib

• 58 armymen and 250 terrorists killed

"इस बात के साक्ष्य मिले हैं कि 31-10-84 को या तो बैठकें हुई अथवा हमलावरों से संपर्क साधा गया और उनसे सिखों को जान से मारने तथा उनके घरों और दुकानों को लूटने के लिए कहा गया। बड़े व्यवस्थित तरीके से हमले हुए और हमलावरों को पुलिस का भी ज्यादा भय नहीं था। इससे जान पड़ता है मानो इन्हें आश्वासन दिया गया हो कि इन कामों को अंजाम देते समय या उसके बाद भी इन्हें कोई नुकसान नहीं पहुँचाया जाएगा।"

न्यायमूर्ति नानावती जाँच आयोग, रिपोर्ट, खंड-**I**, 2005

राजीव गाँधी ने नरमपंथी अकाली नेताओं से बातचीत की शुरुआत की। अकाली दल के तत्कालीन अध्यक्ष हरचंद सिंह लोंगोवाल के साथ 1985 के जुलाई में एक समझौता हुआ। इस समझौते को राजीव गाँधी लोंगोवाल समझौता अथवा पंजाब समझौता कहा जाता है। समझौता पंजाब में अमन कायम करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। इस बात पर सहमति हुई कि चंडीगढ़ पंजाब को दे दिया जाएगा और पंजाब तथा हरियाणा के बीच सीमा-विवाद को सुलझाने के लिए एक अलग आयोग की नियुक्ति होगी। समझौते में यह भी तय हुआ कि पंजाब-हरियाणा-राजस्थान के बीच रावी-व्यास के पानी के बँटवारे के बारे में फ़ैसला करने के लिए एक ट्रिब्यूनल (न्यायाधिकरण) बैठाया जाएगा। समझौते के अंतर्गत सरकार पंजाब में उग्रवाद

साभार : रघुराय

इंदिरा गांधी की हत्या के विषय पर बने एक दीवार-चित्र को यहाँ महिलाएँ देख रही हैं।

Special Edition
THE TIMES OF INDIA
INDIRA GANDHI SHOT AT
CONDITION CRITICAL

साभार: टाइम्स ऑफ इंडिया

इंदिरा गाँधी की हत्या के दिन टाइम्स ऑफ इंडिया ने अखबार का एक विशेष अपराह्न संस्करण प्रकाशित किया।

से प्रभावित लोगों को मुआवजा देने और उनके साथ बेहतर सलूक करने पर राजी हुई। साथ ही, पंजाब से विशेष सुरक्षा बल अधिनियम को वापस लेने की बात पर भी सहमति हुई।

बहरहाल, पंजाब में न तो अमन आसानी से कायम हुआ और न ही समझौते के तत्काल बाद। हिंसा का चक्र लगभग एक दशक तक चलता रहा। उग्रवादी हिंसा और इस हिंसा को दबाने के लिए की गई कार्रवाइयों में मानवाधिकार का व्यापक उल्लंघन हुआ। साथ ही, पुलिस की ओर से भी ज्यादती हुई। राजनीतिक रूप से देखें तो घटनाओं के इस चक्र में अकाली दल बिखर गया। केंद्र सरकार को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा। इससे राज्य में सामान्य राजनीतिक तथा चुनावी प्रक्रिया बाधित हुई। संशय और हिंसा से भरे माहौल में राजनीतिक प्रक्रिया को फिर से पटरी पर लाना आसान नहीं था। 1992 में पंजाब में चुनाव हुए तो महज 24 फीसदी मतदाता वोट डालने के लिए आए।

उग्रवाद को सुरक्षा बलों ने आखिरकार दबा दिया लेकिन पंजाब के लोगों ने, चाहे वे सिख हों या हिंदू, इस क्रम में अनगिनत दुख उठाए। 1990 के दशक के मध्यवर्ती वर्षों में पंजाब में शांति बहाल हुई। 1997 में अकाली दल (बादल) और भाजपा के गठबंधन को बड़ी विजय मिली। उग्रवाद के खात्मे के बाद के दौर में यह पंजाब का पहला चुनाव था। राज्य में एक बार फिर आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के सवाल प्रमुख हो उठे। हालाँकि धार्मिक पहचान यहाँ की जनता के लिए लगातार प्रमुख बनी हुई है लेकिन राजनीति अब धर्मनिरपेक्षता की राह पर चल पड़ी है।

पूर्वोत्तर

पूर्वोत्तर में क्षेत्रीय आकांक्षाएँ 1980 के दशक में एक निर्णायक मोड़ पर आ गई थीं। क्षेत्र में सात राज्य हैं और इन्हें 'सात बहनें' कहा जाता है। इस क्षेत्र में देश की कुल 4 फीसदी आबादी निवास करती है। लेकिन भारत के कुल क्षेत्रफल में पूर्वोत्तर के हिस्से को देखते हुए यह आबादी दोगुनी कही जाएगी। 22 किलोमीटर लंबी एक पतली-सी राहदारी इस इलाके को शेष भारत से जोड़ती है अन्यथा इस क्षेत्र की सीमाएँ चीन, म्यांमार और बांग्लादेश से लगती हैं और यह इलाका भारत के लिए एक तरह से दक्षिण-पूर्व एशिया का प्रवेश-द्वार है।

"सिख समुदाय से ही नहीं पूरे भारत राष्ट्र से माफी माँगने में मुझे कोई संकोच नहीं क्योंकि 1984 में जो कुछ हुआ वह राष्ट्र की अवधारणा तथा संविधान के लिखे का नकार था। इसलिए, मैं यहाँ किसी झूठी प्रतिष्ठा को लेकर नहीं खड़ा हूँ। अपनी सरकार की तरफ़ से, इस देश की समूची जनता की तरफ़ से मैं अपना सिर शर्म से झुकाता हूँ कि ऐसा हादसा पेश आया। लेकिन, मान्यवर, राष्ट्र के जीवन में ऐसी घड़ियाँ आती हैं। अतीत हमारे साथ होता है। हम अतीत को दोबारा नहीं लिख सकते। लेकिन, मनुष्य के रूप में हमारे पास वह इच्छाशक्ति और क्षमता है कि हम अपने लिए एक बेहतर भविष्य का निर्माण कर सकें।"

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह 11 अगस्त, 2005 को राज्यसभा की बहस में हिस्सा लेते हुए।

इस इलाके में 1947 के बाद से अनेक बदलाव आए हैं। त्रिपुरा, मणिपुर और मेघालय का खासी पहाड़ी क्षेत्र, पहले अलग-अलग रियासत थे। आज़ादी के बाद भारत संघ में इनका विलय हुआ। पूर्वोत्तर के पूरे इलाके का बड़े व्यापक स्तर पर राजनीतिक पुनर्गठन हुआ है। नगालैंड को 1963 में राज्य बनाया गया। मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय 1972 में राज्य बने जबकि मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश को 1987 में राज्य का दर्ज़ा दिया गया। 1947 के भारत-विभाजन से पूर्वोत्तर के इलाके भारत के शेष भागों से एकदम अलग-थलग पड़ गए और इसका अर्थव्यवस्था पर इससे दुष्प्रभाव पड़ा। भारत के शेष भागों से अलग-थलग पड़ जाने के कारण इस इलाके में विकास पर ध्यान नहीं दिया जा सका। यहाँ की राजनीति भी अपने ही दायरे में सीमित रही। इसके साथ-साथ पड़ोसी राज्यों और देशों से आने वाले शरणार्थियों के कारण इलाके की जनसंख्या की संरचना में बड़ा बदलाव आया।

पूर्वोत्तर का अलग-थलग पड़ जाना, इस इलाके की जटिल सामाजिक संरचना और देश के अन्य हिस्सों के मुकाबले इस इलाके का आर्थिक रूप से पिछड़ा होना, जैसी कई बातों ने एक साथ मिलकर एक जटिल स्थिति पैदा की। ऐसे में पूर्वोत्तर के राज्यों से बड़ी बेतरतीब किस्म की माँगें उठीं। इस इलाके में भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा काफी बड़ी है लेकिन पूर्वोत्तर और भारत के शेष भागों के बीच संचार-व्यवस्था बड़ी लचर है। इससे भी पूर्वोत्तर की राजनीति का स्वभाव ज्यादा संवेदनशील रहा। पूर्वोत्तर के राज्यों में राजनीति पर तीन मुद्दे हावी हैं: स्वायत्तता की माँग, अलगाव के आंदोलन और 'बाहरी' लोगों का विरोध। इसमें पहले मुद्दे यानी स्वायत्तता की माँग पर 1970 के दशक में कुछ शुरुआती पहल की गई थी। इससे शेष दो मुद्दों ने 1980 के दशक में नाटकीय मोड़ लिया।

स्वायत्तता की माँग

आजादी के वक्त मणिपुर और त्रिपुरा को छोड़ दें तो यह पूरा इलाका असम कहलाता था। गैर-असमी लोगों को जब लगा कि असम की सरकार उन पर असमी भाषा थोप रही है तो इस इलाके से राजनीतिक स्वायत्तता की माँग उठी। पूरे राज्य में असमी भाषा को लादने के खिलाफ विरोध प्रदर्शन और दंगे हुए। बड़े जनजाति समुदाय के नेता असम से अलग होना चाहते थे। इन लोगों ने 'ईस्टर्न इंडिया ट्राइबल यूनियन' का गठन किया जो 1960 में कहीं ज्यादा व्यापक 'ऑल पार्टी हिल्स कांफ्रेंस' में तब्दील हो गया। इन नेताओं की माँग थी कि असम से अलग एक जनजातीय राज्य बनाया जाए। आखिरकार एक जनजातीय राज्य की जगह असम को काटकर कई जनजातीय राज्य बने। केंद्र सरकार ने अलग-थलग वक्त पर असम को बाँटकर मेघालय, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश बनाया। त्रिपुरा और मणिपुर को भी राज्य का दर्जा दिया गया।

1972 तक पूर्वोत्तर का पुनर्गठन पूरा हो चुका था। लेकिन, स्वायत्तता की माँग खत्म न हुई। उदाहरण के लिए, असम के बोडो, करबी और दिमसा जैसे समुदायों ने अपने लिए अलग राज्य की माँग की। अपनी माँग के पक्ष में उन्होंने जनमत तैयार करने के प्रयास किए,

नोट: यह नक्शा कोई पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतरराष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

© NCERT not to be republished

जन आंदोलन चलाए और विद्रोही कार्रवाइयाँ भी कीं। कई दफ़ा ऐसा भी हुआ कि एक ही इलाके पर एक से ज्यादा समुदायों ने अपनी दावेदारी जतायी। छोटे-छोटे और निरंतर लघुतर होते राज्य बनाते चले जाना संभव नहीं था।

इस वजह से संघीय राजव्यवस्था के कुछ और प्रावधानों का उपयोग करके स्वायत्तता की माँग को संतुष्ट करने की कोशिश की गई और इन समुदायों को असम में ही रखा गया। करबी और दिमसा समुदायों को जिला-परिषद् के अंतर्गत स्वायत्तता दी गई जबकि बोडो जनजाति को हाल ही में स्वायत्त परिषद् का दर्जा दिया गया है।

मेरी दोस्त चोन कहती है कि दिल्ली के लोग यूरोप के नक्शे के बारे में ज्यादा जानते हैं और अपने देश के पूर्वोत्तर के हिस्से के बारे में कम। अपने सहपाठियों को देखकर तो यही लगता है कि उसकी बात एक हद तक सही है।

अलगाववादी आंदोलन

स्वायत्तता की माँगों से निपटना आसान था क्योंकि संविधान में विभिन्नताओं का समाहार संघ में करने के लिए प्रावधान पहले से मौजूद थे। लेकिन जब कुछ समूहों ने अलग देश बनाने की माँग की और वह भी किसी क्षणिक आवेश में नहीं बल्कि सिद्धांतगत तैयारी के साथ, तो इस माँग से निपटना मुश्किल हो गया। देश के नेतृत्व को पूर्वोत्तर के दो राज्यों में अलगाववादी माँग का लंबे समय तक सामना करना पड़ा। इन दो मामलों की आपसी तुलना हमें लोकतांत्रिक राजनीति के कुछ सबक सिखाती है।

आज़ादी के बाद मिजो पर्वतीय क्षेत्र को असम के भीतर ही एक स्वायत्त जिला बना दिया गया था। कुछ मिजो लोगों का मानना था कि वे कभी भी 'ब्रिटिश इंडिया' के अंग नहीं रहे इसलिए भारत संघ से उनका कोई नाता नहीं है। 1959 में मिजो पर्वतीय इलाके में भारी अकाल पड़ा। असम की सरकार इस अकाल में समुचित प्रबंध करने में नाकाम रही। इसी के बाद अलगाववादी आंदोलन को जनसमर्थन मिलना शुरू हुआ। मिजो लोगों ने गुस्से में आकर लालडेंगा के नेतृत्व में मिजो नेशनल फ्रंट बनाया।

1966 में मिजो नेशनल फ्रंट ने आज़ादी की माँग करते हुए सशस्त्र अभियान शुरू किया। इस तरह भारतीय सेना और मिजो विद्रोहियों के बीच दो दशक तक चली लड़ाई की शुरुआत हुई। मिजो नेशनल फ्रंट ने गुरिल्ला युद्ध किया। उसे पाकिस्तान की सरकार ने समर्थन दिया था और तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान में मिजो विद्रोहियों ने अपने ठिकाने बनाए। भारतीय सेना ने विद्रोही गतिविधियों को दबाने के लिए जवाबी कार्रवाई की। इसमें आम जनता को भी कष्ट उठाने पड़े। एक दफ़े तो वायुसेना तक का इस्तेमाल किया गया। सेना के इन कदमों से स्थानीय लोगों में क्रोध और अलगाव की भावना और तेज हुई।

दो दशकों तक चले बगावत में हर पक्ष को हानि उठानी पड़ी। इसी बात को भाँपकर दोनों पक्षों के नेतृत्व ने समझदारी से काम लिया। पाकिस्तान में निर्वासित जीवन जी रहे लालडेंगा भारत आए और उन्होंने भारत सरकार के साथ बातचीत शुरू की। राजीव गाँधी ने इस बातचीत को एक सकारात्मक समाधान तक पहुँचाया। 1986 में राजीव गाँधी और लालडेंगा के बीच एक शांति समझौता हुआ। समझौते के अंतर्गत मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा मिला और उसे कुछ विशेष अधिकार दिए गए। मिजो नेशनल फ्रंट अलगाववादी संघर्ष की राह छोड़ने पर राजी हो गया। लालडेंगा मुख्यमंत्री बने। यह समझौता मिजोरम के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ। आज मिजोरम पूर्वोत्तर का सबसे शांतिपूर्ण राज्य है और उसने कला, साहित्य तथा विकास की दिशा में अच्छी प्रगति की है।

लालडेंगा
(1937-1990) : मिजो नेशनल फ्रंट के संस्थापक और नेता; 1959 के अकाल के बाद विद्रोही बन गए; भारत के खिलाफ़ दो दशक तक सशस्त्र संघर्ष का नेतृत्व; 1986 में प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के साथ सुलह और एक समझौते पर हस्ताक्षर किए; नव-निर्मित मिजोरम के मुख्यमंत्री बने।

साभार: द टाइम्स ऑफ इंडिया

THE TIMES OF INDIA

Cong-MNF accord signed

Laldenga to head coalition govt

Heavy rains in Lucknow

India condemns Lanka violence

Rs 2 crores worth of gold seized

नगालैंड की कहानी भी मिजोरम की तरह है लेकिन नगालैंड का अलगावादी आंदोलन ज्यादा पुराना है और अभी इसका मिजोरम की तरह खुशगवार हल नहीं निकल पाया है। अंगमी जापू फ़िज़ो के नेतृत्व में नगा लोगों के एक तबके ने 1951 में अपने को भारत से आज़ाद घोषित कर दिया था। फ़िज़ो ने बातचीत के कई प्रस्ताव ठुकराए। हिंसक विद्रोह के एक दौर के बाद नगा लोगों के एक तबके ने भारत सरकार के साथ एक समझौते पर दस्तखत किए लेकिन अन्य विद्रोहियों ने इस समझौते को नहीं माना। नगालैंड की समस्या का समाधान होना अब भी बाकी है।

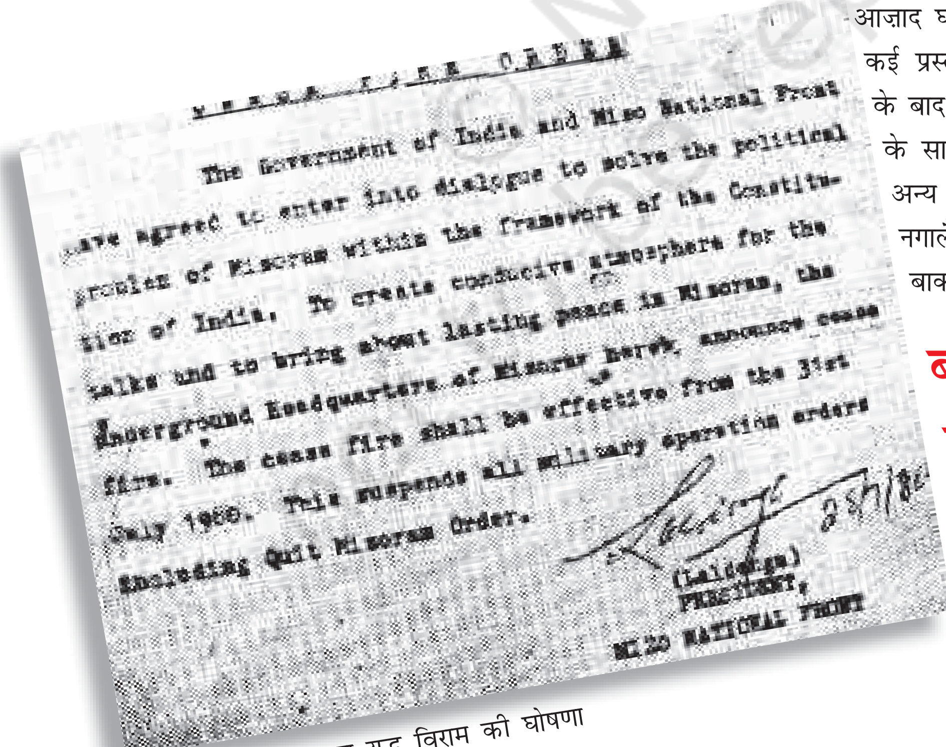
CEASE FIRE ORDER

The Government of India and Mizo National Front have agreed to enter into dialogue to solve the political problem of Mizoram within the framework of the Constitution of India. To create conducive atmosphere for the talks and to bring about lasting peace in Mizoram, the Underground Headquarters of Mizoram hereby announce cease fire. The cease fire shall be effective from the 31st July 1986. This suspends all military operation orders including Quit Mizoram Order.

(Laldenga)
PRESIDENT,
MIZO NATIONAL FRONT

मिजो नेशनल फ्रंट द्वारा युद्ध विराम की घोषणा

बाहरी लोगों के खिलाफ़ आंदोलन

पूर्वोत्तर में बड़े पैमाने पर आप्रवासी आए हैं। इससे एक खास समस्या पैदा हुई है। स्थानीय जनता इन्हें 'बाहरी' समझती है और 'बाहरी' लोगों के खिलाफ़ उसके मन में गुस्सा है। भारत के दूसरे राज्यों अथवा किसी अन्य देश से

आए लोगों को यहाँ की जनता रोजगार के अवसरों और राजनीतिक सत्ता के एतबार से एक प्रतिद्वंद्वी के रूप में देखती है। स्थानीय लोग बाहर से आए लोगों के बारे में मानते हैं कि ये लोग यहाँ की जमीन हथिया रहे हैं। पूर्वोत्तर के कई राज्यों में इस मसले ने राजनीतिक रंग ले लिया है और कभी-कभी इन बातों के कारण हिंसक घटनाएँ भी होती हैं।

1979 से 1985 तक चला असम आंदोलन बाहरी लोगों के खिलाफ़ चले आंदोलनों का सबसे अच्छा उदाहरण है। असमी लोगों को संदेह था कि बांग्लादेश से आकर बहुत-सी मुस्लिम आबादी असम में बसी हुई है। लोगों के मन में यह भावना घर कर गई थी कि इन विदेशी लोगों को पहचानकर उन्हें अपने देश नहीं भेजा गया तो स्थानीय असमी जनता अल्पसंख्यक हो जाएगी। कुछ आर्थिक मसले भी थे। असम में तेल, चाय और कोयले जैसे प्राकृतिक संसाधनों की मौजूदगी के बावजूद व्यापक गरीबी थी। यहाँ की जनता ने माना कि असम के प्राकृतिक संसाधन बाहर भेजे जा रहे हैं और असमी लोगों को कोई फ़ायदा नहीं हो रहा है।

1979 में ऑल असम स्टूडेंटस् यूनियन (आसू-**AASU**) ने विदेशियों के विरोध में एक आंदोलन चलाया। 'आसू' एक छात्र-संगठन था और इसका जुड़ाव किसी भी राजनीतिक दल से नहीं था। 'आसू' का आंदोलन अवैध आप्रवासी, बंगाली और अन्य लोगों के दबदबे तथा मतदाता सूची में लाखों आप्रवासियों के नाम दर्ज कर लेने के खिलाफ़ था। आंदोलन की माँग थी कि 1951 के बाद जितने भी लोग असम में आकर बसे हैं उन्हें असम से बाहर भेजा जाए। इस आंदोलन ने कई नए तरीकों को आजमाया और असमी जनता के हर तबके का समर्थन हासिल किया। इस आंदोलन को पूरे असम में समर्थन मिला। आंदोलन के दौरान हिंसक और त्रासद घटनाएँ भी हुईं। बहुत-से लोगों को जान गंवानी पड़ी और धन-संपत्ति का नुकसान हुआ। आंदोलन के दौरान रेलगाड़ियों की आवाजाही तथा बिहार स्थित बरौनी तेलशोधक कारखाने को तेल-आपूर्ति रोकने की भी कोशिश की गई।

छह साल की सतत अस्थिरता के बाद राजीव गाँधी के नेतृत्व वाली सरकार ने 'आसू' के नेताओं से बातचीत शुरू की। इसके परिणामस्वरूप 1985 में एक समझौता हुआ। समझौते के अंतर्गत तय किया गया कि जो लोग बांग्लादेश-युद्ध के दौरान अथवा उसके बाद के सालों में असम आए हैं, उनकी पहचान की जाएगी और उन्हें वापस भेजा जाएगा। आंदोलन की कामयाबी के बाद 'आसू' और असम गण संग्राम परिषद् ने साथ मिलकर अपने को एक क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टी के रूप में संगठित किया। इस पार्टी का नाम 'असम गण परिषद्' रखा गया। असम गण परिषद् 1985 में इस वायदे के साथ सत्ता में आई थी कि विदेशी लोगों की समस्या को सुलझा लिया जाएगा और एक 'स्वर्णिम असम' का निर्माण किया जाएगा।

असम-समझौते से शांति कायम हुई और प्रदेश की राजनीति का चेहरा भी बदला लेकिन 'आप्रवास' की समस्या का समाधान नहीं हो पाया। 'बाहरी' का मसला अब भी असम और पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों की, राजनीति में एक जीवंत मसला है। यह समस्या त्रिपुरा में ज्यादा गंभीर है क्योंकि यहाँ के मूल निवासी खुद अपने ही प्रदेश में अल्पसंख्यक बन गए हैं। मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश के लोगों में भी इसी भय के कारण चकमा शरणार्थियों को लेकर गुस्सा है।

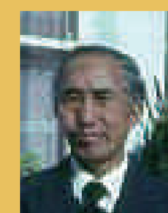

अंगमी जापू फिजो (1904-1990) : नगालैंड की आज़ादी के आंदोलन के नेता; नगा नेशनल काउंसिल के अध्यक्ष; भारत सरकार के खिलाफ़ सशस्त्र संघर्ष की शुरुआत की; 'भूमिगत' हुए; पाकिस्तान में शरण ली; जीवन के अंतिम तीन दशक ब्रिटेन में गुजारे।

नईदुनिया

असम समझौता : उल्लेखनीय उपलब्धि

असम के बारे में केंद्र सरकार तथा असम के छात्र संगठनों के बीच पंद्रह तारीख को तड़के हुए समझौते से असम का छः वर्ष पुराना आंदोलन समाप्त हो गया है। असम के विभिन्न छात्र संगठनों द्वारा संचालित सरकार विरोधी आंदोलन के दौरान साढ़े तीन हजार से अधिक जानें गईं और अरबों रुपयों की आर्थिक हानि हुई। बारह अप्रैल १९८० को जब तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी गुवाहाटी गई थीं तो छात्र नेता १९६७ को आधार वर्ष मानकर विदेशी नागरिकों की समस्या के समाधान के तैयार हो गए थे। पर प्रधानमंत्री तब १९७१ को आधार वर्ष माने जाने पर अड़ी रहीं। फलस्वरूप सरकार तथा छात्र संगठनों के बीच बातचीत टूट गई। श्रीमती गांधी ने असम समस्या को सुलझाने के लिए चार [illegible]– (जैलसिंह, श्री आर. वेंकटरमन, श्री प्रकाशचंद्र सेठी तथा श्री नरसिंहराव) की सेवाओं का उपयोग किया। किंतु, अविश्वास और कठोर फैसलों का जो वातावरण बना था, वह ऐसा नहीं था कि कोई समझौता हो पाता।

श्री राजीव गांधी के काम करने की शैली इस अर्थ में नई है कि वह सहज ही विपक्षी दल का विश्वास जीत लेती है। श्री गांधी रियायतें देने को तैयार रहते हैं, जिसके फलस्वरूप सामने वाला पक्ष भी रियायत देकर समझौता करने को तैयार हो जाता है। केंद्र सरकार के गृह सचिव श्री आर. डी. प्रधान ने असम के छात्र नेताओं के साथ बुनियादी बातचीत कर सहमति का आधार तैयार किया। गृहमंत्री श्री एस. बी. चव्हाण ने अंतिम दौर में बातचीत में भाग लिया। कुछ रुकावटों के बाद प्रधानमंत्री राजीव गांधी के हस्तक्षेप से छात्रों को समझौते के लिए राजी किया जा सका और दस सूत्री समझौते पर हस्ताक्षर हो गए।

समझौते को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुनियादी मामलों में केंद्र सरकार तथा छात्र संगठनों, 'आसू' तथा 'अखिल असम गण संग्राम परिषद' के नेताओं, दोनों ने एक-दूसरे को उल्लेखनीय रियायतें दी हैं। इसलिए यह मानने का कोई आधार नहीं है कि पंद्रह अगस्त का असम समझौता किसी पक्ष विशेष की जीत या किसी पक्ष विशेष की हार है। असम समझौता एक महत्वपूर्ण [illegible] उपलब्धि है, जिसका श्रेय भारत के युवा प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी को जाता है। असम [illegible] छात्र संगठनों के नेता भी बधाई के पात्र हैं [illegible] विवेक और सौहार्द का परिचय देकर छः वर्ष पुराना आंदोलन समाप्त करने को [illegible] हो गए हैं। प्रधानमंत्री की कीर्ति में असम समझौते ने एक और चांद जोड़ दिया है। अभी २४ जुलाई को ही उन्होंने पंजाब की खतरनाक रूप से [illegible]

[illegible] दिन बाद ही [illegible] के नाम से पुकारी जाने वाली असम की समस्या का समाधान खोजकर श्री राजीव गांधी ने अपूर्व समाधानकर्ता का विशेषण अर्जित कर लिया है।

समझौते के अनुसार विदेशी नागरिकों की पहचान करने के लिए १ जनवरी १९६६ को आधार वर्ष माना गया है। इस तिथि के पहले आए विदेशियों को नियमसम्मत मान लिया जाएगा। एक अनुमान के अनुसार १९६१ और १९६५ के बीच ही लगभग पांच लाख विदेशी पूर्वी पाकिस्तान से असम राज्य में आए थे। १ जनवरी १९६[illegible] तथा २४ मार्च १९७१ के बीच असम में अन[illegible] वाले विदेशियों को, जिन[illegible] के [illegible] अधिकार [illegible] रूप से असम में दाखिल होने [illegible] (मुख्यतः बंगलादेशियों) को असम के बाहर निकाल दिया जाएगा।

समझौते के तहत भारत [illegible] से [illegible] लिए चुनाव [illegible] उपरोक्त [illegible] विकास, सांस्कृ[illegible] के लिए केंद्र द्वा[illegible] प्रावधान भी [illegible] संसद के अ[illegible] और आम जनता [illegible] किया है। जैसे अ[illegible] समझौते के बाद [illegible] वैसे ही इस समझौते [illegible] महसूस की है। इन [illegible] किया है कि श्री राज[illegible] की कोई समस्या ऐसी [illegible] जा सके। कहा जा सकता [illegible] के समझौते ने राष्ट्र को [illegible] और प्रगति के पथ पर [illegible] हौसला दिया है। इसी भा[illegible] कि समझौते का सफ[illegible] ईमानदारी, कुशलता तथा स[illegible]

Cheers greet Assam pact announcement

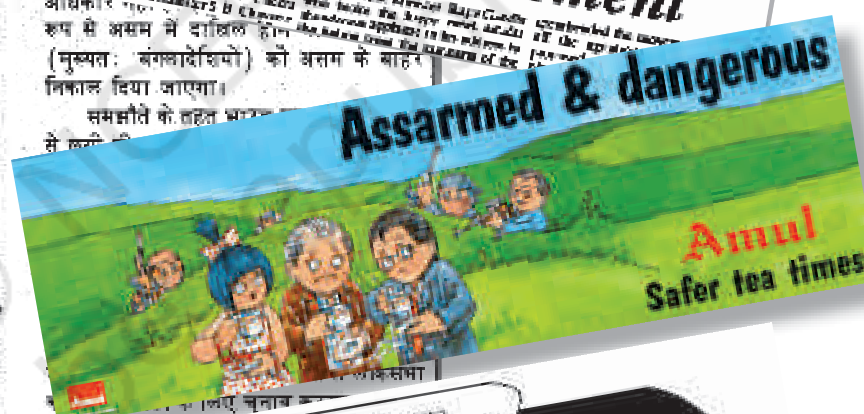

समाहार और राष्ट्रीय अखंडता

इन मामलों से पता चलता है कि आज़ादी के छह दशक बाद भी राष्ट्रीय अखंडता के कुछ मसलों का समाधान पूरी तरह से नहीं हो पाया है। हमने देखा कि क्षेत्रीय आकांक्षाएँ लगातार एक न एक रूप में उभरती

साभार: रामबाबू माथुर

क्या आजकल भी आपको इस तरह के समाचार सुनने को मिलते हैं! किन-किन क्षेत्रों में आप स्थिति को सामान्य होते हुए पाते हैं?

सिक्किम का विलय

आज़ादी के समय सिक्किम को भारत की 'शरणागति' प्राप्त थी। इसका मतलब यह कि तब सिक्किम भारत का अंग तो नहीं था लेकिन वह पूरी तरह संप्रभु राष्ट्र भी नहीं था। सिक्किम की रक्षा और विदेशी मामलों का जिम्मा भारत सरकार का था जबकि सिक्किम के आंतरिक प्रशासन की बागडोर यहाँ के राजा चोग्याल के हाथों में थी। यह व्यवस्था कारगर साबित नहीं हो पायी क्योंकि सिक्किम के राजा स्थानीय जनता की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को संभाल नहीं सके। सिक्किम की आबादी में एक बड़ा हिस्सा नेपालियों का था। नेपाली मूल की जनता के मन में यह भाव घर कर गया कि चोग्याल अल्पसंख्यक लेपचा-भूटिया के एक छोटे-से अभिजन तबके का शासन उन पर लाद रहा है। चोग्याल विरोधी दोनों समुदाय के नेताओं ने भारत सरकार से मदद माँगी और भारत सरकार का समर्थन हासिल किया।

सिक्किम विधानसभा के लिए पहला लोकतांत्रिक चुनाव 1974 में हुआ और इसमें सिक्किम कांग्रेस को भारी विजय मिली। यह पार्टी सिक्किम को भारत के साथ जोड़ने के पक्ष में थी। सिक्किम विधानसभा ने पहले भारत के 'सह-प्रान्त' बनने की कोशिश की और इसके बाद 1975 के अप्रैल में एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में भारत के साथ सिक्किम के पूर्ण विलय की बात कही गई थी। इस प्रस्ताव के तुरंत बाद सिक्किम में जनमत-संग्रह कराया गया और जनमत-संग्रह में जनता ने विधानसभा के फैसले पर अपनी मुहर लगा दी। भारत सरकार ने सिक्किम विधानसभा के अनुरोध को तत्काल मान लिया और सिक्किम भारत का 22वाँ राज्य बन गया। चोग्याल ने इस फैसले को नहीं माना और उसके समर्थकों ने भारत सरकार पर साजिश रचने तथा बल-प्रयोग करने का आरोप लगाया। बहरहाल, भारत संघ में सिक्किम के विलय को स्थानीय जनता का समर्थन हासिल था। इस कारण यह मामला सिक्किम की राजनीति में कोई विभेदकारी मुद्दा न बन सका!

काजी लैंदुप दोरजी खांगसरपा (1904) : सिक्किम के लोकतंत्र बहाली आंदोलन के नेता; सिक्किम प्रजामंडल एवं सिक्किम राज्य कांग्रेस के संस्थापक; 1962 में सिक्किम नेशनल कांग्रेस की स्थापना; चुनावों में विजय के उपरांत सिक्किम के भारत में विलय के समर्थक; एकीकरण के बाद सिक्किम कांग्रेस का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में विलय।

रहीं। कभी कहीं से अलग राज्य बनाने की माँग उठी तो कहीं आर्थिक विकास का मसला उठा। कहीं-कहीं से अलगाववाद के स्वर उभरे। 1980 के बाद के दौर में भारत की राजनीति इन तनावों के घेरे में रही और समाज के विभिन्न तबको की माँगों में पटरी बैठा पाने की लोकतांत्रिक राजनीति की क्षमता की परीक्षा हुई। हम इन उदाहरणों से क्या सबक सीख सकते हैं।

पहला और बुनियादी सबक तो यही है कि क्षेत्रीय आकांक्षाएँ लोकतांत्रिक राजनीति का अभिन्न अंग हैं। क्षेत्रीय मुद्दे की अभिव्यक्ति कोई असामान्य अथवा लोकतांत्रिक राजनीति के व्याकरण से बाहर की घटना नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन जैसे छोटे देश में भी स्कॉटलैंड, वेल्स और उत्तरी आयरलैंड में क्षेत्रीय आकांक्षाएँ उभरी हैं। स्पेन में बास्क लोगों और श्रीलंका में तमिलों ने अलगाववादी माँग की। भारत एक बड़ा लोकतंत्र है और यहाँ विभिन्नताएँ भी बड़े पैमाने पर हैं। अत: भारत को क्षेत्रीय आकांक्षाओं से निपटने की तैयारी लगातार रखनी होगी।

दूसरा सबक यह है कि क्षेत्रीय आकांक्षाओं को दबाने की जगह उनके साथ लोकतांत्रिक बातचीत का तरीका अपनाना सबसे अच्छा होता है। जरा अस्सी के दशक की तरफ़ नज़र दौड़ाएँ—पंजाब में उग्रवाद का जोर था; पूर्वोत्तर में समस्याएँ बनी हुई थीं; असम के छात्र आंदोलन कर रहे थे और कश्मीर घाटी में माहौल अशांत था।

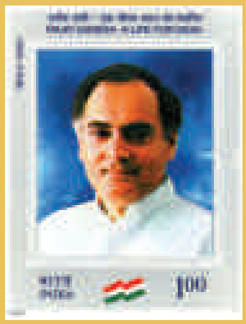

राजीव गाँधी
(1944–1991) : 1984 से 1989 के बीच भारत के प्रधानमंत्री; इंदिरा गाँधी के पुत्र; 1980 के बाद राजनीति में सक्रिय; पंजाब के आतंकवादियों, मिजो–विद्रोहियों तथा असम में छात्र संघ से समझौता; खुली अर्थव्यवस्था एवं कंप्यूटर प्रौद्योगिकी के हिमायती; सिंहली–तमिल समस्या को सुलझाने के लिए भारतीय शांति सेना को श्रीलंका की सरकार के अनुरोध पर श्रीलंका भेजा; संदिग्ध एलटीटीई आत्मघाती द्वारा हत्या।

इन मसलों को सरकार ने कानून-व्यवस्था की गड़बड़ी का साधारण मामला मानकर पूरी गंभीरता दिखाई। बातचीत के जरिए सरकार ने क्षेत्रीय आंदोलनों के साथ समझौता किया। इससे सौहार्द का माहौल बना और कई क्षेत्रों में तनाव कम हुआ। मिजोरम के उदाहरण से पता चलता है कि राजनीतिक सुलह के जरिए अलगाववाद की समस्या से बड़े कारगर तरीके से निपटा जा सकता है।

तीसरा सबक है सत्ता की साझेदारी के महत्त्व को समझना। सिर्फ लोकतांत्रिक ढाँचा खड़ा कर लेना ही काफ़ी नहीं है। इसके साथ ही विभिन्न क्षेत्रों के दलों और समूहों को केंद्रीय राजव्यवस्था में हिस्सेदार बनाना भी जरूरी है। ठीक इसी तरह यह कहना भी नाकफ़ी है कि किसी प्रदेश अथवा क्षेत्र को उसके मामलों में स्वायत्तता दी गई है। क्षेत्रों को मिलाकर ही पूरा देश बनता है। इसी कारण देश की नियति के निर्धारण में क्षेत्रों की बातों को वजन दिया जाना चाहिए। यदि राष्ट्रीय स्तर के निर्णयों में क्षेत्रों को वजन नहीं दिया गया तो उनमें अन्याय और अलगाव का बोध पनपेगा।

चौथा सबक यह है कि आर्थिक विकास के एतबार से विभिन्न इलाकों के बीच असमानता हुई तो पिछड़े क्षेत्रों को लगेगा कि उनके साथ भेदभाव हो रहा है। भारत में आर्थिक विकास प्रक्रिया का एक तथ्य क्षेत्रीय असंतुलन भी है। ऐसे में स्वाभाविक है कि पिछड़े प्रदेशों अथवा कुछ प्रदेशों के पिछड़े इलाकों को लगे कि उनके पिछड़ेपन को प्राथमिकता के आधार पर दूर किया जाना चाहिए। वे यह भी कह सकते हैं कि भारत सरकार ने जो नीतियाँ अपनायी हैं उसी के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय असंतुलन पैदा हुआ है। अगर कुछ राज्य गरीब रहें और बाकी तेजी से प्रगति करें तो क्षेत्रीय असंतुलन पैदा होगा। साथ ही, अंतर्प्रान्तीय अथवा अंतर्क्षेत्रीय आप्रवास में भी बढ़ोत्तरी होगी।

सबसे आखिरी बात यह कि इन मामलों से हमें अपने संविधान निर्माताओं की दूरदृष्टि का पता चलता है। वे विभिन्नताओं को लेकर अत्यंत सजग थे। हमारे संविधान के प्रावधान इस बात के साक्ष्य हैं। भारत ने जो संघीय प्रणाली अपनायी है वह बहुत लचीली है। अगर अधिकतर राज्यों के अधिकार समान हैं तो जम्मू-कश्मीर और पूर्वोत्तर के कुछ राज्यों के लिए विशेष प्रावधान भी किए गए हैं। संविधान की छठी अनुसूची में विभिन्न जनजातियों को अपने आचार-व्यवहार और पारंपरिक नियमों को संरक्षित रखने की पूर्ण स्वायत्तता दी गई है। पूर्वोत्तर की कुछ जटिल राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में ये प्रावधान बड़े निर्णायक साबित हुए।

भारत का संवैधानिक ढाँचा ज्यादा लचीला और सर्वसमावेशी है। जिस तरह की चुनौतियाँ भारत में पेश आयीं वैसी कुछ दूसरे देशों में भी आयी लेकिन भारत का संवैधानिक ढाँचा अन्य देशों के मुकाबले भारत को विशिष्ट बनाता है। क्षेत्रीय आकांक्षाओं को यहाँ अलगाववाद की राह पर जाने का मौका नहीं मिला। भारत की राजनीति ने यह स्वीकार किया है कि क्षेत्रीयता, लोकतांत्रिक राजनीति का अभिन्न अंग है।

गोवा की मुक्ति

हालाँकि 1947 में भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का खात्मा हो गया था लेकिन पुर्तगाल ने गोवा, दमन और दीव से अपना शासन हटाने से इनकार कर दिया। यह क्षेत्र सोलहवीं सदी से ही औपनिवेशिक शासन में था। अपने लंबे शासनकाल में पुर्तगाल ने गोवा की जनता का दमन किया था। उसने यहाँ के लोगों को नागरिकों अधिकारों से वंचित रखा और बलात् धर्म-परिवर्तन कराया। आज़ादी के बाद भारत सरकार ने बड़े धैर्यपूर्वक पुर्तगाल को गोवा से अपना शासन हटाने पर रजामंद करने की कोशिश की। गोवा में आज़ादी के लिए एक मजबूत जन आंदोलन चला। इस आंदोलन को महाराष्ट्र के समाजवादी सत्याग्रहियों ने बल प्रदान किया। आखिरकार, दिसंबर 1961 में भारत सरकार ने गोवा में अपनी सेना भेजी। दो दिन की कार्रवाई में भारतीय सेना ने गोवा को मुक्त करा लिया। गोवा, दमन और दीव संघशासित प्रदेश।

जल्दी ही एक और समस्या उठ खड़ी हुई। महाराष्ट्रवादी गोमांतक पार्टी के नेतृत्व में एक तबके ने माँग रखी कि गोवा को महाराष्ट्र में मिला दिया जाए क्योंकि यह मराठी-भाषी क्षेत्र है। बहरहाल, बहुत-से गोवावासी गोवानी पहचान और संस्कृति की स्वतंत्र अहमियत बनाए रखना चाहते थे। कोंकणी भाषा के लिए भी इनके मन में आग्रह था। इस तबके का नेतृत्व यूनाइटेड गोअन पार्टी (यूजीपी) ने किया। 1967 के जनवरी में केंद्र सरकार ने गोवा में एक विशेष जनमत सर्वेक्षण कराया। इसमें गोवा के लोगों से पूछा गया कि आप लोग महाराष्ट्र में शामिल होना चाहते हैं अथवा अलग बने रहना चाहते हैं। इस मसले पर सरकार ने जनता की इच्छा को जानने के लिए जनमत-संग्रह जैसी प्रक्रिया अपनायी थी। अधिकतर लोगों ने महाराष्ट्र से अलग रहने के पक्ष में मत डाला। इस तरह गोवा संघशासित प्रदेश बना रहा। अंततः 1987 में गोवा भारत संघ का एक राज्य बना।

साभार: आर.के लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ इंडिया, 21 अप्रैल 1954

प्रश्नावली

1. निम्नलिखित में मेल करें:

अ क्षेत्रीय आकांक्षाओं की प्रकृति		ब राज्य
(क) सामाजिक-धार्मिक पहचान के आधार पर राज्य का निर्माण	**(i)**	नगालैंड/मिजोरम
(ख) भाषायी पहचान और केंद्र के साथ तनाव	**(ii)**	झारखंड/छत्तीसगढ़
(ग) क्षेत्रीय असंतुलन के फलस्वरूप राज्य का निर्माण	**(iii)**	पंजाब
(ख) आदिवासी पहचान के आधार पर अलगाववादी माँग	**(iv)**	तमिलनाडु

2. पूर्वोत्तर के लोगों की क्षेत्रीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति कई रूपों में होती है। बाहरी लोगों के खिलाफ़ आंदोलन, ज्यादा स्वायत्तता की माँग के आंदोलन और अलग देश बनाने की माँग करना-ऐसी ही कुछ अभिव्यक्तियाँ हैं। पूर्वोत्तर के मानचित्र पर इन तीनों के लिए अलग-अलग रंग भरिए और दिखाइए कि किस राज्य में कौन-सी प्रवृत्ति ज्यादा प्रबल है।

3. पंजाब समझौते के मुख्य प्रावधान क्या थे? क्या ये प्रावधान पंजाब और उसके पड़ोसी राज्यों के बीच तनाव बढ़ाने के कारण बन सकते हैं? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

4. आनंदपुर साहिब प्रस्ताव के विवादास्पद होने के क्या कारण थे?

5. जम्मू-कश्मीर की अंदरुनी विभिन्नताओं की व्याख्या कीजिए और बताइए कि इन विभिन्नताओं के कारण इस राज्य में किस तरह अनेक क्षेत्रीय आकांक्षाओं ने सर उठाया है।

6. कश्मीर की क्षेत्रीय स्वायत्तता के मसले पर विभिन्न पक्ष क्या हैं? इनमें कौन-सा पक्ष आपको समुचित जान पड़ता है? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए।

7. असम आंदोलन सांस्कृतिक अभिमान और आर्थिक पिछड़ेपन की मिली-जुली अभिव्यक्ति था। व्याख्या कीजिए।

8. हर क्षेत्रीय आंदोलन अलगाववादी माँग की तरफ अग्रसर नहीं होता। इस अध्याय से उदाहरण देकर इस तथ्य की व्याख्या कीजिए।

9. भारत के विभिन्न भागों से उठने वाली क्षेत्रीय मांगों से 'विविधता में एकता' के सिद्धांत की अभिव्यक्ति होती है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? तर्क दीजिए।

10. नीचे लिखे अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें:

हजारिका का एक गीत...एकता की विजय पर है; पूर्वोत्तर के सात राज्यों को इस गीत में एक ही माँ की सात बेटियाँ कहा गया है... मेघालय अपने रास्ते गई... अरुणाचल भी अलग हुई और मिजोरम असम के द्वार पर दूल्हे की तरह दूसरी बेटी से ब्याह रचाने को खड़ा है... इस गीत का अंत असमी लोगों की एकता को बनाए रखने के संकल्प के साथ होता है

© NCERT not to be republished

और इसमें समकालीन असम में मौजूद छोटी-छोटी कौमों को भी अपने साथ एकजुट रखने की बात कही गई है... करबी और मिजिंग भाई-बहन हमारे ही प्रियजन हैं।

–संजीब बरुआ

(क) लेखक यहाँ किस एकता की बात कह रहा है?

(ख) पुराने राज्य असम से अलग करके पूर्वोत्तर के कुछ राज्य क्यों बनाए गए?

(ग) क्या आपको लगता है कि भारत के सभी क्षेत्रों के ऊपर एकता की यही बात लागू हो सकती है? क्यों?

© NCERT not to be republished

1990 के दशक में विभिन्न राजनीतिक दलों में बड़ी अफ़रा-तफ़री मची। इस कार्टून की ही तरह कइयों को यह सब ऊँची चरखी की सवारी जैसा जान पड़ा। यहाँ कार्टून में राजीव गाँधी, वी.पी. सिंह, एल.के. आडवाणी, चंद्रशेखर, ज्योति बसु, एन.टी. रामाराव, देवीलाल, पी.के. महंत और के. करुणानिधि को चरखी पर सवार दिखाया गया है।

इस अध्याय में...

इस अध्याय में हम पिछले दो दशकों की भारतीय राजनीति का एक संक्षिप्त जायज़ा लेंगे। इस अवधि में कुछ जटिल किस्म के बदलाव आए। कई कारकों ने एक साथ मिलकर इस अवधि में अप्रत्याशित परिणाम दिए। राजनीति के इस नए दौर का पूर्वानुमान कर पाना असंभव था और अब भी इसे समझना बहुत कठिन है। इस दौर के बदलाव बड़े विवादास्पद हैं, क्योंकि इनके साथ संघर्ष के कुछ गहरे मसले जुड़े हुए हैं और हम सब अभी इन बदलावों से इतने दूर नहीं जा पाए हैं कि इनके स्वरूप को साफ़-साफ़ परख सकें। बहरहाल इस दौर के राजनीतिक बदलावों को लेकर हम कुछ बुनियादी सवाल कर सकते हैं:

- गठबंधन की राजनीति के उदय का हमारे लोकतंत्र पर क्या असर पड़ा है?
- मंडलीकरण क्या है? इसने राजनीतिक प्रतिनिधित्व के स्वभाव को किन रूपों में बदला है?
- राजनीतिक लामबंदी के लिहाज़ से रामजन्मभूमि आंदोलन और बाबरी मस्जिद विध्वंस ने क्या विरासत छोड़ी है?
- नीतिगत मामलों पर एक सर्व-सहमति सी बन गई है–इसका राजनीतिक विकल्पों के चयन के लिहाज़ से क्या असर हुआ है?

यह अध्याय इन सवालों के जवाब नहीं देता। इस अध्याय में आपको कुछ ज़रूरी सूचनाएँ दी गई हैं और कुछ तरीके बताए गए हैं, ताकि जब आप इस किताब को आखिर तक पढ़ लें, तो आप ये सवाल पूछ सकें और इनके जवाब तलाश सकें। ये सवाल राजनीतिक लिहाज़ से संवेदनशील हैं, लेकिन मात्र इसी कारण से हम इन सवालों को पूछने से बच नहीं सकते। आज़ादी के बाद की भारतीय राजनीति के इतिहास को आखिर पढ़ने का मकसद ही यही है कि हम अपने वर्तमान को समझ सकें।

भारतीय राजनीति : नए बदलाव

1990 का दशक

आपने पिछले अध्याय में पढ़ा था कि इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद राजीव गाँधी प्रधानमंत्री बने। इंदिरा गाँधी की हत्या के कुछ दिनों बाद ही 1984 में लोकसभा के चुनाव हुए। राजीव गाँधी की अगुवाई में कांग्रेस को इस चुनाव में भारी विजय मिली। 1980 के दशक के आखिर के सालों में देश में ऐसे पाँच बड़े बदलाव आए, जिनका हमारी आगे की राजनीति पर गहरा असर पड़ा।

पहला, इस दौर की एक महत्त्वपूर्ण घटना 1989 के चुनावों में कांग्रेस की हार है। जिस पार्टी ने 1984 में लोकसभा की 415 सीटें जीती थीं वह इस चुनाव में महज 197 सीटें ही जीत सकी। 1991 में एक बार फिर मध्यावधि चुनाव हुए और कांग्रेस इस बार अपना आँकड़ा सुधारते हुए सत्ता में आयी। बहरहाल, 1989 में ही उस परिघटना की समाप्ति हो गई थी, जिसे राजनीति विज्ञानी अपनी खास शब्दावली में 'कांग्रेस प्रणाली' कहते हैं। यह बात तो प्रकट ही है कि कांग्रेस एक महत्त्वपूर्ण पार्टी के रूप में कायम रही और 1989 के बाद भी देश पर किसी अन्य पार्टी के बजाय उसका शासन ज़्यादा दिनों तक रहा। लेकिन, दलीय प्रणाली के भीतर जैसी प्रमुखता इसे पहले के दिनों में हासिल थी, वैसी अब न रही।

कांग्रेस नेता सीताराम केसरी ने देवगौड़ा की संयुक्त मोर्चा सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया।

दूसरा बड़ा बदलाव राष्ट्रीय राजनीति में 'मंडल मुद्दे' का उदय था। 1990 में राष्ट्रीय मोर्चा की नयी सरकार ने मंडल आयोग की सिफ़ारिशों को लागू किया। इन सिफ़ारिशों के अंतर्गत प्रावधान किया गया कि केंद्र सरकार की नौकरियों में 'अन्य पिछड़ा वर्ग' को आरक्षण दिया जाएगा। सरकार के इस फ़ैसले से देश के विभिन्न भागों में मंडल-विरोधी हिंसक प्रदर्शन हुए। अन्य पिछड़ा वर्ग को मिले आरक्षण के समर्थक और विरोधियों के बीच चले विवाद को 'मंडल मुद्दा' कहा जाता है। इसने 1989 के बाद की राजनीति में अहम भूमिका निभाई।

तीसरा, विभिन्न सरकारों ने इस दौर में जो आर्थिक नीतियाँ अपनायीं, वे बुनियादी तौर पर बदल चुकी थीं। इसे ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम अथवा नए आर्थिक सुधार के नाम से जाना

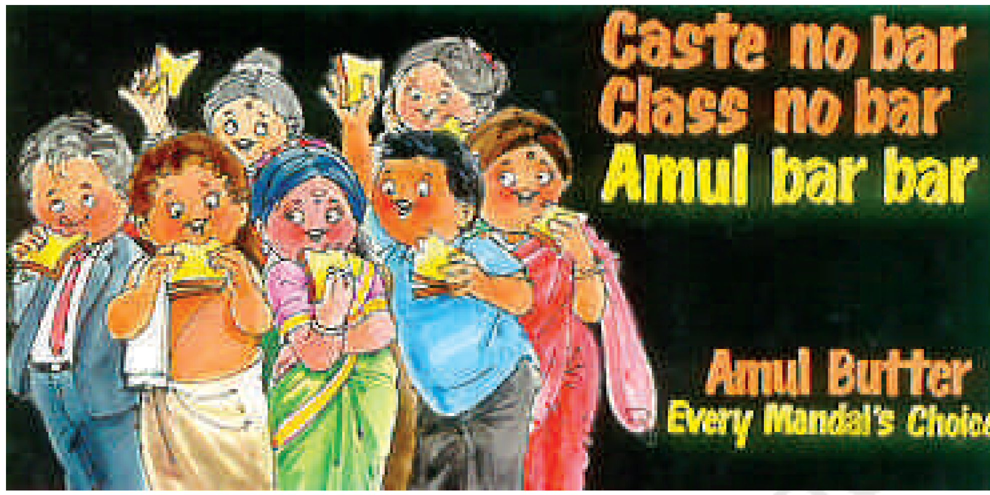

मंडलीकरण पर एक प्रतिक्रिया

गया। इनकी शुरुआत राजीव गाँधी की सरकार के समय हुई और 1991 तक ये बदलाव बड़े पैमाने पर प्रकट हुए। आज़ादी के बाद से अब तक भारतीय अर्थव्यवस्था जिस दिशा में चलती आई थी, वह इन नए आर्थिक सुधारों के कारण मूलगामी अर्थों में बदल गई। नयी आर्थिक नीतियों की विभिन्न आंदोलनों और संगठनों की तरफ़ से भरपूर आलोचना हुई। बहरहाल इस अवधि में जितनी सरकारें बनीं, सबने नयी आर्थिक नीति पर अमल जारी रखा।

चौथे, घटनाओं के एक सिलसिले की परिणति अयोध्या स्थित एक विवादित ढाँचे (बाबरी मस्ज़िद के रूप में प्रसिद्ध) के विध्वंस के रूप में हुई। यह घटना 1992 के दिसंबर महीने

साभारः आर. के. लक्ष्मण, टाइम्स ऑफ इंडिया

तत्कालीन वित्तमंत्री मनमोहन सिंह और प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव को 'नयी आर्थिक नीति' के शुरुआती दौर में दिखाता एक कार्टून।

में घटी। इस घटना ने देश की राजनीति में कई परिवर्तनों को जन्म दिया और उनका प्रतीक बनी। इस घटना से भारतीय राष्ट्रवाद और धर्मनिरपेक्षता पर बहस तेज़ हो गई। इन बदलावों का संबंध भाजपा के उदय और हिंदुत्व की राजनीति से है।

इस सिलसिले की आखिरी बात यह है कि मई 1991 में राजीव गाँधी की हत्या कर दी गई और इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व में परिवर्तन हुआ। राजीव गाँधी चुनाव

बढ़ती हुई सांप्रदायिकता पर चिंता ज़ाहिर करता एक विज्ञापन

अभियान के सिलसिले में तमिलनाडु के दौरे पर थे। तभी लिट्टे से जुड़े श्रीलंकाई तमिलों ने उनकी हत्या कर दी। 1991 के चुनावों में कांग्रेस सबसे बड़ी विजयी पार्टी के रूप में सामने आयी। राजीव गाँधी की मृत्यु के बाद कांग्रेस पार्टी ने नरसिम्हा राव को प्रधानमंत्री चुना।

25 अक्तूबर 1995 | 1 मई 1996 | 20 अगस्त 2001 | 25 अक्तूबर 2004

कांग्रेस नेतृत्व कई बार सुर्खियों में छाया रहा

गठबंधन का युग

1989 के चुनावों में कांग्रेस पार्टी की हार हुई थी, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि किसी दूसरी पार्टी को इस चुनाव में बहुमत मिल गया था। कांग्रेस अब भी लोकसभा में सबसे बड़ी पार्टी थी, लेकिन बहुमत में न होने के कारण उसने विपक्ष में बैठने का फ़ैसला किया। राष्ट्रीय मोर्चे को (यह मोर्चा जनता दल और कुछ अन्य क्षेत्रीय दलों को मिलाकर बना था) परस्पर विरुद्ध दो राजनीतिक समूहों – भाजपा और वाम मोर्चे – ने समर्थन दिया। इस समर्थन के आधार पर राष्ट्रीय मोर्चा ने एक गठबंधन सरकार बनायी, लेकिन इसमें भाजपा और वाम मोर्चे ने शिरकत नहीं की।

साभार: सुधीर तैलंग / एच.टी. बुक ऑफ कार्टून्स

वी.पी. सिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को वाम मोर्चा (यहाँ प्रतीक रूप में ज्योति बसु) और भाजपा (यहाँ प्रतीक रूप में एल.के. आडवाणी) ने समर्थन दिया था।

not to be republished

कांग्रेस का पतन

कांग्रेस की हार के साथ भारत की दलीय व्यवस्था से उसका दबदबा खत्म हो गया। अध्याय पाँच में कांग्रेस प्रणाली की पुनर्स्थापना की चर्चा की गई थी। क्या आपको यह चर्चा याद है। 1960 के दशक के अंतिम सालों में कांग्रेस के एकछत्र राज को चुनौती मिली थी, लेकिन इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने भारतीय राजनीति पर अपना प्रभुत्व फिर से कायम किया। नब्बे के दशक में कांग्रेस की अग्रणी हैसियत को एक बार फिर चुनौती मिली। बहरहाल इसका मतलब यह नहीं है कि कांग्रेस की जगह कोई दूसरी पार्टी प्रमुख हो गई।

इस दौर में कांग्रेस के दबदबे के खात्मे के साथ बहुदलीय शासन-प्रणाली का युग शुरू हुआ। यह तो निश्चित ही है कि अपने देश में अनेक पार्टियाँ चुनाव लड़ती आयी हैं। हमारी संसद में हमेशा कई दलों के सांसद रहे हैं। 1989 के बाद एक नयी बात देखने में आयी। अब कई पार्टियाँ इस तरह उभरीं कि किसी एक-दो पार्टी को ही अधिकाँश वोट या सीट नहीं मिल पाते थे। इसका मतलब यह भी हुआ कि 1989 के बाद से लोकसभा के चुनावों में कभी भी किसी एक पार्टी को 2014 तक पूर्ण बहुमत नहीं मिला। इस बदलाव के साथ केंद्र में गठबंधन सरकारों का दौर शुरू हुआ और क्षेत्रीय पार्टियों ने गठबंधन सरकार बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

खोज-बीन

अपने माता-पिता से 1990 के दशक के बाद से हुई घटनाओं के बारे में पूछें और इस समय की उनकी यादों को कुरेदें। उनसे पूछिए कि उस दौर की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के बारे में वे क्या सोचते हैं। समूह बनाकर एक साथ बैठिए और अपने माता-पिता द्वारा बतायी गई घटनाओं की एक व्यापक सूची बनाइए। देखिए कि किस घटना का ज़िक्र ज़्यादा आया है। फिर, इस अध्याय में जिन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बदलावों का ज़िक्र आया है उनसे तुलना कीजिए। आप इस बात पर चर्चा कर सकते हैं कि कुछ घटनाएँ क्यों कुछ लोगों के लिए ज़्यादा महत्त्वपूर्ण थीं, जबकि दूसरों के लिए नहीं।

गठबंधन की राजनीति

नब्बे का दशक कुछ ताकतवर पार्टियों और आंदोलनों के उभार का साक्षी रहा। इन पार्टियों और आंदोलनों ने दलित तथा पिछड़े वर्ग (अन्य पिछड़ा वर्ग या ओबीसी) की नुमाइंदगी की। इन दलों में से अनेक ने क्षेत्रीय आकांक्षाओं की भी दमदार दावेदारी की। 1996 में बनी संयुक्त मोर्चे की सरकार में इन पार्टियों ने अहम किरदार निभाया। संयुक्त मोर्चा 1989 के राष्ट्रीय मोर्चे के ही समान था, क्योंकि इसमें भी जनता दल और कई क्षेत्रीय पार्टियाँ शामिल थीं। इस बार भाजपा ने सरकार को समर्थन नहीं दिया। संयुक्त मोर्चा की सरकार को कांग्रेस का समर्थन हासिल था। इससे पता चलता है कि राजनीतिक समीकरण किस कदर छुईमुई थे। 1989 में भाजपा और वाम मोर्चा दोनों ने राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार को समर्थन दिया था, क्योंकि ये दोनों कांग्रेस को सत्ता से बाहर रखना चाहते थे। इस बार वाममोर्चा ने गैर-कांग्रेसी सरकार को अपना समर्थन जारी रखा, लेकिन संयुक्त मोर्चा की सरकार को कांग्रेस पार्टी ने भी समर्थन दिया। दरअसल, कांग्रेस और वाममोर्चा दोनों इस बार भाजपा को सत्ता से बाहर रखना चाहते थे।

बहरहाल इन्हें ज़्यादा दिनों तक सफलता नहीं मिली और भाजपा ने 1991 तथा 1996 के चुनावों में अपनी स्थिति लगातार मज़बूत की। 1996 के चुनावों में यह सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी। इस नाते भाजपा को सरकार बनाने का न्यौता मिला। लेकिन अधिकांश दल, भाजपा की नीतियों के खिलाफ़ थे और इस वजह से भाजपा की सरकार लोकसभा में बहुमत हासिल नहीं कर सकी। आखिरकार भाजपा एक गठबंधन (राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन—राजग)

के अगुआ के रूप में सत्ता में आयी और 1998 के मई से 1999 के जून तक सत्ता में रही। फिर 1999 के अक्तूबर में इस गठबंधन ने दोबारा सत्ता हासिल की। राजग की इन दोनों सरकारों में अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री बने। 1999 की राजग सरकार ने अपना निर्धारित कार्यकाल पूरा किया।

साभार: अजीत मैनन/इंडिया टुडे

एक पार्टी के प्रभुत्व के दौर से लेकर बहुदलीय गठबंधन प्रणाली तक के सफ़र पर एक कार्टूनिस्ट की नज़र

इस तरह 1989 के चुनावों से भारत में गठबंधन की राजनीति के एक लंबे दौर की शुरुआत हुई। इसके बाद से केंद्र में 11 सरकारें बनीं। ये सभी या तो गठबंधन की सरकारें थीं अथवा दूसरे दलों के समर्थन पर टिकी अल्पमत की सरकारें थीं जो इन सरकारों में शामिल नहीं हुए। इस नए दौर में कोई सरकार क्षेत्रीय पार्टियों की साझेदारी अथवा उनके समर्थन से ही बनायी जा सकती थी। यह बात 1989 के राष्ट्रीय मोर्चा सरकार, 1996 और 1997 की संयुक्त मोर्चा सरकार, 1998 और 1999 की राजग, 2004 और 2009 की संप्रग सरकार पर समान रूप से लागू होती है। हालांकि, 2014 में यह प्रवृत्ति बदल गयी है।

आइए, अब तक जो हमने सीखा उसे इस बदलाव के साथ जोड़कर देखने की कोशिश करें। माना जा सकता है कि गठबंधन सरकारों का युग लंबे समय से जारी कुछ प्रवृत्तियों की परिणति है। पिछले कुछ दशकों से भारतीय समाज में गुपचुप बदलाव आ रहे थे और इन बदलावों ने जिन प्रवृत्तियों को जन्म दिया, वे भारतीय राजनीति को गठबंधन की सरकारों के युग की तरफ़ ले आयीं।

केंद्रीय सरकार 1989 के बाद

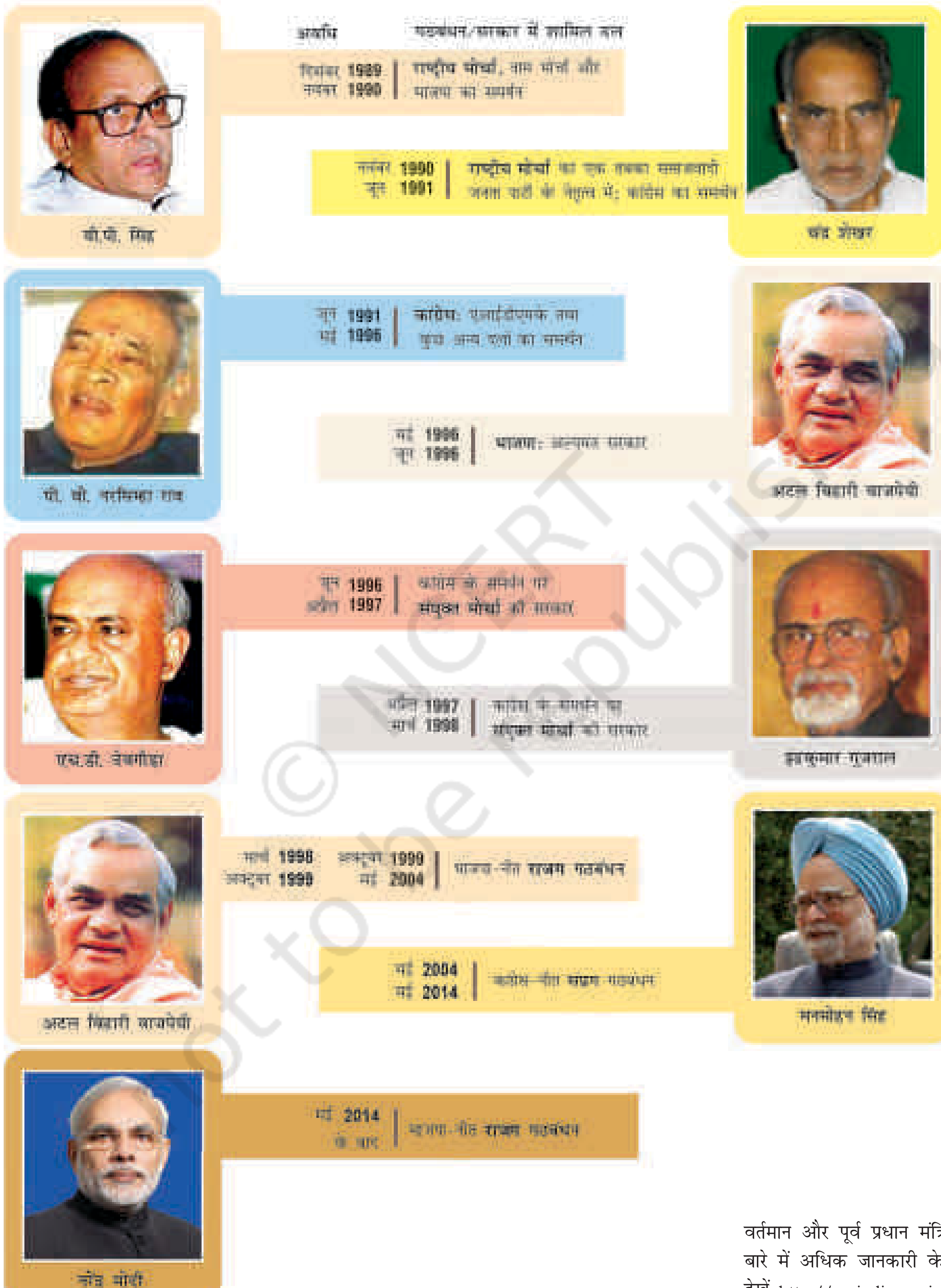

वर्तमान और पूर्व प्रधान मंत्रियों के बारे में अधिक जानकारी के लिए, देखें http://pmindia.gov.in/hi

नोटः यहाँ कुछ खाली स्थान छोड़ दिए गए हैं। इनमें आप किसी सरकार की मुख्य नीतियों, कामकाज और उन पर उठे विवाद की कुछ सूचनाएँ लिख सकते हैं।

दूसरे अध्याय में हमने पढ़ा था कि शुरुआती सालों में कांग्रेस खुद में ही एक गठबंधननुमा पार्टी थी। इसमें विभिन्न हित, सामाजिक समूह और वर्ग एक साथ रहते थे। इस परिघटना को 'कांग्रेस प्रणाली' कहा गया।

पाँचवें अध्याय में हम यह बात पढ़ चुके हैं कि 1960 के दशक से विभिन्न समूह कांग्रेस पार्टी से अलग होने लगे और इन्होंने अपनी खुद की पार्टी बनायी। हम इस बात पर भी गौर कर चुके हैं कि 1977 के बाद के सालों में कई क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ। इन सारे कारणों से कांग्रेस पार्टी कमज़ोर हुई, लेकिन कोई दूसरी पार्टी इस तरह से नहीं उभर पायी कि कांग्रेस का विकल्प बन सके।

अन्य पिछड़ा वर्ग का राजनीतिक उदय

इस अवधि का एक दूरगामी बदलाव था—अन्य पिछड़ा वर्ग का उदय। आप 'ओबीसी' शब्द से परिचित होंगे। इससे विचार-विवेचन की एक प्रशासनिक कोटि 'अन्य पिछड़ा वर्ग' अथवा 'अदर बैकवर्ड क्लासेज्' का संकेत किया जाता है। यह अनुसूचित जाति अथवा अनुसूचित जनजाति से अलग एक कोटि है, जिसमें शैक्षणिक और सामाजिक रूप से पिछड़े समुदायों की गणना की जाती है। इन समुदायों को 'पिछड़ा वर्ग' भी कहा जाता है। छठे अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि पिछड़ी जातियों के अनेक तबके कांग्रेस से दूर जा रहे थे। उनमें कांग्रेस के लिए समर्थन कम होता जा रहा था। ऐसे में गैर-कांग्रेसी दलों के लिए एक जगह पैदा हुई और इन दलों ने इस तबके का समर्थन हासिल किया। आपको याद होगा कि गैर-कांग्रेसी दलों के राजनीतिक अभ्युदय की अभिव्यक्ति 1977 की जनता पार्टी की सरकार के रूप में हुई। जनता पार्टी के कई घटक मसलन भारतीय क्रांतिदल और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी का ग्रामीण इलाकों के अन्य पिछड़े वर्ग में ताकतवर जनाधार था।

© NCERT not to be republished

'मंडल' का लागू होना

1980 के दशक में अन्य पिछड़ा वर्गों के बीच लोकप्रिय ऐसे ही राजनीतिक समूहों को जनता दल ने एकजुट किया। राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार ने मंडल आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करने का फ़ैसला किया। इससे अन्य पिछड़ा वर्ग की राजनीति को सुगठित रूप देने में मदद मिली। नौकरी में आरक्षण के सवाल पर तीखे वाद-विवाद हुए और इन विवादों से 'अन्य पिछड़ा वर्ग' अपनी पहचान को लेकर ज़्यादा सजग हुआ। जो इस तबके को लामबंद करना चाहते थे, उन्हें इसका फायदा हुआ। इस दौर में ऐसी अनेक पार्टियाँ आगे आयीं, जिन्होंने रोज़गार और शिक्षा के क्षेत्र में अन्य पिछड़ा वर्ग को बेहतर अवसर उपलब्ध कराने की माँग की। इन दलों ने सत्ता में 'अन्य पिछड़ा वर्ग' की हिस्सेदारी का सवाल भी उठाया। इन दलों का कहना था कि भारतीय समाज में अन्य पिछड़ा वर्ग का एक बड़ा हिस्सा है। इसे देखते हुए अन्य पिछड़ा वर्ग का शासन में समुचित प्रतिनिधित्व और सत्ता में समुचित मौजूदगी तय करना लोकतांत्रिक कदम होगा।

मंडल आयोग की रिपोर्ट को लागू करने पर राजनीतिक माहौल सरगर्म हो उठा। जगह-जगह विरोध प्रदर्शन हुए।

मंडल आयोग

दक्षिण के राज्यों में अगर बहुत पहले से नहीं तो भी कम-से-कम 1960 के दशक से अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए आरक्षण का प्रावधान चला आ रहा था। बहरहाल, यह नीति उत्तर भारत के राज्यों में लागू नहीं थी। 1977-79 की जनता पार्टी की सरकार के समय उत्तर भारत में पिछड़े वर्ग के आरक्षण के लिए राष्ट्रीय स्तर पर मज़बूती से आवाज़ उठाई गई। बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर इस दिशा में अग्रणी थे। उनकी सरकार ने बिहार में 'ओबीसी' को आरक्षण देने के लिए एक नयी नीति लागू की। इसके बाद केंद्र सरकार ने 1978 में एक आयोग बैठाया। इसके जिम्मे पिछड़ा वर्ग की स्थिति को सुधारने के उपाय बताने का काम सौंपा गया। आज़ादी के बाद से यह दूसरा अवसर था, जब सरकार ने ऐसा आयोग नियुक्त किया। इसी कारण आधिकारिक रूप से इस आयोग को 'दूसरा पिछड़ा वर्ग आयोग' कहा गया। आमतौर पर इस आयोग को इसके अध्यक्ष बिन्देश्वरी प्रसाद मंडल के नाम पर 'मंडल कमीशन' कहा जाता है।

बी.पी. मंडल (1918-1982): 1967-1970 तथा 1977-1979 में बिहार से सांसद चुने गए। दूसरा पिछड़ा वर्ग आयोग की अध्यक्षता की। इस आयोग ने अन्य पिछड़ा वर्ग को आरक्षण देने की सिफ़ारिश की। बिहार के समाजवादी नेता। 1968 में डेढ़ माह तक बिहार के मुख्यमंत्री पद पर रहे। 1977 में जनता पार्टी में शामिल हुए।

मंडल आयोग का गठन भारतीय समाज के विभिन्न तबकों के बीच शैक्षिक और सामाजिक पिछड़ेपन की व्यापकता का पता लगाने और इन पिछड़े वर्गों की पहचान के तरीके बताने के लिए किया गया था। आयोग से यह भी अपेक्षा की गई थी कि वह इन वर्गों के पिछड़ेपन को दूर करने के उपाय सुझाएगा। आयोग ने 1980 में अपनी सिफारिशें पेश कीं। इस वक्त तक जनता पार्टी की सरकार गिर चुकी थी। आयोग का मशविरा था कि पिछड़ा वर्ग को पिछड़ी जाति के अर्थ में स्वीकार किया जाए, क्योंकि अनुसूचित जातियों से इतर ऐसी अनेक जातियाँ हैं, जिन्हें वर्ण व्यवस्था में 'नीच' समझा जाता है। आयोग ने एक सर्वेक्षण किया और पाया कि इन पिछड़ी जातियों की शिक्षा संस्थाओं तथा सरकारी नौकरियों में बड़ी कम मौजूदगी है। इस वजह से आयोग ने इन समूहों के लिए शिक्षा संस्थाओं तथा सरकारी नौकरियों में 27 प्रतिशत सीट आरक्षित करने की सिफारिश की। मंडल आयोग ने अन्य पिछड़ा वर्ग की स्थिति सुधारने के लिए कई और समाधान सुझाए जिनमें भूमि-सुधार भी एक था।

1990 के अगस्त में राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार ने मंडल आयोग की सिफ़ारिशों में से एक को लागू करने का फ़ैसला किया। यह सिफ़ारिश केंद्रीय सरकार और उसके उपक्रमों की नौकरियों में अन्य पिछड़ा वर्ग को आरक्षण देने के संबंध में थी। सरकार के फ़ैसले से उत्तर भारत के कई शहरों में हिंसक विरोध का स्वर उमड़ा। इस फ़ैसले को सर्वोच्च न्यायालय में भी चुनौती दी गई और यह प्रकरण 'इंदिरा साहनी केस' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सरकार के फ़ैसले के खिलाफ़ अदालत में जिन लोगों ने अर्जी दायर की थी, उनमें एक नाम इंदिरा साहनी का भी था। 1992 के नवंबर में सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार के निर्णय को सही ठहराते हुए अपना फ़ैसला सुनाया। राजनीतिक दलों में इस फ़ैसले के क्रियान्वयन के तरीके को लेकर कुछ मतभेद था। बहरहाल अन्य पिछड़ा वर्ग को आरक्षण देने के मसले पर देश के सभी बड़े राजनीतिक दलों में सहमति थी।

राजनीतिक परिणाम

1980 के दशक में दलित जातियों के राजनीतिक संगठनों का भी उभार हुआ। 1978 में 'बामसेफ' (बैकवर्ड एंड माइनॉरिटी कम्युनिटीज़ एम्पलाइज़ फेडरेशन) का गठन हुआ। यह सरकारी कर्मचारियों का कोई साधारण-सा ट्रेड यूनियन नहीं था। इस संगठन ने 'बहुजन' यानी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग और अल्पसंख्यकों की राजनीतिक सत्ता की ज़बरदस्त तरफ़दारी की। इसी का परवर्ती विकास 'दलित-शोषित समाज संघर्ष समिति' है, जिससे बाद के समय में बहुजन समाज पार्टी का उदय हुआ। इस पार्टी की अगुआई कांशीराम ने की। बहुजन समाज पार्टी (बसपा) अपने शुरुआती दौर में एक छोटी पार्टी थी और इसे पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के दलित मतदाताओं का समर्थन हासिल था, लेकिन 1989 और 1991 के चुनावों में इस पार्टी को उत्तर प्रदेश में सफलता मिली। आज़ाद भारत में यह पहला मौका था, जब कोई राजनीतिक दल मुख्यतया दलित मतदाताओं के समर्थन के बूते ऐसी राजनीतिक सफलता हासिल कर पाया था।

दरअसल कांशीराम के नेतृत्व में बसपा ने अपने संगठन की बुनियाद व्यवहार केंद्रित नीतियों पर रखी थी। बहुजन (यानी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग और धार्मिक अल्पसंख्यक) देश की आबादी में सबसे ज़्यादा हैं और संख्या के लिहाज़ से एक मजबूत राजनीतिक ताकत का रूप ले सकते हैं–बसपा के आत्मविश्वास को इस तथ्य से बड़ा बल मिला था। इसके बाद बसपा राज्य में एक बड़ी राजनीतिक ताकत के रूप में उभरी और उसने एक से ज़्यादा दफे यहाँ सरकार बनायी। इस पार्टी का सबसे ज़्यादा समर्थन दलित मतदाता करते हैं, लेकिन अब इसने समाज के विभिन्न वर्गों के बीच अपना जनाधार बढ़ाना शुरू किया है। भारत के कई हिस्सों में दलित राजनीति और अन्य पिछड़ा वर्ग की राजनीति ने स्वतंत्र रूप धारण किया है और इन दोनों के बीच अकसर प्रतिस्पर्धा भी चलती है।

कांशीराम (1934-2006): बहुजन समाज के सशक्तीकरण के प्रतिपादक और बहुजन समाज पार्टी (बसपा) के संस्थापक; सामाजिक और राजनीतिक कार्य के लिए केंद्र सरकार की नौकरी से इस्तीफ़ा; बामसेफ; डीएस-4 और अंततः 1984 में बसपा की स्थापना; कुशाग्र रणनीतिकार; आप राजनीतिक सत्ता को सामाजिक समानता का आधार मानते थे; उत्तर भारत के राज्यों में दलित राजनीति के संगठनकर्ता

© NCERT not to be republished

सांप्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र

इस दौर में आया एक दूरगामी बदलाव धार्मिक पहचान पर आधारित राजनीति का उदय है। इसने धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के बारे में बहसों को सरगर्म किया। हमने छठे अध्याय में पढ़ा था कि आपातकाल के बाद भारतीय जनसंघ, जनता पार्टी में शामिल हो गया था। जनता पार्टी के पतन और बिखराव के बाद भूतपूर्व जनसंघ के समर्थकों ने 1980 में भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) बनाई। शुरू-शुरू में भाजपा ने जनसंघ की अपेक्षा कहीं ज़्यादा बड़ा राजनीतिक मंच अपनाया। इसने 'गाँधीवादी समाजवाद' को अपनी विचारधारा के रूप में स्वीकार किया। बहरहाल भाजपा को 1980 और 1984 के चुनावों में खास सफलता नहीं मिली। 1986 के बाद इस पार्टी ने अपनी विचारधारा में हिंदू राष्ट्रवाद के तत्त्वों पर ज़ोर देना शुरू किया। भाजपा ने 'हिंदुत्व' की राजनीति का रास्ता चुना और हिंदुओं को लामबंद करने की रणनीति अपनायी।

'हिंदुत्व' अथवा 'हिंदूपन' शब्द को वी.डी. सावरकर ने गढ़ा था और इसको परिभाषित करते हुए उन्होंने इसे भारतीय (और उनके शब्दों में हिंदू) राष्ट्र की बुनियाद बताया। उनके कहने का आशय यह था कि भारत राष्ट्र का नागरिक वही हो सकता है, जो भारतभूमि को न सिर्फ़ 'पितृभूमि' बल्कि अपनी 'पुण्यभूमि' भी स्वीकार करे। हिंदुत्व के समर्थकों का तर्क है कि मज़बूत राष्ट्र सिर्फ़ एकीकृत राष्ट्रीय संस्कृति की बुनियाद पर ही बनाया जा सकता है। वे यह भी मानते हैं कि भारत के संदर्भ में राष्ट्रीयता की बुनियाद केवल हिंदू संस्कृति ही हो सकती है।

1986 में ऐसी दो बातें हुईं, जो एक हिंदूवादी पार्टी के रूप में भाजपा की राजनीति के लिहाज़ से प्रधान हो गईं। इसमें पहली बात 1985 के शाहबानो मामले से जुड़ी है। यह मामला एक 62 वर्षीया तलाकशुदा मुस्लिम महिला शाहबानो का था। उसने अपने भूतपूर्व पति से गुजारा भत्ता हासिल करने के लिए अदालत में अर्ज़ी दायर की थी। सर्वोच्च अदालत ने शाहबानो के पक्ष में फ़ैसला सुनाया। पुरातनपंथी मुसलमानों ने अदालत के इस फ़ैसले को अपने 'पर्सनल लॉ' में हस्तक्षेप माना। कुछ मुस्लिम नेताओं की माँग पर सरकार ने मुस्लिम महिला अधिनियम (1986) (तलाक से जुड़े अधिकारों) पास किया। इस अधिनियम के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के फ़ैसले को निरस्त कर दिया गया। सरकार के इस कदम का कई महिला संगठनों, मुस्लिम महिलाओं की जमात तथा अधिकांश बुद्धिजीवियों ने विरोध किया। भाजपा ने कांग्रेस सरकार के इस कदम की आलोचना की और इसे अल्पसंख्यक समुदाय को दी गई अनावश्यक रियायत तथा 'तुष्टिकरण' करार दिया।

अयोध्या विवाद

दूसरी बात का संबंध फैज़ाबाद ज़िला न्यायालय द्वारा फरवरी 1986 में सुनाए गए फ़ैसले से है। इस अदालत ने फ़ैसला सुनाया था कि बाबरी मस्ज़िद के अहाते का ताला खोल दिया जाना चाहिए, ताकि हिंदू यहाँ पूजा पाठ कर सकें, क्योंकि वे इस जगह को पवित्र मानते हैं। अयोध्या स्थित बाबरी मस्जिद को लेकर दशकों से विवाद चला आ रहा था। बाबरी मस्ज़िद का निर्माण अयोध्या में मीर बाकी ने करवाया था। यह मस्ज़िद 16वीं सदी में बनी थी। मीर बाकी मुगल शासक बाबर का सिपहसलार था। कुछ हिंदू मानते हैं कि भगवान राम की जन्मभूमि पर बने हुए एक राम मंदिर को तोड़कर उसी जगह पर यह मस्जिद बनवाई गई थी। इस विवाद ने

अदालती मुकदमे का रूप ले लिया और मुकदमा कई दशकों तक जारी रहा। 1940 के दशक के आखिरी सालों में मस्जिद में ताला लगा दिया गया, क्योंकि मामला अदालत के हवाले था।

जैसे ही बाबरी मस्ज़िद के अहाते का ताला खुला, वैसे ही दोनों पक्षों में लामबंदी होने लगी। अनेक हिंदू और मुस्लिम संगठन इस मसले पर अपने-अपने समुदाय को लामबंद करने की कोशिश में जुट गए। भाजपा ने इसे अपना बहुत बड़ा चुनावी और राजनीतिक मुद्दा बनाया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और विश्व हिंदू परिषद् जैसे कुछ संगठनों के साथ भाजपा ने लगातार प्रतीकात्मक और लामबंदी के कार्यक्रम चलाए। उसने जनसमर्थन जुटाने के लिए गुजरात स्थित सोमनाथ से उत्तर प्रदेश स्थित अयोध्या तक एक बड़ी 'रथयात्रा' निकाली।

विध्वंस और उसके बाद

जो संगठन राम मंदिर के निर्माण का समर्थन कर रहे थे, उन्होंने 1992 के दिसंबर में एक 'कारसेवा' का आयोजन किया। इसके अंतर्गत 'रामभक्तों' से आह्वान किया गया कि वे 'राम मंदिर' के निर्माण में श्रमदान करें। पूरे देश में माहौल तनावपूर्ण हो गया। अयोध्या में यह तनाव अपने चरम पर था। सर्वोच्च न्यायालय ने राज्य सरकार को आदेश दिया कि वह 'विवादित स्थल' की सुरक्षा का पूरा इंतज़ाम करे। बहरहाल 6 दिसंबर 1992 को देश के विभिन्न भागों से लोग आ जुटे और इन लोगों ने मस्जिद को गिरा दिया। मस्ज़िद के विध्वंस की खबर से देश के कई भागों में हिंदू और मुसलमानों के बीच झड़प हुई। 1993 के जनवरी में एक बार फिर मुंबई में हिंसा भड़की और अगले दो हफ़्तों तक जारी रही।

THE HINDUSTAN TIMES

Babri Masjid demolished, Centre sacks Kalyan Govt

बाबरी मस्जिद पूर्णत: ध्वस्त

मुख्यमंत्री बर्खास्त, उ.प्र. विधानसभा भंग, राष्ट्रपति शासन लागू

© NCERT not to be republished

Ayodhya BJP's worst miscalculation: Vajpayee

Had warned Advani, but no place for moderates, lam

Demolition no cause for remorse: Advani

Special Correspondent

New Delhi

Violent reaction world over

साभार: द पायनियर एवं द स्टेटसमैन

अयोध्या की घटना से कई बदलाव आए। उत्तर प्रदेश में सत्तासीन भाजपा की राज्य सरकार को केंद्र ने बर्खास्त कर दिया। इसके साथ ही दूसरे राज्यों में भी, जहाँ भाजपा की सरकार थी, राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। चूँकि उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री ने इस बात का हलफ़नामा दिया था कि 'विवादित ढाँचे' की रक्षा की जाएगी। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय में उनके खिलाफ़ अदालत की अवमानना का मुकदमा दायर हुआ। भाजपा ने आधिकारिक तौर पर अयोध्या की घटना पर अफ़सोस जताया। केंद्र सरकार ने एक जाँच आयोग नियुक्त किया और उसे उन स्थितियों की जाँच करने के लिए कहा, जिनकी परिणति मस्जिद के विध्वंस के रूप में हुई थी। अधिकतर राजनीतिक दलों ने मस्जिद के विध्वंस की निंदा की और इसे धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांतों के विरुद्ध बताया। ऐसे में धर्मनिरपेक्षता पर गंभीर बहस चल पड़ी और हमारे सामने कुछ-कुछ वैसे ही सवाल आन खड़े हुए जैसे देश के बँटवारे के तुरंत बाद उभरे थे। बँटवारे के समय देश के सामने सवाल था: क्या भारत एक ऐसा देश बनने जा रहा है, जहाँ बहुसंख्यक धार्मिक समुदाय का अल्पसंख्यकों पर दबदबा कायम होगा या व्यक्ति चाहे किसी भी धर्म का हो भारत में उसे समान रूप से कानून की सुरक्षा तथा बराबरी के नागरिक अधिकार दिए जाएँगे? बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद भी देश में यही सवाल एक बार फिर-से मुखर हो उठे।

इन कार्यवाहियों से उन विनाशकारी घटनाओं की अनुगूँज सुनाई देती है, जिनकी परिणति 6 दिसंबर 1992 के दिन अयोध्या स्थित रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद के विवादित ढाँचे के ध्वंस में हुई थी। हज़ारों निर्दोष नागरिकों ने जान गँवायी, धन-संपत्ति का भारी नुकसान हुआ और इससे भी भारी क्षति तो यह हुई कि इस महान भूमि की छवि को अंतर्राष्ट्रीय फ़लक पर धक्का पहुँचा कि यहाँ विभिन्न समुदायों के बीच सहिष्णुता, विश्वास और भाईचारे की महान परंपरा का पालन-संरक्षण किया जाता रहा है।

यह दुख की बात है कि एक राजनीतिक दल के नेता और मुख्यमंत्री को अदालत की अवमानना के अभियोग का सामना करना पड़ रहा है, लेकिन ऐसा कानून की महिमा को बनाए रखने के लिए किया गया है। हम उसे अदालत की अवमानना का दोषी करार देते हैं। चूँकि इस 'अवमानना' से ऐसे बड़े मुद्दे जुड़े हैं, जिनका असर हमारे राष्ट्र के धर्मनिरपेक्ष ताने-बाने की बुनियाद पर पड़ता है, इसलिए हम उसे एक दिन के प्रतीकात्मक कारावास का दंड भी देते हैं।

मुख्य न्यायाधीश वेंकटचेलैया और न्यायमूर्ति जी.एन. रे (सर्वोच्च न्यायालय)

उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री ने राष्ट्रीय एकता परिषद् के सामने वायदा किया था कि 'रामजन्म भूमि-बाबरी मस्ज़िद' ढाँचे की रक्षा की जाएगी। इस वायदा खिलाफ़ी से जुड़े एक मुक़दमे में सर्वोच्च न्यायालय का फ़ैसला।
मो. असलम बनाम भारत संघ, 28 अक्तूबर 1994

इसी अवधि में चुनावी उद्देश्य के लिए धार्मिक भावनाओं के इस्तेमाल पर भी बहस छिड़ी। भारत की लोकतांत्रिक राजनीति इस वायदे पर आधारित है कि सभी धार्मिक समुदाय किसी भी पार्टी में शामिल होने के लिए स्वतंत्र हैं, लेकिन कोई भी राजनीतिक दल धार्मिक समुदाय पर आधारित दल नहीं होगा। सांप्रदायिक सौहार्द के इस लोकतांत्रिक माहौल को 1984 के बाद से कई दफा चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। हम आठवें अध्याय में पढ़ चुके हैं कि ऐसा 1984 के सिख-विरोधी दंगों में हुआ। ठीक इसी तरह 2002 के फरवरी-मार्च में गुजरात के मुसलमानों के विरुद्ध हिंसा भड़की। अल्पसंख्यक समुदाय के खिलाफ़ ऐसी हिंसा और दो समुदायों के बीच हिंसक टकराव लोकतंत्र के ऊपर खतरा है।

गुजरात के दंगे

2002 के फरवरी-मार्च में गुजरात में बड़े पैमाने पर हिंसा हुई। गोधरा स्टेशन पर घटी एक घटना इस हिंसा का तात्कालिक उकसावा साबित हुई। अयोध्या की ओर से आ रही एक ट्रेन की बोगी कारसेवकों से भरी हुई थी और इसमें आग लग गई। सत्तावन व्यक्ति इस आग में मर गए। यह संदेह करके कि बोगी में आग मुसलमानों ने लगायी होगी। अगले दिन गुजरात के कई भागों में मुसलमानों

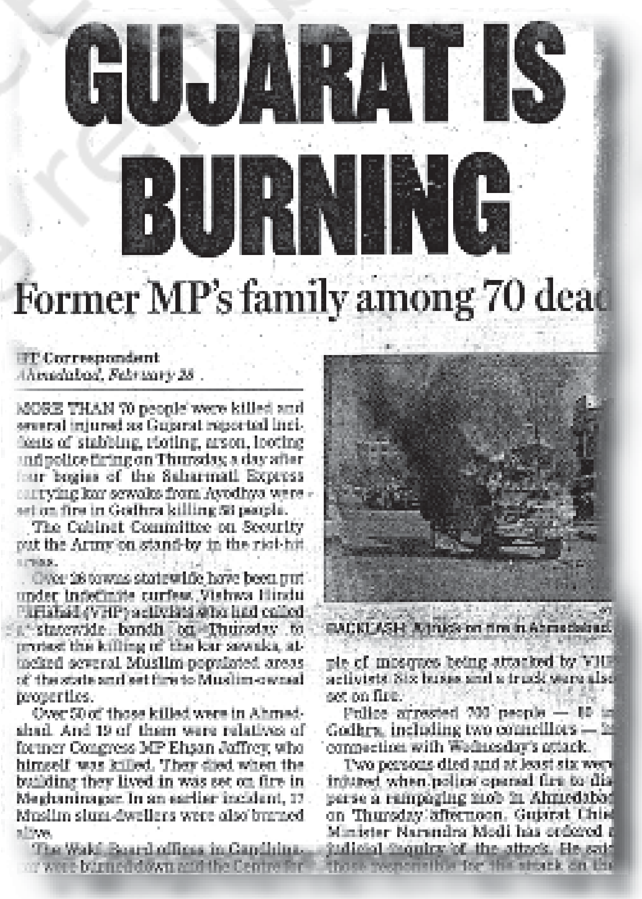

GUJARAT IS BURNING

Former MP's family among 70 dead

HT Correspondent
Ahmedabad, February 28

MORE THAN 70 people were killed and several injured as Gujarat reported incidents of stabbing, rioting, arson, looting and police firing on Thursday, a day after four bogies of the Sabarmati Express carrying kar sewaks from Ayodhya were set on fire in Godhra killing 58 people.

The Cabinet Committee on Security put the Army on stand-by in the riot-hit areas.

Over 26 towns statewide have been put under indefinite curfew. Vishwa Hindu Parishad (VHP) activists who had called a statewide bandh on Thursday to protest the killing of the kar sewaks, attacked several Muslim populated areas of the state and set fire to Muslim-owned properties.

Over 50 of those killed were in Ahmedabad. And 19 of them were relatives of former Congress MP Ehsan Jaffrey, who himself was killed. They died when the building they lived in was set on fire in Meghaninagar. In an earlier incident, 17 Muslim slum-dwellers were also burned alive.

The Wakf Board offices in Gandhinagar were burned down and the Centre for ...

BACKLASH: ... on fire in Ahmedabad.

... ple of mosques being attacked by VHP activists. Six buses and a truck were also set on fire.

Police arrested 700 people — ... in Godhra, including two councillors — ... connection with Wednesday's attack.

Two persons died and at least six were injured when police opened fire to disperse a rampaging mob in Ahmedabad on Thursday afternoon. Gujarat Chief Minister Narendra Modi has ordered a judicial enquiry of the attack. He said those responsible for the attack on the ...

27 फरवरी, 1947 को संविधान सभा से संबंधित मौलिक अधिकार, अल्पसंख्यक तथा आदिवासी एवं अन्य मामलों की सलाहकार समिति की पहली ही बैठक में पटेल ने ज़ोर देकर कहा था:

"यह हमारे ऊपर है कि हम इसे एक खोखला दावा, एक झूठा दावा साबित करें और जता दें कि अपने अल्पसंख्यकों की रक्षा की चिंता हमसे ज़्यादा कोई नहीं कर सकता है। हमारा ध्येय उनमें से हर एक को संतुष्ट करना है। आइए, हम साबित करें कि हम अपने ऊपर शासन कर सकते हैं और किसी दूसरे पर शासन करने की हमारी महत्त्वाकांक्षा नहीं है।"

गुजरात की घटनाओं से देश मर्माहत है। इन घटनाओं की शुरुआत गोधरा-कांड से हुई और फिर लगातार दो महीने से भी ज़्यादा हिंसा का तांडव मचा, जिससे पूरा राज्य दहल उठा। इसमें कोई शक नहीं है कि आयोग की राय में राज्य सरकार लोगों के जीवन, स्वतंत्रता, समता और गरिमा के हनन को रोकने में बुरी तरह नाकाम रही। घावों को भरना और शांति-सौहार्द से भरे भविष्य की राह तलाशना ज़रूरी है, लेकिन इन उच्च आदर्शों को पाने की कोशिश न्याय तथा देश के संविधान के मूल्यों और कानून की बुनियाद पर की जानी चाहिए।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग
वार्षिक रिपोर्ट 2001-2002

The Indian EXPRESS

THE FIRE AND THE FUEL | CM IS COOL | AT GROUND ZERO | DOUSING THE FLAMES

An eye for an eye blinds Gandhinagar

Sangh lends a hand to save VHP's face: a glimmer of hope

'HOW CAN I FACE THE WORLD?'

Gujarat incidents a blot: PM

No let-up in Gujarat carnage

के खिलाफ़ बड़े पैमाने पर हिंसा हुई। हिंसा का यह तांडव लगभग एक महीने तक जारी रहा। लगभग 1100 व्यक्ति, जिनमें ज़्यादातर मुसलमान थे, इस हिंसा में मारे गए। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने हिंसा को रोकने, भुक्तभोगियों को राहत देने तथा हिंसा करने वालों पर कानूनी कार्रवाई करने में असफल रहने के आरोप लगाते हुए गुजरात सरकार की आलोचना की। भारत के चुनाव आयोग ने गुजरात विधानसभा के चुनावों को रोकने का फ़ैसला किया। 1984 के सिख-विरोधी दंगों के समान गुजरात के दंगों से भी यह ज़ाहिर हुआ कि सरकारी मशीनरी सांप्रदायिक भावनाओं के आवेग में आ सकती है। गुजरात में घटी ये घटनाएँ हमें आगाह करती हैं कि राजनीतिक उद्देश्यों के लिए धार्मिक भावनाओं को भड़काना ख़तरनाक हो सकता है। इससे हमारी लोकतांत्रिक राजनीति को ख़तरा पैदा हो सकता है।

> *मुख्यमंत्री (गुजरात के) को मेरा संदेश है कि वे राजधर्म का पालन करें। शासक को अपनी प्रजा के बीच जाति, मत या धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए।*
>
> **प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी**
>
> 4 अप्रैल, 2002

एक नयी सहमति का उदय

1989 के बाद की अवधि को कभी-कभार कांग्रेस के पतन और भाजपा के अभ्युदय की भी अवधि कहा जाता है। यदि आप इस दौर की राजनीति के जटिल चरित्र को समझना चाहते हैं, तो आपको कांग्रेस और भाजपा की चुनावी हार-जीत की तुलना करनी पड़ेगी।

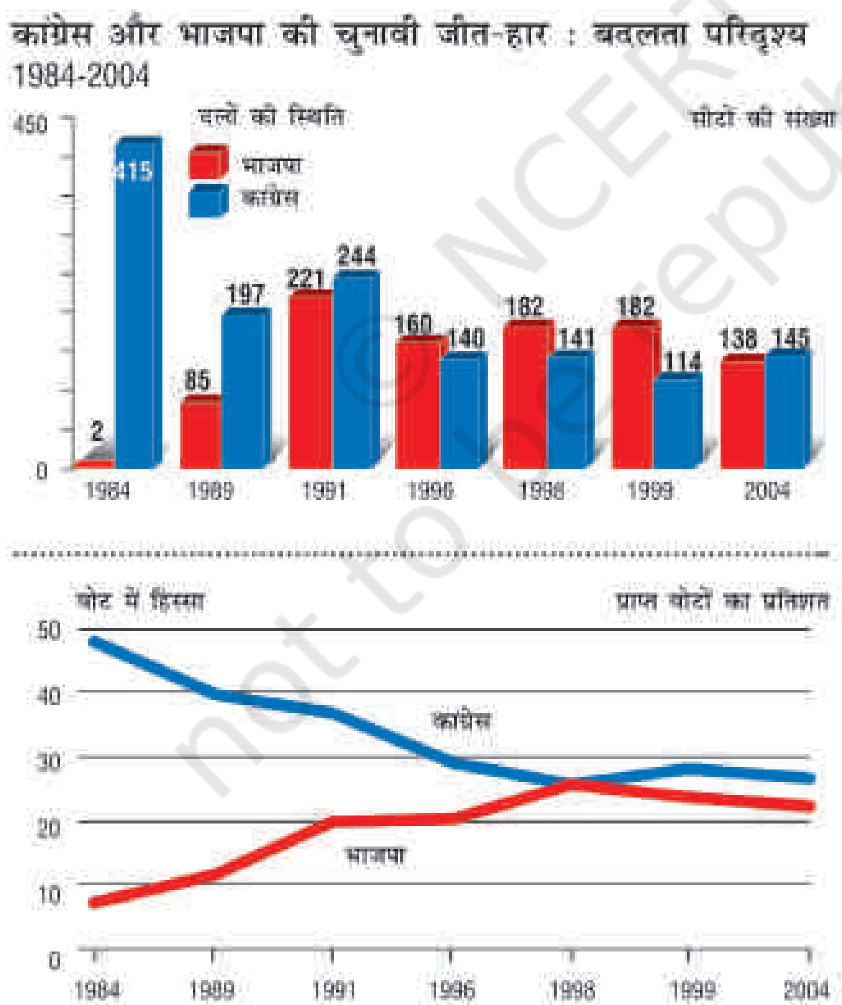

आइए, ऊपर दी गई तालिका की सूचनाओं के अर्थ खोजने की कोशिश करें।

© NCERT not to be republished

- गौर कीजिए कि इस अवधि में भाजपा और कांग्रेस कठिन प्रतिस्पर्धा में लगे हुए थे। 1984 के चुनावों से तुलना करने पर आप इन पार्टियों की चुनावी सफलता में क्या अंतर पाते हैं?
- आप देखेंगे कि कांग्रेस और भाजपा दोनों को मिले वोटों को जोड़ दें, तब भी 1989 के बाद से उन्हें इतने वोट नहीं मिले कि वे कुल मतों के 50 फीसदी से ज़्यादा हों। ठीक इसी तरह इन दोनों दलों को जितनी सीटें मिलीं, उन्हें जोड़ें। आप देखेंगे कि ये सीटें लोकसभा की कुल सीटों के 50 फीसदी से अधिक नहीं है। तो बाकी वोट और सीट कहाँ गए?
- आइए, दूसरे अध्याय की बातों को याद करें। आपने इस अध्याय में दो-पार्टी तंत्रों के बारे में पढ़ा था। आइए, इस किताब के आख़िरी पन्नों पर नज़र डालते हैं। यहाँ कांग्रेस और जनता पार्टी-तंत्र के आरेख पर ग़ौर कीजिए। मौजूदा दलों में ऐसे कौन-कौन-से दल हैं, जो न तो दलों के कांग्रेस परिवार में थे और न ही जनता पार्टी परिवार में? नब्बे के दशक में राजनीतिक मुकाबला भाजपा-नीत गठबंधन और कांग्रेस-नीत गठबंधन के बीच चला। क्या आप ऐसी पार्टियों की सूची बना सकते हैं, जो दोनों में से किसी गठबंधन में शामिल नहीं हैं?

2004 के लोकसभा चुनाव

2004 के चुनावों में कांग्रेस भी पूरे ज़ोर के साथ गठबंधन में शामिल हुई। राजग की हार हुई और संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) की सरकार बनी। इस गठबंधन का नेतृत्व कांग्रेस ने किया। संप्रग को वाम मोर्चा ने समर्थन दिया। 2004 के चुनावों में एक हद तक कांग्रेस का पुनरुत्थान भी हुआ। 1991 के बाद इस दफा पार्टी की सीटों की संख्या एक बार फिर बढ़ी। बहरहाल, 2004 के चुनावों में राजग और संप्रग को मिले कुल वोटों का अंतर बड़ा कम था। इस तरह दलीय प्रणाली सत्तर के दशक की तुलना में एकदम ही बदल गई है।

1990 के दशक के बाद से हमारे सामने जो राजनीतिक प्रक्रिया आकार ले रही है, उसमें हम मुख्य रूप से चार तरह की पार्टियों के उभार को पढ़ सकते हैं : कांग्रेस के साथ गठबंधन में शामिल दल; भाजपा के साथ गठबंधन में शामिल दल; वाम मोर्चा के दल और कुछ ऐसे दल जो इन तीनों में से किसी में शामिल नहीं हैं। इस स्थिति से संकेत मिलते हैं कि राजनीतिक मुकाबला बहुकोणीय होगा। इन स्थितियों का एक तकाजा राजनीतिक विचारधाराओं में हेर-फेर भी है।

बढ़ती सहमति

बहरहाल, अनेक महत्त्वपूर्ण मसलों पर अधिकतर दलों के बीच एक व्यापक सहमति है। कड़े मुकाबले और बहुत-से संघर्षों के बावजूद अधिकतर दलों के बीच एक सहमति उभरती सी जान पड़ रही है। इस सहमति में चार बातें हैं।

पहला, नयी आर्थिक नीति पर सहमति : कई समूह नयी आर्थिक नीति के खिलाफ़ हैं, लेकिन ज़्यादातर राजनीतिक दल इन नीतियों के पक्ष में हैं। अधिकतर दलों का मानना है कि नई आर्थिक नीतियों से देश समृद्ध होगा और भारत, विश्व की एक आर्थिक शक्ति बनेगा।

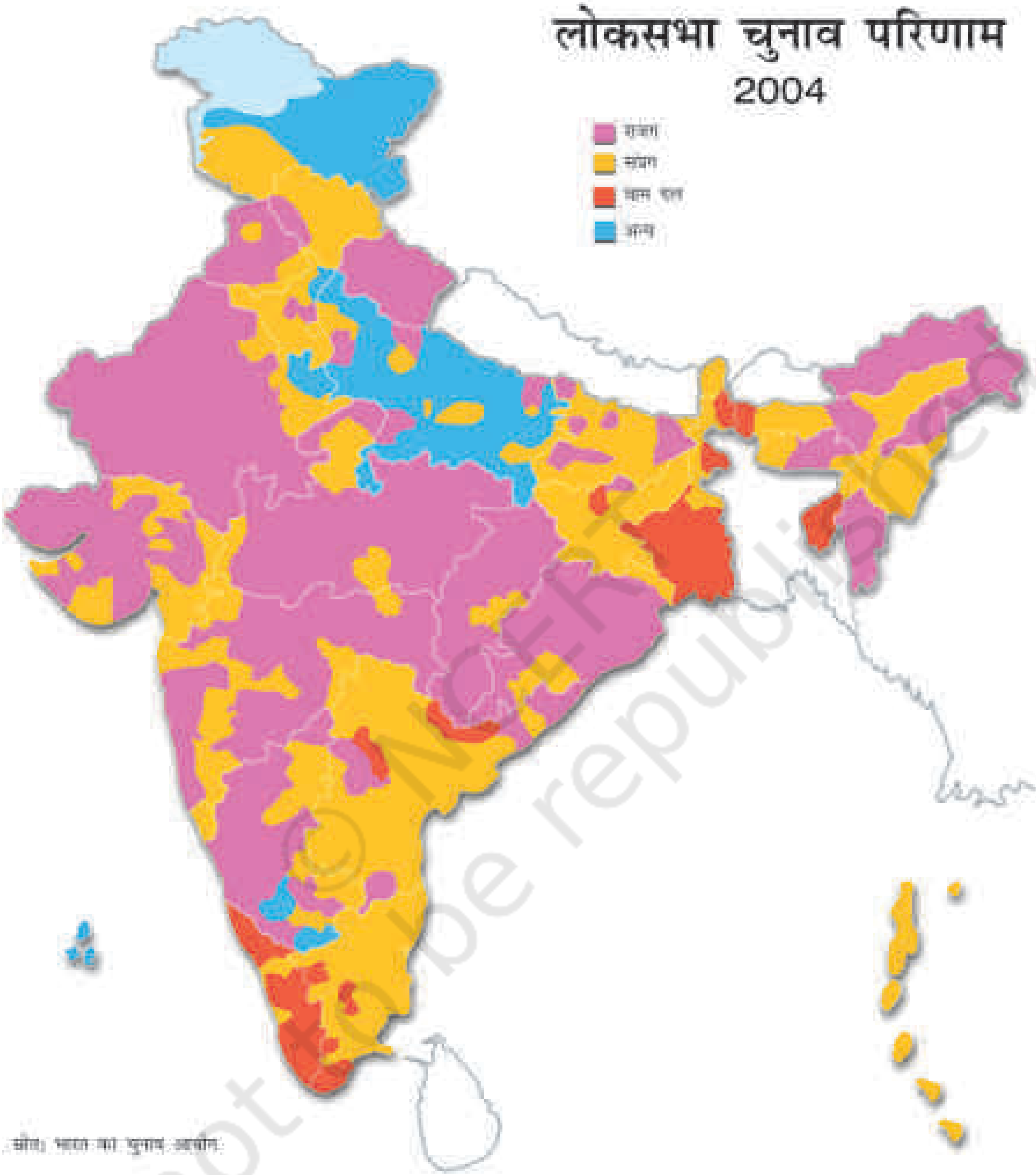

स्रोत: भारत का चुनाव आयोग

दूसरा, पिछड़ी जातियों के राजनीतिक और सामाजिक दावे की स्वीकृति : राजनीतिक दलों ने पहचान लिया है कि पिछड़ी जातियों के सामाजिक और राजनीतिक दावे को स्वीकार करने की ज़रूरत है। इस कारण आज सभी राजनीतिक दल शिक्षा और रोज़गार में पिछड़ी जातियों के लिए सीटों के आरक्षण के पक्ष में हैं। राजनीतिक दल यह भी सुनिश्चित करने के लिए तैयार हैं कि 'अन्य पिछड़ा वर्ग' को सत्ता में समुचित हिस्सेदारी मिले।

नोटः यह नक्शा किसी पैमाने के हिसाब से बनाया गया भारत का मानचित्र नहीं है। इसमें दिखाई गई भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को प्रामाणिक सीमा रेखा न माना जाए।

तीसरा, देश के शासन में प्रांतीय दलों की भूमिका की स्वीकृति : प्रांतीय दल और राष्ट्रीय दल का भेद अब लगातार कम होता जा रहा है। हमने इस अध्याय में देखा कि प्रांतीय दल केंद्रीय सरकार में साझीदार बन रहे हैं और इन दलों ने पिछले बीस सालों में देश की राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

चौथा, विचारधारा की जगह कार्यसिद्धि पर ज़ोर और विचारधारागत सहमति के बगैर राजनीतिक गठजोड़ : गठबंधन की राजनीति के इस दौर में राजनीतिक दल विचारधारागत अंतर की जगह सत्ता में हिस्सेदारी की बातों पर ज़ोर दे रहे हैं, जो मिसाल के लिए अधिकतर दल भाजपा की 'हिंदुत्व' की विचारधारा से सहमत नहीं हैं, लेकिन ये दल भाजपा के साथ गठबंधन में शामिल हुए और सरकार बनाई, जो पाँच साल तक चली।

ये सभी महत्त्वपूर्ण बदलाव हैं और आगामी राजनीति इन्हीं बदलावों के दायरे में आकार लेगी। भारत की राजनीति के इस अध्ययन की शुरुआत में हमने चर्चा की थी कि कांग्रेस किस तरह एक प्रभावशाली पार्टी बनकर उभरी। इस स्थिति से चलकर अब हम एक ऐसे पड़ाव पर पहुँचे हैं, जहाँ राजनीतिक प्रतिस्पर्धा कहीं ज़्यादा तेज़ है लेकिन इस प्रतिस्पर्धी राजनीति के बीच मुख्य राजनीतिक दलों में कुछेक मसलों पर सहमति है। अगर राजनीतिक दल इस सहमति के दायरे में सक्रिय हैं, तो जन आंदोलन और संगठन विकास के नए रूप, स्वप्न और तरीकों की पहचान कर रहे हैं। गरीबी, विस्थापन, न्यूनतम मज़दूरी, आजीविका और सामाजिक सुरक्षा के मसले जन आंदोलनों के ज़रिए राजनीतिक एजेंडे के रूप में सामने आ रहे हैं। ये आंदोलन राज्य को उसकी ज़िम्मेदारियों के प्रति सचेत कर रहे हैं। इसी तरह लोग जाति, लिंग, वर्ग और क्षेत्र के संदर्भ में न्याय तथा लोकतंत्र के मुद्दे उठा रहे हैं। हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि भारत में लोकतांत्रिक राजनीति जारी रहेगी और यह राजनीति इस अध्याय में वर्णित कुछ चीज़ों के मंथन के बीच आकार ग्रहण करेगी।

साभार: रविशंकर / इंडिया टुडे

16वीं लोकसभा में विभिन्न दलों की स्थिति

(27 दिसंबर 2018 की स्थिति)

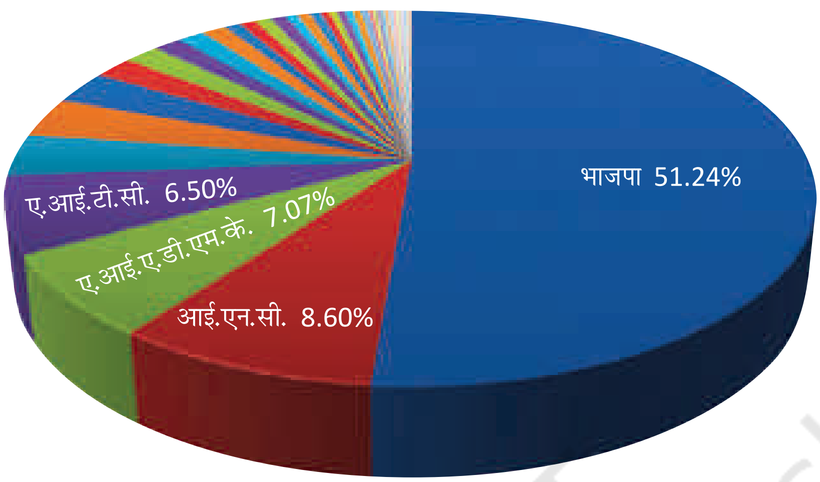

भारतीय जनता पार्टी	268	राष्ट्रीय लोक समता पार्टी	3
इंडियन नेशनल काँग्रेस	45	अपना दल	2
ऑल इंडिया अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम	37	इंडियन नेशनल लोक दल	2
ऑल इंडिया तृणमूल काँग्रेस	34	इंडियन यूनियन मुस्लिम लीग	2
बीजू जनता दल	19	जनता दल (सेक्यूलर)	2
शिवसेना	18	जनता दल (यूनाइटेड)	2
तेलुगु देशम	15	झारखण्ड मुक्ति मोर्चा	2
तेलंगाना राष्ट्र समिति	10	ऑल इंडिया मजलिस-ए-इत्तेहादुल मुस्लिमीन	1
कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सिस्ट)	9	ऑल इंडिया एन.आर. काँग्रेस	1
नेशनलिस्ट काँग्रेस पार्टी	7	कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया	1
समाजवादी पार्टी	7	जम्मू एण्ड कश्मीर नेशनल कांफ्रेंस	1
लोक जन शक्ति पार्टी	6	जम्मू एण्ड कश्मीर पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी	1
आम आदमी पार्टी	4	नेशनलिस्ट डेमोक्रेटिक प्रोग्रेसिव पार्टी	1
राष्ट्रीय जनता दल	4	पट्टालि मक्कल कॉची	1
शिरोमणि अकाली दल	4	राष्ट्रीय लोक दल	1
युवजन श्रमिक रायथु काँग्रेस पार्टी	4	रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी	1
ऑल इंडिया यूनाईटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट	3	सिक्किम डेमोक्रेटिक फ्रंट	1
निर्दलीय	3	स्वाभिमानी पक्ष	1

स्रोत : http://loksabha.nic.in

© NCERT not to be republished

प्रश्नावली

1. उन्नी-मुन्नी ने अखबार की कुछ कतरनों को बिखेर दिया है। आप इन्हें कालक्रम के अनुसार व्यवस्थित करें:

(क) मंडल आयोग की सिफारिश और आरक्षण विरोधी हंगामा
(ख) जनता दल का गठन
(ग) बाबरी मस्जिद का विध्वंस
(घ) इंदिरा गाँधी की हत्या
(ङ) राजग सरकार का गठन
(च) संप्रग सरकार का गठन
(छ) गोधरा की दुर्घटना और उसके परिणाम

2. निम्नलिखित में मेल करें:

(क) सर्वानुमति की राजनीति	(i) शाहबानो मामला
(ख) जाति आधारित दल	(ii) अन्य पिछड़ा वर्ग का उभार
(ग) पर्सनल लॉ और लैंगिक न्याय	(iii) गठबंधन सरकार
(घ) क्षेत्रीय पार्टियों की बढ़ती ताकत	(iv) आर्थिक नीतियों पर सहमति

3. 1989 के बाद की अवधि में भारतीय राजनीति के मुख्य मुद्दे क्या रहे हैं? इन मुद्दों से राजनीतिक दलों के आपसी जुड़ाव के क्या रूप सामने आए हैं?

4. ''गठबंधन की राजनीति के इस नए दौर में राजनीतिक दल विचारधारा को आधार मानकर गठजोड़ नहीं करते हैं।'' इस कथन के पक्ष या विपक्ष में आप कौन-से तर्क देंगे।

5. आपातकाल के बाद के दौर में भाजपा एक महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरी। इस दौर में इस पार्टी के विकास-क्रम का उल्लेख करें।

6. कांग्रेस के प्रभुत्व का दौर समाप्त हो गया है। इसके बावजूद देश की राजनीति पर कांग्रेस का असर लगातार कायम है। क्या आप इस बात से सहमत हैं? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए।

7. अनेक लोग सोचते हैं कि सफल लोकतंत्र के लिए दो-दलीय व्यवस्था ज़रूरी है। पिछले तीस सालों के भारतीय अनुभवों को आधार बनाकर एक लेख लिखिए और इसमें बताइए कि भारत की मौजूदा बहुदलीय व्यवस्था के क्या फ़ायदे हैं।

8. निम्नलिखित अवतरण को पढ़ें और इसके आधार पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर दें:
भारत की दलगत राजनीति ने कई चुनौतियों का सामना किया है। कांग्रेस-प्रणाली ने अपना खात्मा ही नहीं किया, बल्कि कांग्रेस के जमावड़े के बिखर जाने से आत्म-प्रतिनिधित्व की नयी प्रवृत्ति का भी ज़ोर बढ़ा। इससे दलगत व्यवस्था और

© NCERT not to be republished

विभिन्न हितों की समाई करने की इसकी क्षमता पर भी सवाल उठे। राजव्यवस्था के सामने एक महत्त्वूपर्ण काम एक ऐसी दलगत व्यवस्था खड़ी करने अथवा राजनीतिक दलों को गढ़ने की है, जो कारगर तरीके से विभिन्न हितों को मुखर और एकजुट करें...

– जोया हसन

(क) इस अध्याय को पढ़ने के बाद क्या आप दलगत व्यवस्था की चुनौतियों की सूची बना सकते हैं?

(ख) विभिन्न हितों का समाहार और उनमें एकजुटता का होना क्यों ज़रूरी है।

(ग) इस अध्याय में आपने अयोध्या विवाद के बारे में पढ़ा। इस विवाद ने भारत के राजनीतिक दलों की समाहार की क्षमता के आगे क्या चुनौती पेश की?

खुद करें-खुद सीखें

- इस अध्याय में 2004 के चुनाव (14वीं लोकसभा) तक भारतीय राजनीति की प्रमुख घटनाओं को शामिल किया गया है। इसके बाद लोकसभा चुनाव 2009 में आयोजित किए गए, जिसके दौरान कांग्रेस के नेतृत्व में संप्रग की जीत हुई। 2014 के चुनाव में भाजपा के नेतृत्व वाली राजग विजेता बन कर उभरी। 16वीं लोकसभा में विभिन्न दलों की स्थिति पृष्ठ 193 पर दर्शाई गई है।
- 16वीं लोकसभा के सदस्यों का एक विस्तृत अध्ययन लोकसभा की वेबसाइट (http://loksabha.nic.in) पर उपलब्ध है।
- भारत निर्वाचन आयोग की वेबसाइट (http://eci.nic.in) से परिणामों के बारे में आँकड़े एकत्र करके 2009 के चुनाव (15वीं लोकसभा) और 2014 के चुनाव (16वीं लोकसभा) में विभिन्न राजनीतिक दलों के चुनावी प्रदर्शन की तुलना करें।
- 2004 के बाद से भारत में प्रमुख राजनीतिक घटनाओं का एक घटनाक्रम तैयार करें और अपनी कक्षा में उस पर चर्चा करें।

© NCERT not to be republished

केन्द्रीय सतर्कता आयोग
CENTRAL VIGILANCE COMMISSION

सत्यनिष्ठा प्रतिज्ञा
INTEGRITY PLEDGE

मेरा विश्वास है कि हमारे देश की आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक प्रगति में भ्रष्टाचार एक बड़ी बाधा है। मेरा विश्वास है कि भ्रष्टाचार का उन्मूलन करने के लिए सभी संबंधित पक्षों जैसे सरकार, नागरिकों तथा निजी क्षेत्र को एक साथ मिल कर कार्य करने की आवश्यकता है।

मेरा मानना है कि प्रत्येक नागरिक को सतर्क होना चाहिए तथा उसे सदैव ईमानदारी तथा सत्यनिष्ठा के उच्चतम मानकों के प्रति वचनबद्ध होना चाहिए तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष में साथ देना चाहिए।

अत:, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि :-

- जीवन के सभी क्षेत्रों में ईमानदारी तथा कानून के नियमों का पालन करूँगा ;
- ना तो रिश्वत लूँगा और ना ही रिश्वत दूँगा ;
- सभी कार्य ईमानदारी तथा पारदर्शी रीति से करूँगा ;
- जनहित में कार्य करूँगा ;
- अपने निजी आचरण में ईमानदारी दिखाकर उदाहरण प्रस्तुत करूँगा ;
- भ्रष्टाचार की किसी भी घटना की रिपोर्ट उचित एजेन्सी को दूँगा ।

केंद्रीय सतर्कता आयोग (सी.वी.सी.) के बारे में जानकारी के लिए लॉग ऑन करें,
www.cvc.nic.in

© NCERT not to be republished